निवेदन

यह संग्रह अजमेर के इंटरमीडियेट और हाईस्कूल बोर्ड की प्रेरणा से प्रस्तुत किया गया है। इसमें हिंदी के गण्यमान्य लेखकों के चुने हुए लेखों का संग्रह है। इन लेखों का क्रम विषय, भाव तथा भाषा की कठिनता को ध्यान में रखकर स्थिर किया गया है। विषय के विचार से यदि देखा जाय तो प्रायः उन सभी विषयों का समावेश किया गया है जो हाईस्कूल की उच्चतम कक्षा के विद्यार्थियों को रुचिकर हो सकते हैं तथा जिनसे उनके ज्ञान की वृद्धि हो सकती है। यदि इन लेखों में से चुन-चुनकर वाक्य अलग कर लिए जायँ तो उनसे निबंधों के लिखने का भी अभ्यास कराया जा सकता है। मुझे आशा है यह संग्रह उपयोगी सिद्ध होगा।

काशी,
२६-८-३६

श्यामसुंदरदास

हिंदी प्रवेशिका गद्यावली

विषय-सूची

4. Critical Essays.

5. Scientific Essays.

6. Historical, Descriptive etc.

हिंदी प्रवेशिका गद्यावली

(१) आल्हा-ऊदल

पृथ्वीराज के समय में वर्त्तमान बुंदेलखंड में चंदेलों का राज्य था। चंदेल-राजा कन्नौज-पति के अधीन और करद थे। उस समय वहाँ परमाल नामक राजा राज्य करता था। राजा में राज्य-कार्य के चलाने की योग्यता न थी, इस लिये आल्हा और ऊदल नामक दो सरदार वहाँ का राज्य-कार्य करते थे। वे दोनों सरदार सगे भाई थे और उनके पिता ने राज्य की रक्षा के लिए बड़ी वीरता से लड़कर अपने प्राण दिये थे। ऊदल बहुत अच्छा राजनीतिज्ञ था और उसने राज्य का सब कारबार सँभाल रक्खा था। आल्हा राज्य की सेना का नायक और बड़ा भारी योद्धा था। उसने कई बार राज्य को मुसलमानों के आक्रमणों से बचाया था और युद्ध करके अनेक देशों को जीत अपने राज्य का विस्तार बढ़ाया था।

एक बार पृथ्वीराज जब किसी युद्ध से लौट रहे थे, तब मार्ग में उनके कुछ घायल सैनिक रास्ता भूल गये और कुछ दिनों के बाद भटकते-भटकते चंदेलों की राजधानी महोबा नगर में पहुँचे। वहाँ उन लोगों ने राजा के एक बाग़ में डेरा डाला। किसी बात में बाग़ के मालियों और पृथ्वीराज के उन सैनिकों में कुछ झगड़ा हो गया। सैनिकों ने बिगड़कर मालियों को मार डाला।

मालियों के मारे जाने पर उनकी स्त्रियाँ रोती हुई राज-महल में पहुँचीं और परमाल की रानी से पृथ्वीराज के सैनिकों के आने और मालियों के मारे जाने का सब वृत्तांत्त कहके विलाप करने लगीं। रानी ने सब समाचार राजा से कहा और उसे उन सैनिकों को दंड देने के लिये उकसाया। तदनुसार राजा ने ऊदल को कुछ सेना लेकर जाने और उन सैनिकों को दंड देने की आज्ञा दी। ऊदल ने वहाँ पहुँचकर सबको घेर लिया और सैनिकों तथा उनके सरदार कनक चौहन को मार डाला। दिल्ली में पृथ्वीराज को जब अपने भूले हुए सैनिकों की इस दुर्दशा का हाल मालूम हुआ, तब वह बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने तुरंत महोबा पर चढ़ाई करने की आज्ञा दी।

परमाल के दरबार में मेहला और भूपति नामक दो और सरदार रहते थे। आल्हा और ऊदल से उन दोनों को वैमनस्य था, अतएव वे लोग सदा राजा से आल्हा और ऊदल की निंदा किया करते थे। परमाल राजा अविचारी और कानों का पतला था। उसको मनुष्यों की पहचान न थी, इस लिए वह सदा औरों के कहने पर ही चलता था। लोगों के बहकाने से राजा का मन आल्हा और ऊदल की ओर से फिर गया।

परमाल ने क्रुद्ध होकर आल्हा और ऊदल को अपने राज्य से निकल जाने की आज्ञा दे दी। अस्तु, वे लोग अपनी माता तथा कुटुंबियों को साथ लेकर महोबा से कन्नौज पहुँचे और राजा जयचंद के आश्रय में रहने लगे।

पृथ्वीराज बड़ी भारी सेना लेकर परमाल से युद्ध करने के -लिए दिल्ली से रवाना हुआ। चंदेल के राज्य में पहुँचकर पृथ्वीराज के सैनिकों ने बहुत से गाँव और घर जला दिये और

वहाँ के निवासियों तथा राजा के अनेक कर्म्मचारियों को मार डाला। जब इस उपद्रव का समाचार परमाल को मिला तब उसकी आँखें खुलीं। जब चारों ओर से प्रजा आ-आकर उसके दरबार में पुकार करने लगी, तब परमाल ने अपने कर्त्तव्य के निश्चय करने के लिए अपने सरदारों की एक सभा की। कुछ लोगों ने राजा को सम्मति दी—"आल्हा और ऊदल को महाराज ने रुष्ट होकर निर्वासित कर दिया है। यदि इस अवसर पर महाराज पुनः उन्हें सम्मान-पूर्वक अपने राज्य में बुला लें तो उनसे बहुत-कुछ सहायता मिल सकेगी और शत्रुओं से देश की रक्षा भी हो जायगी।"

सब सरदारों ने यह सम्मति मान ली, लेकिन परमाल के पुत्र ब्रह्मजित् को यह बात बहुत बुरी मालूम हुई। ब्रह्मजित् ने यद्यपि कोई युद्ध न किया था, तथापि उसमें वीरता, साहस, आत्माभिमान आदि क्षत्रियोचित सभी गुण वर्त्तमान थे। उसने भरी-सभा में बिगड़कर कहा—"मालूम होता है कि अधिक वृद्ध हो जाने के कारण आप लोगों का पराक्रम जाता रहा है और इंद्रियाँ शिथिल हो गई हैं। राजपूतों के घर में जन्म लेकर ऐसी बातें कहना बहुत ही लज्जाजनक है। आज लोगों ने आज तक वीरता के अनेक कार्य्य करके बहुत कीर्त्ति पाई है। आप ही लोग राज्य के स्तंभ हैं। यदि आप लोग ऐसे अवसर पर आगे न बढ़ेंगे तो देश हाथ से जाता रहेगा और आप लोगों की अपकीर्ति होगी।"

कुछ लोगों की यह भी सम्मति थी कि परमाल अपनी सेना-सहित युद्ध के लिए महोबा में तैयार रहें और जयचंद से सहायता माँगें। जब पृथ्वीराज सेना-सहित महोबा पहुँच जायँ

तब इधर से महोबा की सेना और दूसरी ओर से जयचंद की सेना उनपर आक्रमण करके परास्त करदे। ब्रह्मजित् को यह बात भी पसंद न आई। उसने कहा—"राजा का यह धर्म्म नहीं है कि वह स्वयं तो सहायता की अपेक्षा करता हुआ अपने क़िले में पड़ा रहे और शत्रु-दल को देश में प्रजा के सर्वनाश करने का अवकाश दे। क्षत्रिय के लिए इस प्रकार अपकीर्ति सहकर जीते रहने की अपेक्षा रण-भूमि में मर जाना कहीं बढ़कर है। यदि आप लोगों में इतना साहस न हो तो चलिए, मैं आगे चलता हूँ।"

राजकुमार को इस प्रकार आवेश में देखकर सरदारों में कुछ उत्साह भर आया। पाँच सरदार आठ हज़ार सैनिकों को अपने साथ लेकर पृथ्वीराज से युद्ध करने के लिए महोबा से रवाना हुए। सिरसा नगर के पास दोनों दलों का सामना हुआ। राजा परमाल की ओर के बहुत-से आदमी मारे गये और पृथ्वीराज की जीत हुई।

जब इस पराजय का समाचार परमाल को मिला तब उसे बहुत चिंता हुई। रानी ने कहा—"आपकी और राजकुमार की जो आशा थी, उस पर तो पानी फिर गया। अब यही उचित है कि आप किसी न किसी प्रकार आल्हा और ऊदल को अपने राज्य में बुलवा लें और उन्हें साथ लेकर शत्रु से युद्ध करें। केवल इसी प्रकार आपकी तथा आपके राज्य की रक्षा संभावित है। कन्नौज से आल्हा और ऊदल को बुलवाने और फिर से युद्ध की तैयारी करने के लिए आप पृथ्वीराज से दो मास का अवकाश लें।" राजा तथा उनके पार्श्ववर्त्तियों को यह बात बहुत पसंद आई और उन्होंने ऐसा ही किया।

पृथ्वीराज ने दो मास का अवकाश दे दिया और भाट को पुरस्कार देने के सिवा उन्होंने परमाल के लिए एक बढ़िया तलवार और एक जड़ाऊ ढाल भी दी।

जब परमाल को युद्ध के लिए दो मास का अवकाश मिल गया तब आल्हा और ऊदल को लाने के लिए जगनक भाट को कन्नौज भेजा। जगनक ने उनको अनेक प्रकार से समझाया-बुझाया और कहा कि दुष्टों के बहकाने पर राजा ने आपके साथ ऐसा अनुचित व्यवहार किया था। पर अब स्वयं उन्हें पश्चात्ताप हो रहा है। अब आपका हठ करना और विशेषतः ऐसी दशा में, जब कि राज्य की रक्षा आप ही पर निर्भर हो, ठीक नहीं है। आल्हा और ऊदल ने अपनी माता को भी परमाल का वह पत्र दिखलाया। राजा और जगनक दोनों का इतना आग्रह देखकर माता ने उन लोगों को महोवा चलने की सम्मति दे दी।

जयचंद ने उन्हें आज्ञा न दी, उलटे उन्हें महोवा जाने से मना किया और उनके रोकने के अनेक उपाय किये। उसने उनको अपने मानापमान का स्मरण दिलाते हुए अपने दरबार में ही रखना चाहा। उस अवसर पर जगनक भाट ने आगे बढ़कर जयचंद को आशीर्वाद दिया और उसकी प्रशंसा करते हुए वह पत्र आगे बढ़ाया, जो परमाल ने अलग जयचंद के नाम भेजा था और जिसमें उसने जयचंद से भी इस युद्ध में सहायता देने की प्रार्थना की थी। उस पत्र को देखकर जयचंद का विचार बदल गया और उसने बड़ी प्रसन्नता से उन दोनों भाइयों को महोवा जाने की आज्ञा दे दी।

आल्हा और ऊदल के आ जाने पर परमाल ने राजमहल में एक बहुत बड़ा दरबार किया और सब सरदारों को एकत्र

करके उनकी सम्मति से युद्ध आरंभ करने की तिथि निश्चित कर पृथ्वीराज को उसकी सूचना दे दी। दोनों ओर से तैयारियाँ हो जाने के बाद रण-भूमि में सेनाएँ एकत्र हुईं। परमाल अपने राजकुमार ब्रह्मजित्, आल्हा, ऊदल, अपनी पाँच सहस्र तथा जयचंद की सहायतार्थ आई हुई सेना को लेकर रण-भूमि में पृथ्वीराज के सम्मुख जा खड़ा हुआ।

पृथ्वीराज की सेना भी सज-धजकर रण-भूमि में सामने आ खड़ी हुई। सबसे आगे सेना का वह भाग था जिसका अधिकार कन्ह चौहान को दिया गया था। कन्ह तथा उसकी सेना को देखकर परमाल भयभीत हो गया। थोड़े-से सिपाहियों को साथ लेकर रण-स्थल से वह चुपचाप भाग गया और कालिंजर के क़िले में जा छिपा।

परमाल के कालिंजर भाग जाने पर आल्हा ने राजकुमार ब्रह्मजित् से कहा—"आप अभी सोलह वर्ष के बालक हैं। इसलिए आपको हम लोगों के साथ युद्ध-क्षेत्र में न रहना चाहिए। आपके लिए भी इस समय यही उचित है कि आप हम लोगों को मरने-मारने के लिए यहीं छोड़कर अपने पिता के पास कालिंजर के क़िले में चले जायँ।" लेकिन उस वीर क्षत्रिय ने यह बात न मानी और कहा—"इस प्रकार भागकर मैं नरक का अधिकारी नहीं होना चाहता। यदि क्षत्रिय रणक्षेत्र में लड़कर अपने प्राण दे तो उसे इस लोक में कीर्त्ति तथा परलोक में स्वर्ग प्राप्त होता है।"

अपनी बात समाप्त करते ही ब्रह्मजित् एकदम शत्रुदल पर टूट पड़ा और मार्ग में आनेवालों को काट-काटकर गिराने लगा। तालनख़ाँ पठान के मरते ही कन्नौज से आई हुई फ़ौज के पैर

उखड़ चले और वह पीछे हटने लगी। अपनी सेना को भागते देख लाखनसिंह आगे आया और सैनिकों को धैर्य और उत्साह दिलाकर फिर लड़ने लगा। बहुत देर तक वीरता से लड़ने के बाद लाखनसिंह भी मारा गया। संजमराय, चामुंडराय और धीर-पुंडीर ने महोबा और कन्नौज की सेनाओं के धुर्रे उड़ा दिये। चौहान की सेना प्रबल हो चली।

अपनी तथा कन्नौज से आई हुई सेना की यह दुर्दशा देखकर आल्हा और ऊदल केसरी बाना पहनकर रण-क्षेत्र में उतर आये। पहले ही वार में उन लोगों ने संजमराय को मृतप्राय करके ज़मीन पर गिरा दिया। थोड़ी देर बाद होश आने पर जब संजमराय ने उठना चाहा तो देवकर्ण ने उसके सिर पर गदा मारकर उसे फिर वहीं गिरा दिया। संजमराय फिर न उठ सका। इसके बाद ऊदल ने बड़ी वीरता से कन्ह पर वार करके उसे भी मूर्च्छित कर दिया। इतने में कैमास वहाँ पहुँच गया और ऊदल उसकी ओर बढ़ा। ऊदल की गदा से कैमास मूर्च्छित होकर गिर पड़ा।

जब कन्ह परिहार ने देखा कि ऊदल इन दोनों वीरों को समाप्त ही किया चाहता है, तब वह लपककर उस पर झपटा और अब कन्ह और ऊदल से युद्ध होने लगा। थोड़ी देर बाद कैमास ने भी उठकर कन्ह की सहायता की और ऊदल का सिर धड़ से उड़ा दिया। ऊदल बड़े आवेश में आकर युद्ध कर रहा था, इसलिए सिर कट जाने पर भी उसके नंगे धड़ ने कई वीरों को मार गिराया। चंद ने ऊदल की इस वीरता की बहुत प्रशंसा की है।

जब ऊदल के मारे जाने का समाचार आल्हा को मालूम

हुआ, तब वह बहुत क्रोध में आकर शत्रु-दल का बुरी तरह संहार करने लगा। लोग कहते थे कि आल्हा को एक सिद्ध से एक मोहनास्त्र मिला था, जिसके कारण उसे परास्त करना बहुत असंभव था। इसलिए पृथ्वीराज ने उसके मुक़ाबले के लिए देवी-द्वारा रक्षित आततायी चौहान को भेजा था।

लड़ते-लड़ते अंत में दोनों ही वीर बेतरह घायल होकर ज़मीन पर गिर पड़े। तब तक पृथ्वीराज ने ब्रह्मजित् को मार डाला। अपना सारा पराक्रम दिखला चुकने पर भी जब आल्हा ने विजय की कोई संभावना न देखी, तब अंत में उसे वैराग्य हो गया और वह अपना धनुष-बाण तोड़ और फेंक अपने गुरु सिद्ध के उपदेशानुसार उनके साथ जंगल की ओर चला गया। अंत में जीत पृथ्वीराज की हुई और चंदेल की सेना भाग गई।

चामुंडराय कालिंजर पर चढ़ाई करके वहाँ से परमाल को पकड़ लाया। उस क़िले में सात करोड़ रुपये थे, वह भी अपने साथ ले आया। अंत में पृथ्वीराज ने परमाल को गद्दी से उतार दिया और उसका देश अपने अधीन करके पज्जून कछवाहे को अपनी ओर से वहाँ का कर उगाहने के लिए नियुक्त कर दिया।

(२) पद्मावती की कथा

सिंघल अति सुंदर द्वीप है। अन्य द्वीपों से उसकी सुंदरता बढ़ चढ़ कर है। यहाँ का राजा गंधर्वसेन है। उसका प्रताप चारों ओर फैला है। उसके पास असंख्य सेना है। उसकी रानी चंपावती को पद्मावती नाम की अपूर्व सुंदरी कन्या उत्पन्न हुई। उसने एक हीरामन नामक सूआ पाल रक्खा था। हीरामन बड़ा बुद्धिमान् था। युवावस्था प्राप्त होने पर भी पद्मावती का पिता उसके विवाह की कोई परवाह नहीं करता था। एक दिन पद्मावती ने अपने प्रिय शुक से अपनी मनोव्यथा कही। उसने कहा—"प्रिय शुक, मुझे दिन पर दिन मदन सता रहा है, पर मेरे पिता मेरे विवाह का कोई आयोजन नहीं करते।" शुक ने उत्तर दिया—"जो भाग्य में लिखा है वही होगा। यदि आप आज्ञा दें तो मैं जाकर देश-विदेश में आपके लिये कोई वर खोजूँ।" उन दोनों की बातचीत कोई सुन रहा था। उसने जाकर राजा से चुगली खाई। इस पर राजा ने क्रुद्ध होकर शुक को मार डालने की आज्ञा दी। पद्मावती ने बड़ी विनती और युक्ति से उसकी जान बचाई। एक दिन वह अपनी सखियों के साथ मानसरोवर में नहाने गई। इसी बीच शुक के पिंजरे को बिल्ली ने आ घेरा। वह अवसर पाकर अपनी जान बचाकर वन की ओर उड़ गया। वहाँ वह एक चिड़ीमार के जाल में पड़ गया। वह उसे लेकर चला। पद्मावती को जब शुक के उड़ जाने का समाचार मिला तब वह अत्यंत दुखी हुई। उसने बड़ा शोक मनाया। शुक को लेकर बहेलिया सिंघल द्वीप की हाट में बेचने चला। वहाँ चित्तौरगढ़ का एक ब्राह्मण भी कुछ व्यापार करने

की अभिलाषा से आया था। उसने उस शुक को मोल लिया और वह घर की ओर लौट पड़ा। जब वह चित्तौर पहुँचा तब शुक के गुणों की चर्चा चारों ओर फैलने लगी, फैलते-फैलते राजा के कानों तक जा पहुँची।

चित्तौरगढ़ का राजा रतनसेन था। उसने जब शुक के गुणों का वर्णन सुना तब उसने ब्राह्मण को बुलाया और शुक को मुँह-माँगे मूल्य पर मोल लिया। वह उसे बड़े प्रेम से अपने यहाँ रखने लगा। उसकी रानी नागमती बड़ी सुंदरी थी। एक दिन नागमती राजा की अनुपस्थिति में शृंगार करके शुक के समीप आई और पूछने लगी—"क्यों शुक, मेरे जैसा रूप तुमने कहीं देखा है?" हीरामन शुक पद्मावती का ध्यान करके हँस पड़ा और कहने लगा—"सिंघल की नारियों की क्या बात पूछती हो? उनकी बराबरी संसार में कोई नहीं कर सकता।" यह सुनकर नागमती बड़ी रुष्ट हुई। उसने शुक को मार डालने की आज्ञा दी। धाय ने शुक को छिपाकर रानी से कहा कि वह मार डाला गया।

राजा रतनसेन जब आखेट से लौटा तब उसने शुक की खोज की। उसने नागमती से कहा—"या तो शुक को ला या स्वयं अपनी जान दे।" नागमती बड़े संकट में पड़ी। अंत में धाय ने शुक ला दिया तब राजा प्रसन्न हुआ। शुक के मिलने पर राजा ने उससे सच्ची बात पूछी। उसने पद्मावती के रूप-गुण की चर्चा की। वह उस पर मुग्ध हो गया। लोगों के लाख समझाने पर भी उसने निश्चय किया कि पद्मावती को अवश्य अपनाऊँगा। वह योगी होकर, अपने साथियों को ले, शुक को आगे कर, सिंघल द्वीप की ओर चल पड़ा। मार्ग

में अनेक कष्टों को झेलकर वह समुद्र-तट पर पहुँचा और 'गजपति' की सहायता से उसने बोहित लेकर समुद्र पार करने का निश्चय किया। क्षार, खीर, दधि, उदधि, सुरा, किल-किला और मानसरोवर आदि सात समुद्रों को पार करता हुआ वह सिंघल द्वीप में पहुँचा। वहाँ पर महादेव का एक मंदिर था, जहाँ रतनसेन अपने साथियों के साथ बैठकर तप करने लगा। शुक को उसने पद्मावती के पास भेज दिया। शुक ने जाते समय राजा से कहा कि वसंतपंचमी को पद्मावती यहाँ पूजा करने आवेगी तब आपसे भेंट होगी।

शुक को बहुत दिनों के बाद देखकर पद्मावती बड़ी प्रसन्न हुई। हीरामन ने अपना सारा हाल कह सुनाया और रतनसेन के पहुँचने का समाचार भी दिया। पद्मावती उस पर मुग्ध हो गई। उसने प्रतिज्ञा की कि राजा के गले में जयमाल डालूँगी। इसके पश्चात् शुक राजा के पास लौट आया। पद्मावती वसंतपंचमी के दिन उस महादेव के मंडप में पहुँची और उससे राजा का साक्षात् हुआ, पर राजा उसे देखते ही मूर्च्छित हो गया। उसके मूर्च्छित होने पर पद्मावती ने उसके वक्षःस्थल पर चंदन से लिख दिया—"जोगी, तू अभी भिक्षा प्राप्त करने योग्य नहीं है, तू ठीक समय पर सो जाता है।" यह लिखकर वह चली गई।

पद्मावती के चले जाने पर राजा को चेत हुआ। वह बहुत पछताने लगा। उसने प्राण देने का निश्चय किया। यह समाचार सुनकर सब देवता घबरा उठे। महादेव और पार्वती ने वेश बदलकर उसकी परीक्षा करने का निश्चय किया। पार्वती ने अप्सरा का रूप धारण किया और राजा से कहने

लगी कि मैं ही पद्मावती हूँ। राजा को सच्चा प्रेम था। उसने उत्तर दिया कि तू पदमावती नहीं। पार्वती को विश्वास हो गया कि उसे सच्चा प्रेम है। उसने महादेव से कहा कि इसकी रक्षा करनी चाहिए। राजा ने महादेव और पार्वती का यथार्थ रूप पहचान लिया और उनकी स्तुति करने लगा। महादेव ने प्रसन्न होकर सिद्धि-गुटिका उसे दी और सिंघलगढ़ में उसे घुसने की आज्ञा दी।

योगियों ने गढ़ जा घेरा। राजा के दूत आए और उनका अभिप्राय पूछने लगे। उन्होंने उत्तर दिया कि हमें 'पद्मावती' चाहिए। इस पर दूत क्रुद्ध होकर चले गए। उन्होंने राजा से सब समाचार जा सुनाया। वह बड़ा क्रुद्ध हुआ। योगियों ने गढ़ के भीतर प्रवेश किया। वे राजा की आज्ञा से पकड़ लिए गये। रतनसेन को सूली देने की आज्ञा हुई। वह इस पर बड़ा प्रसन्न हुआ। उपस्थित लोगों ने कहा कि अवश्य यह कोई राजकुमार है। महादेव और पार्वती रतनसेन की सहायता को आ पहुँचे। महादेव ने (जो भाट के वेश में थे) राजा को बहुत समझाया कि यह योगी नहीं राजा है, यह पद्मावती के योग्य वर है, इससे अपनी कन्या का विवाह करो। राजा ने न माना। इस पर लड़ाई की तैयारी हुई। योगियों की ओर से देवता भी थे। देवताओं की शंख-ध्वनि सुनकर राजा घबरा गया और उसने महादेव का वास्तविक रूप पहचानकर उनसे क्षमा माँगी और कहने लगा कि— "कन्या आपकी है, चाहे जिससे उसका विवाह कीजिये।"

इसी बीच हीरामन शुक ने आकर राजा को चित्तौर का सारा समाचार कह सुनाया। गंधर्वसेन रतनसेन के साथ पद्मावती

का विवाह करने पर सहमत हुआ। विवाह शुभ अवसर शुभ घड़ी में हुआ। रतनसेन अपने साथियों के साथ सिंघल में रहकर सुख लूटने लगा। उसकी अनुपस्थिति में उसकी रानी नागमती बड़ी दुखी हो रही थी, उसके विरह-विलाप से पशु-पक्षी तक दुखी होते थे। एक दिन रात को, एक पक्षी ने उसका रोदन सुना। उसके दुःख पर तरस खाकर उसने प्रतिज्ञा की कि मैं तुम्हारा संदेश रतनसेन के पास पहुँचाऊँगा। संदेश लेकर वह सिंघल पहुँचा और एक वृक्ष पर बैठकर सुस्ताने लगा। संयोग से रतनसेन आखेट से थककर उसी वृक्ष के नीचे बैठ गया।

पक्षी उस वृक्ष पर बैठकर दूसरे पक्षी से बातचीत कर रहा था। उसने नागमती का कष्ट कह सुनाया। राजा ने उन दोनों की बात सुनी। वह व्याकुल हो उठा और उसने अपने राज्य को लौटने की ठानी। रतनसेन अपने राज्य को लौटने की तैयारी करने लगा। उसने पद्मावती को साथ लिया। गंधर्वसेन ने उसे असंख्य धन दिया। सब ले-देकर वह जहाज पर सवार हुआ। समुद्र-तट पर उसे समुद्र भिक्षुक के रूप में मिला। उसने राजा से दान माँगा। राजा ने लोभ-वश उसे कुछ न दिया। जहाज पर चढ़कर राजा जब आधे समुद्र में आया तब प्रचंड वायु-वेग से उसका जहाज लंका की ओर बह चला। वहाँ विभीषण का एक केवट मछली मार रहा था। उसने राजा को मरवाना चाहा। राजा को अपनी बातों में लाकर वह जहाज को एक भयंकर समुद्र में ले चला। वहाँ पहुँचकर जहाज डूबने लगा। राजा बहुत घबराया। इसी बीच में एक पक्षी आकर उस राक्षस को ले उड़ा। राजा का

जहाज फट गया। वह एक पटरे पर एक ओर वह चला और रानी पद्मावती दूसरी ओर।

पद्मावती बहते बहते एक तट पर लगी। पास ही में समुद्र की कन्या लक्ष्मी खेल रही थी। उसने उसे बचाया। वह उसे अपने घर ले गई और आदर से अपने यहाँ रक्खा। इधर राजा बहते बहते एक दूसरे निर्जन तट पर जा लगा। वहाँ पहुँचकर वह बहुत विलाप करने लगा। अंत में दुखी होकर वह अपनी हत्या करने पर तैयार हुआ। उसको ऐसा करने के लिये उद्यत होते देख समुद्र, ब्राह्मण का रूप धरकर, उसे रोकने को उपस्थित हुआ और उसे लेकर पद्मावती के पास पहुँचा।

राजा जिस समय पद्मावती के पास पहुँचा उस समय लक्ष्मी उसकी परीक्षा लेने को मार्ग में मिली। उसने चाहा कि राजा को भरमावें पर वह सच्चा प्रेमी था। अंत में प्रसन्न होकर लक्ष्मी ने उसे पद्मावती से मिला दिया। समुद्र की कृपा से राजा को उसके अन्य साथी भी मिले और वह सब को लेकर घर चला। चलते समय समुद्र ने उसे अमृत, हंस, राजलक्ष्मी, शार्दूल और पारस पत्थर उपहार में दिए। सब कुछ लेकर रतनसेन चित्तौर पहुँचा और पद्मावती तथा नागमती के साथ सुख से रहने लगा। नागमती से नागसेन और पद्मावती से कमलसेन नामक पुत्र हुए।

रतनसेन की सभा में राघव चेतन नामक एक पण्डित था, जिसने यक्षिणी को सिद्ध किया था। एक दिन रतनसेन ने पूछा—'दूज कब है'? राघव के मुँह से निकल पड़ा—'आज'। अन्य लोगों ने कहा—'आज नहीं हो सकती, कल है'। राघव अपनी बात पर अड़ गया। उसने यक्षिणी के प्रभाव से उस दिन दूज

दिखा दी। अंत में दूसरे दिन बात खुली तो राघव देश से निकाल दिया गया। उसका निकाला जाना सुनकर पद्मावती बड़ी चिंतित हुई।

उसने उसे बुलावा भेजा और दान देकर प्रसन्न करना चाहा। रानी ने अपने हाथ का एक कंकण उसे दान दिया। इसे लेकर राघव दिल्ली पहुँचा। वहाँ उसने सुल्तान अलाउद्दीन से सारा हाल कहकर पद्मावती की सुंदरता का वर्णन किया। अला-उद्दीन पद्मावती की सुंदरता का समाचार सुनकर उस पर मुग्ध हो गया। उसने चित्तौर पर चढ़ाई करने की ठानी। उसने सरजा नामक दूत को चित्तौर भेजा। राजा यह सुनकर बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसने कहा—'जीते जी यह हो नहीं सकता।' सुल्तान ने अंत में चित्तौर पर चढ़ाई कर दी। आठ वर्ष तक मुसलमान चित्तौर घेरे रहे पर कुछ न हुआ, अंत में सुल्तान ने एक चाल चली। उसने प्रकट में राजा से मित्रता की और चित्तौर दावत खाने गया। रतनसेन के यहाँ गोरा-बादल दो वीर थे। वे इस कपट को समझ गए। उन्होंने राजा को सावधान किया पर राजा ने एक न मानी।

चित्तौर में कई दिन तक सुल्तान की आवभगत होती रही। एक दिन सुल्तान राजा के साथ शतरंज खेलने लगा। संयोग से पद्मावती ऊपर झरोखे पर बैठकर देख रही थी। बादशाह ने उसका प्रतिबिंब दीवार पर लगे हुए दर्पण में देखा। उसे देखकर वह मुग्ध हो गया, उसे मूर्च्छा आ गई। राघव ने समझाया कि वही पद्मावती थी। अंत में बादशाह ने विदा माँगी। राजा उसे पहुँचाने चला। अपने गढ़ से बाहर होते ही राजा सुल्तान के सिपाहियों द्वारा पकड़ लिया गया और बंदी

करके दिल्ली भेजा गया। कारागार में उसे अनेक प्रकार के क्लेश दिए जाने लगे। इधर चित्तौर में हाहाकार मच गया, दोनों रानियाँ सती होने को तैयार हुईं। गोरा-बादल, पद्मावती के कहने पर, उनकी सहायता करने पर उद्यत हुए।

सुल्तान के यहाँ दिल्ली में चित्तौर से सोलह सौ पालकियों पर चढ़कर सिपाही पहुँचे। बादशाह से कहा गया कि पद्मावती आई है। वह एक बार राजा से मिलना चाहती है। फिर सुल्तान के महल में रहेगी। बादशाह ने इसे मान लिया और राजा से मिलने की आज्ञा दे दी। रतनसेन के बंदीगृह में वह पालकी पहुँचाई गई जिसमें एक लोहार बैठा था। उसने राजा की बेड़ी तुरंत काट दी और राजा घोड़े पर सवार होकर भागा। अन्य छिपे हुए सिपाहियों ने उसकी रक्षा की। इस प्रकार शाही सेना को मार-काटकर लोग रतनसेन को छुड़ा लाए। रतनसेन जब चित्तौर पहुँचा तो उसने देवपाल की नीचता सुनी। इसने राजा की अनुपस्थिति में पद्मावती को बहकाने के लिए दूती भेजी थी। रतनसेन क्रोध से लाल हो गया और देवपाल से लड़ने को उद्यत हो उठा। दोनों राजाओं में लड़ाई हुई। इस द्वंद्व में देवपाल मारा गया। उसकी साँग से रतनसेन मर्म-विद्ध घायल हुआ। मरते समय उसने चित्तौर की रक्षा का भार बादल पर सौंपा।

रतनसेन के शव को लेकर उसकी दोनों रानियाँ सती हुईं। उनके सती होने के पश्चात् शाही सेना चित्तौर पहुँची। सती होने का समाचार बादशाह ने सुना। वह हाथ मलकर रह गया।

[इसी कथा को लेकर मलिक मुहम्मद जायसी ने 'पदमावत' काव्य की रचना की है।]

—सत्यजीवन वर्मा

(३) रक्षाबंधन

राजपूताने की सरहद पर एक पहाड़ी क़िले में दर्बार के कमरे में बूढ़े सरदार चिंता में डूबे हुए बैठे हैं। बीच में मसनद पर नागौर के बूढ़े राजा मानसिंह बैठे हैं। सोच में भौंहें सिकुड़ी हुई हैं। चिंता का कारण यह था कि राजा के लडके, नागौर की अच्छी से अच्छी सेना के साथ, दिल्ली के बादशाह की सहायता में, दक्षिण की चढ़ाई पर चले गए थे। इधर अवसर पाकर गुजरात के मुसल्मान बादशाह ने धूमधाम के साथ नागौर पर धावा कर दिया। बूढ़े राजा ने नागौर के बचाव में अपने को समर्थ न समझकर, बाल-बच्चों और अपने बूढ़े सरदारों, जो बुढ़ापे से दक्षिण की लड़ाई में नहीं गए थे. और उनके कुटुंब के साथ, तथा अच्छे अच्छे जवाहिरात साथ लेकर झटपट अपने पहाड़ी क़िले गोदावर में जाकर निवास किया। नागौर के शहर और अपने संगमर्मर के महलों को भाग्य पर छोड़ दिया। गोदावर के अन्न के भंडार अन्न से भरे थे और पानी के लिये बड़े बड़े तालाब लहरा रहे थे, पर क़िले की दृढ़ता और चौड़ी दीवारों के बचाव के लिये सेना बहुत ही कम थी। गुजरात की सेना ने पहले ही से गोदावर के चारों ओर पड़ाव डालना आरंभ कर दिया था। बिचारे राजा को अपने साथियों के साथ शत्रु के शरण जाना या अपने प्राण देना इन दो के सिवाय कोई और उपाय नहीं था। उन्हें और कहीं भाग जाने का भी रास्ता नहीं था।

दर्बार में बहुत कुछ सोच विचार होने लगा। जो थोड़ी सी सेना अपने पास है उसी से जहाँ तक हो बचाव करना कि बाहर से भी कुछ सहायता मिल सकती है? पर सब विचारों

के अंत में वही दूसरा भयानक उपाय ही निश्चय ठहरता। कोई अपना मेली मिलापी परोसी राजा ऐसा बलवान नहीं दिखलाई पड़ता जो फ़ीरोज़शाह की बड़ी फ़ौज़ से लड़ाई ठानकर उसे जीत सकता हो। मरने या शरण जाने के सिवाय कोई उपाय नहीं था। शरण जाने से नागौर की राजकुल-कुमारियों को मुसल्मानों के हरम में देना ही पड़ेगा, इसलिए निश्चय हुआ कि 'जौहर' करके अपने मान को इस अपमान से बचाना। जहाँ तक बने पहले मेल की बातचीत में समय बिताना और जब कोई उपाय न रहे तब भयानक 'जौहर' करना और अपनी स्त्रियों को, कन्याओं को, सभों को अग्निदेव की गोद में देकर, केसरिया बाना सजकर, तलवार सूँत-सूँतकर क़िले से बाहर निकलना तथा मरना और मारना।

मन में यह निश्चय करके राजा जनाने महल में आए जहाँ पर स्त्रियाँ घबड़ाहट के साथ अपने भाग्य के विषय में जो निश्चय हुआ उसे जानने के लिये उन लोगों की राह ताक रही थीं। सभों से बढ़कर राजा मानसिंह की प्यारी बेटी पन्ना 'क्या हुआ' यह जानने के लिये घबड़ा रही थी। उसकी स्वाभाविक सुंदरता इस घबड़ाहट से और भी बढ़ गई थी। राजपूताने में लोग लड़कियों को प्राय: बोझ समझते हैं। पर राजा मानसिंह को यह लड़की अपने लड़कों से बढ़कर प्यारी थी, यह उनके संतानों में सब से छोटी थी। उनकी प्यारी स्त्री आज चौदह वर्ष हुए परलोक सिधार गई, तभी से राजा उसे बहुत चाहते और वह इस समय बुढ़ौती में उनका सहारा बन रही थी। ज्यों ही उन्होंने पन्ना को देखा, उनकी आँखों के सामने अपनी प्यारी स्त्री की चिता पर बैठी हुई मूर्ति नाचने लगी। आहा ! जब

कभी राजकाज के झँझटों से घबड़ाकर राजा महल में जाता तो अपनी प्यारी बेटी की भोली और स्नेहभरी बातों से जी कैसा बहल जाता था। हाय ! आज कैसे उससे वे इस भयानक बात को कहें ?

सब स्त्रियों ने चारों ओर से राजा को घेर लिया। सभों की आँखें डबडबा रही थीं। थोड़ी देर तक राजा सब दुःख भूल गया। चारों ओर सन्नाटा छाया रहा, यहाँ तक कि पन्ना भी अपनी चपलता और घबड़ाहट भूल गई। अंत में राजा ने कड़ा जी करके सुना दिया कि जो भगवान् ही सहायता के लिये आवें तो बचाव हो सकता है, नहीं तो हम सभों को थोड़े ही समय में मौत का आश्रय लेना पड़ेगा।

इस मौत के संदेसे को किसी ने शांत भाव से, किसी ने आँसू ढालकर और किसी ने डरकर चिल्लाहट के साथ अपनी अवस्था और स्वभाव के अनुसार सुना। मानसिंह की मां, जिनकी अवस्था नब्बे वर्ष की हो चुकी थी और जो जीने से थक सी गई थीं, सच्ची राजपुतानी की तरह मरने के लिये उत्साह के साथ तैयार हो गईं। और भी बहुतेरी स्त्रियाँ मरने के लिये प्रसन्नता के साथ तैयार हो गईं। पर छोटी अवस्था की स्त्रियाँ, जिन्हें अभी तक जीने और संसार के सुखों को भोगने की लालसा लगी हुई थी, रोने और घबड़ाने लगीं। छोटे-छोटे बच्चे चुपचाप कठपुतली की तरह बैठे सब रोनेवाली स्त्रियों के मुँह की ओर देखने लगे, वह कुछ भी नहीं समझ सकते थे कि यह सब क्या हो रहा है।

पन्ना की दशा कुछ विलक्षण ही थी, न तो उसने अपनी दादी की तरह उत्साह ही दिखलाया और न वह अपनी दूसरी बहिनों की तरह रोने चिल्लाने लगी। वह चुपचाप एक खिड़की के

पास जाकर खड़ी हो गई और अपनी कलाई पर सिर रखकर सोचने लगी। उसकी आँखें चंचलता से चारों ओर घूमने लगीं, अंत में वे बहुत दूर पर एक पहाड़ की चोटी पर, जो कि संध्या के छाये हुए अँधेरे में अभी तक भी धुँधली सी दिखलाई पड़ती थी, जाकर ठहर गईं।

उसकी दृष्टि कुछ संयोग से उस पहाड़ की चोटी पर जाकर नहीं ठहरी थी। वह अपने सुख के दिनों में भी इस अरकंडा पहाड़ की चोटी को देखकर बड़े बड़े सुख के स्वप्न देखती और बड़े बड़े ख्याली महल बनाती थी, क्योंकि वहाँ के राजकुमार उमेदसिंह को दो वर्ष पहले नागौर की सड़को मे घोड़े पर सवार देखकर उसका मन उस पर बचपन ही की अवस्था में लुभा गया था। उस समय इन दोनों राज्यों में मित्रता थी। उस समय उसकी युवावस्था आरंभ ही हुई थी। वह भील डाकुओं के साथ लड़ाई जीतकर प्रसन्न मन से लौट रहा था, क्योंकि इस लड़ाई में उसकी वीरता की बड़ी बड़ाई हुई थी। उसकी सुंदरता और बड़े बिगड़ैल घोड़े को अपने वश में रखने की वीरता और चतुराई देखकर उसको उसके साथ प्रेम उत्पन्न हो गया। उसने मन ही मन ईश्वर से माँगा कि जो मेरा विवाह हो तो इसी युवक के साथ हो। उस समय इस विचार में उसे निराश होने का कोई कारण नहीं था। पर हाय! सच्चा प्रेम कभी निर्विघ्न पूरा नहीं उतरता। कुछ दिनों के पीछे दोनों राज्यों में कुछ सरहदी भूमि लेकर झगड़ा खड़ा हो गया। दोनों राजाओं के मन में खिचाव हो गया। यद्यपि खुलकर कभी लड़ाई नहीं हुई, पर दोनों राज्यों में जो मित्रता का वर्त्ताव था वह जाता रहा। इस झगड़े से दोनों राज्यों में विवाह-सम्बन्ध होना असंभव सा हो गया, पर पन्ना ने जिस

सुंदर मूर्ति को अपने हृदय में स्थापन कर लिया था उसे क्षण-भर के लिये भी वह भुला न सकी। यही कारण था कि जब कभी वह समय पाती तो वह अरकंडा की चोटी की ओर देखा करती थी और इसीलिये उसकी दृष्टि इस दुःख के समय भी आपसे आप उस ओर जा ठहरी।

यकायक उसके मन में एक विचार ऐसा उठा कि उसके उठते ही उसकी छाती जोर से धड़कने लगी और मुख पर कुछ आशा के चिन्ह झलकने लगे। क्या वह उस वीर युवक से सहायता की प्रार्थना नहीं कर सकती? क्या वह ऐसे बेड़े समय में ऐसे तुच्छ झगड़ों का विचार करके उस पुराने मित्रता के बर्ताव को भुला देगा और एक राजपूत राज्य की मुसल्मान शत्रु के हाथ से रक्षा करने से मुँह मोड़ेगा? क्यों न वह उसके पास राखी भेजकर सहायता की आन धरावे, जिसे कभी कोई राजपूत अस्वीकार नहीं कर सकता? क्योंकि राखी बाँधने का त्यौहार आ पहुँचा है; इस समय कोई भी कुल-कामिनी किसी भी वीर को भाई के समान मानकर उसे राखी बाँधने के लिये भेज सकती है। जो वह वीर उसे स्वीकार करता है तो बदले में रेशमी अँगिया या साटन का सुनहला कमखाब का थान भेजता है, और तभी से उसके साथ वाक्यबद्ध हो जाता था कि जब कभी उसे गाढ़ा समय पड़ेगा तुरंत वह उसकी सहायता को सच्चे वीर की तरह पहुँचेगा।

यह विचार उठते ही वह अपने पिता के पास गई और बोली—"बाबा, जरा सी मेरी बात सुन लीजिये, इस खिड़की तक आइए।" राजा के खिड़की में आने पर उसने कहा—"क्या अरकंडा के राजकुमार ने आपका कोई ऐसा अपमान किया है

या कोई काम आपके या आपकी प्रजा के विरुद्ध ऐसा किया है जो कभी क्षमा नहीं किया जा सकता ?"

मानसिंह ने कहा—"नहीं, उसका अपराध यही है कि हमारी थोड़ी सी सरहद्दी भूमि वह बल से लेना चाहता है। इस भूमि के लिये सैकड़ों बरस से झगड़ा चल रहा है। यह भूमि कुछ है नहीं बिल्कुल रेगिस्तान है, उससे कुछ लाभ नहीं है और उस पर कुछ स्वत्व अरकंडा का भी पहुँचता है। पर हमारे लिये यह बड़े अपमान की बात होगी कि जिस भूमि को हम बाप दादा के समय से भोगते आए हैं उसको छोड़ दें, चाहे वह ठीक हो या न हो। इसके लिये कई बेर उससे लिखा-पढ़ी हुई, अंत में हमने निश्चय कर लिया कि जब तक तुम्हारे भाई लोग दक्षिण से न लौट आवें इस ज़मीन को न छोड़ेंगे। खास उस लड़के को मैं जी से चाहता हूँ क्योंकि वह सच्चे राजपूत की तरह बहादुर है, उसकी वह वीरता जो उनसे मेरी ओर से डाकुओं से लड़ने में दिखलाई थी, नहीं भूलती। पर इस समय इसकी कौन बात है ? जब कि इन दुष्ट मुसल्मानों ने हम लोगों को घेर लिया है और कदाचित् दूसरे सूर्योदय तक हम लोगों का सर्वनाश हो जाय तो आश्चर्य नहीं ?"

पन्ना ने कहा—"बाबा, मैं उसके पास राखी भेजना चाहती हूँ और मेरा जी कहता है कि वह अवश्य इसे रखकर हम लोगों की सहायता करेगा।"

मानसिंह ने अपना अपमान समझकर बहुत कुछ विरोध किया, पर पन्ना के बहुत समझाने और यह दिखलाने पर कि यह तो सच्चा राजपूत वीर है, राखी तो मुसल्मानों को समय पड़ने पर बँधाई गई है और उन्होंने सहायता की है, मानसिंह

ने माना और यह निश्चय किया कि किसी विश्वासी आदमी के हाथ राखी भेजी जाय।

एक बड़े दाम की सोने की जड़ाऊ राखी निकाली गई और एक पुराने बड़े विश्वासी सेवक का लड़का चुना गया जो उसे बड़ी चतुराई और रक्षा के साथ अरकंडा में पहुँचावे। वह तुरंत वहाँ से चल पड़ा क्योंकि देर होने से शत्रु के पहरेदार क़िले के चारों ओर और भी पास पास होकर घेर लेंगे और सवेरा हो जाने से शत्रुओं की दृष्टि से बचकर निकलना भी असंभव हो जायगा।

भगवान् का स्मरण करके वह क़िले की दीवार से एक रस्सी के सहारे बाहर उतार दिया गया और वह देखते देखते अँधेरे में मिल गया। वह तेज़ी के साथ बढ़ने लगा, क्योंकि वह पहाड़ी टेढ़ी मेढ़ी नीची ऊँची थी। पर रास्ता उसका ऐसा जाना हुआ था कि सहज में तारों के उजाले के सहारे से वह बढ़ने लगा। पर वह जिधर जाता उधर ही उसे शत्रुओं के पहरेदारों की बाली हुई आग ऐसी पास पास दिखलाई पड़ती कि उसकी रोशनी से बचकर निकलना कठिन था। पर वह भरसक ऐसा उद्योग करने लगा कि चंद्रमा के निकलने के पहले ही इस घेरे से निकल जाय। संत्रियों की आग की रोशनी से बचकर पहाड़ी चट्टानों की आड़ से जहाँ तक बचकर हो सका वह निकला। जब वह घेरे से निकला तो निश्चिंत होकर चलने लगा कि अब कोई डर नहीं है। पर अच्छे काम में बड़े विघ्न होते हैं। ज्योंही वह एक झाडी के पास से निकला कि एक लंबा चौड़ा जवान उस पर टूट पड़ा। यद्यपि वह लड़का भी दाँव पेंच में बड़ा चतुर था, पर उस देव के सामने तो लड़का ही था। उसने देखते

देखते उसे पकड़ लिया और कहा—"अब कहाँ जाता है? चल तुझे गुजरात के बादशाह के हुज़ूर में चलना पड़ेगा।"

लड़के ने अपने को उससे छोड़ाने में असमर्थ देखकर उससे छूटने का उद्योग छोड़ दिया। वह मुसल्मान उसे दृढ़ता से पकड़कर सबसे पास वाली आग के पास ले चला। थोड़ी ही देर में रोशनी में उसकी नंगाझोरी ली जायगी और उसकी पगड़ी से वह राखी निकल पड़ेगी। पर इतने पर भी वह चतुर बालक कुछ भी निराश नहीं हुआ और अपने बचाव का उपाय करने लगा। उसके शत्रु ने उसे निरा छोकरा जान और उसकी आर्ज़ू मिन्नत पर भूलकर उसका बाँया हाथ छोड़ दिया, उसने यह न देख लिया कि उसके पास कोई हथियार तो नहीं है। उसने हाथ छूटते ही छिपाये हुए बिछुओं को निकालकर कसकर हाथ में पकड़ लिया और पकड़नेवाले की बाँह में ऐसे ज़ोर से घुसा दिया कि वह मारे दर्द के व्याकुल हो गया और इसका हाथ छूट गया। छूटते ही वह वहाँ से तीर की तरह निकल भागा।

दुर्भाग्यवश उसके चंगुल से तो निकला, पर वहीं उसकी पगड़ी गिर गई जिसमें राखी छिपाई हुई थी। वह उसे लेने के उद्योग में लौटा और ज्योंही उसने मुसल्मान को वहाँ से कुछ दूर निकला हुआ देखा कि वह झट अंदाज़ से उसी स्थान पर पहुँचा और उसकी पगड़ी ज्यों की त्यों रक्खी थी। वह फिर आगे बढ़ा।

इतने में उस मुसल्मान के चिल्लाने से चारों ओर कोलाहल हो गया था। सब चौकन्ने हो गए थे। वह बालक जिसका नाम पन्नी था अँधेरे में देखने लगा कि सब के सब 'क्या हुआ

है' यह जानने के लिये इधरउधर दौड़ रहे हैं। इतने में एक मुसल्मान अफ़सर काले घोड़े पर सवार उधर से निकला। वह अपने सिपाहियों को चारों ओर ढूंढ़ने का हुक्म दे रहा था। उसे नीचे ऊँचे पहाड़ी और जंगली रास्ते में घोड़े पर चलने से पैदल चलना ही अच्छा जान पड़ा, इसलिए उसने अपने घोड़े को एक अपने साथी लड़के को सौंप दिया और आप आगे बढ़ा, इतने मे बन्नी घोड़े के पास पहुँच गया था, उसने देखा कि घोड़ा भारी है, लड़के से सँभलता नहीं। उसके पास किसी सिपाही को न देखकर बन्नी ने उसके पास जाने का साहस किया। उस लड़के ने बन्नी को देखकर कहा—"अये ओ गधे के बच्चे! खड़े मुँह क्या देखता है, जरा इस घोड़े को सँभालने में मदद नहीं करता ?" बन्नी ने प्रसन्नता से उसकी बात मान ली और कहा—"जो तुम कुछ इनाम देने को कहो तो हम तुम्हारे घोड़े को थाँम रक्खेंगे, तुम चैन से चट्टान पर लेट रहो।" उसने प्रसन्न होकर बन्नी के हाथ में घोड़े की लगाम दे दी और आप सुख से चट्टान पर लेट गया। बन्नी अधिक समय नहीं खो सकता था, उसने घोड़े को सुहराया जिसमें वह चुप रहे और जिसमें खड़खड़ाट न हो इस लिए रिकाब में पैर विना डाले ही घोड़े पर चढ़ बैठा।

लड़के ने बन्नी को घोड़े पर चढ़ते और अरकंडा की ओर तीर की तरह भागते हुए देखकर घबड़ाहट से उछलकर चिल्लाना आरंभ किया। इसी समय आसमान में बाएँ ओर चंद्रमा निकल आया, इससे बन्नी को उस पहाड़ी रास्ते में गिरने से बचने का वड़ा सुभीता हुआ, पर शत्रु की सेना ने उसे अच्छी तरह देख लिया। चटपट पचासों घोड़सवार उसके पीछे चल पड़े। पर उसको पकड़ना असंभव था, क्योंकि उसका घोड़ा वड़ा वलिष्ठ

और तेज़ था और बन्नी ऐसे हलके सवार का बोझ उसके लिए फूल की तरह था। वह हवा की तरह गोदावर और अरकंडा के बीच का मैदान तै करने लगा। उसने चंद्रमा के प्रकाश में उलटकर देखा कि ढेर के ढेर शत्रु उसका पीछा किए हुए हैं, पर साथ ही साथ सबके सब पीछे छूटते जाते हैं। उसने ऐसे अच्छे घोड़े के पाने पर अपना भाग्य सराहा। सामने की ओर साठ मील पर अरकंडा का पहाड़ दिखाई पड़ा। ज्यों ज्यों समय बीतता था उसकी दूरी कम हो रही थी। देखते देखते पचास, चालिस, तीस, बीस और दस मील की दूरी रह गई। अंत में घोड़ा थक गया और आगे चलने में असमर्थ होने लगा। बन्नी उसे मारकर चलाने लगा, किसी न किसी तरह खींच-खाँचकर उसने उतना रास्ता तै किया और वह अरकंडा के फाटक पर पहुँचा। इतने ही में वहाँ का फाटक रसद लेने के लिये, जो उसी समय वहाँ पहुँची थी, खुला।

बन्नी के कहने सुनने पर पहरेदारों ने उसे भी आने दिया और राजमहल तक पहुँचा दिया। वहाँ उसने देखा कि बहुत से घोड़सवार बाज़ और शिकारी कुत्ते लिए हुए शिकार के लिये जंगल की ओर चलने को तैयार हैं। सभों के बीच में उसने दो लंबे क़द के सरदारों को देखा जिनमें से एक को उसके साथी ने दिखा दिया कि यही अरकंडा के राजकुमार उमेदसिंह हैं। बन्नी ने चट घोड़े से कूदकर आगे बढ़कर सलाम किया और राखी को उमेदसिंह के हाथ में देकर निवेदन किया कि पन्ना ने इसे भेजा है, वह इस समय अपने पिता के साथ गोदावर में मुसलमान शत्रुओं से घिरी है और आशा करती है कि आप सच्चे राजपूत की तरह उसके नेवते को मानकर

उसकी सहायता के लिये आवेंगे। उमेद के जी में राजपूती का जोश उमड़ उठा। उसने इसे अपने लिये बड़े मान की बात समझा कि दोनों राज्यों में ऐसा झगड़ा रहने पर भी पन्ना ने उससे सहायता चाही है।

उमेदसिंह ने अपने साथियों से कहा—"मुझको हरिन, चीतों और शेर से बढ़कर शिकार मिल गया है। फ़ीरोज़शाह ने मानसिंह को गोदावर के क़िले में घेर रक्खा है। उनकी सुंदरी लड़की पन्ना ने हमें राखी भेजी है और सहायता के लिये बुलाया है, इसलिये मुझे विदा कीजिए, मैं उधर जाता हूँ।"

उसके साथियों ने कहा, "विदा क्यों? जो पन्ना ने तुमसे राखी का नाता जोड़ा है तो ज़ालिमसिंह भी तुम्हारा धर्म-भाई है। जो पचास सरदार मेरे पास हैं, जिन्होंने इतने दिनों तक तुम्हारे आतिथ्य का सुख उठाया है, गोदावर में तुम्हारे झंडे के नीचे लड़ने को तैयार हैं।"

ज़ालिमसिंह की बात सुनकर सब के सब धन्य, धन्य कह उठे। तुरंत चारों ओर हुक्म ज़ारी हुआ कि सब लोग जहाँ तक शीघ्र हो तैयार हों। बन्नी और उसके घोड़े के खाने पीने का अच्छी तरह प्रबंध कर दिया गया। सब लोग चारों ओर से बन्नी की चतुराई और वीरता की बड़ाई करने लगे। गोदावर से निकलने पर जो जो दुःख उसने झेले थे उसके लिये उसकी प्रशंसा होने लगी।

इधर फ़ीरोज़शाह ने गोदावर पर धावा करना आरंभ कर दिया। उसका तोपखाना तीन मंज़िल पीछे छूट गया था, पर उसने उसके पहुँचने की भी बाट न देखी। जिस दिन बन्नी अरकंडा की ओर गया था उसी दिन सीढ़ी लगाकर क़िले की

दीवार पर चढ़ने का उद्योग किया गया था। वहाँ का रहने वाला एक मनुष्य देशशत्रु हो गया था और शत्रु से मिल गया था, उसने एक स्थान पर जिसे वही जानता था, दीवार के ढोंके निकालकर रास्ता बना लिया और उसी से चढ़कर ऊपर से रस्सी की सीढ़ी लटका दी। सीढ़ी का अंतिम डंडा ज्योंही धरती पर गिरा कि लोग मारे प्रसन्नता के उछल पड़े, पर यह प्रसन्नता थोड़ी देर के लिये थी। ज्योंही पहले मनुष्य ने उस पर पैर रक्खा कि सीढ़ी का सिरा एक गेंद से बँधा हुआ लुढ़ककर नीचे गिरा। लोगों ने आश्चर्य के साथ देखा कि यह गेंद उसी बेईमान देशशत्रु का सिर था। क़िले के संत्री की दृष्टि उस पर पड़ गई थी और उसने उसका सिर काटकर सीढ़ी के साथ बाँध दिया था।

शत्रुओं ने दूसरा दिन क़िले के चारों ओर सुरंग लगाने और खाई खोदने में बिताया, पर इससे भी कोई लाभ न हुआ, क्योंकि क़िले में जो थोड़े से मनुष्य थे वे बाहर वालों को स्थान स्थान पर बहुत कुछ हानि पहुँचा सकते थे। इससे वे क़िले की दीवार में कुछ हानि न पहुँचा सके। अंत में वे लोग तोपख़ाने के पहुँचने की बाट देखने लगे। उन्हें पूरी आशा थी कि तोपख़ाने के पहुँचने पर पुर्तगाली गोलदाज़ जिस समय भयानक तोपों से गोले बरसाने लगेंगे उस समय तुरंत दीवार टूट जायगी। आधी रात के समय एक मनुष्य फाँदकर काँचली अर्थात् ज़र्दोज़ी अँगिया जिसमें मोती टकी हुई थी, लिए हुए पन्ना के पास पहुँचा। यह काँचली उमेदसिंह की ओर से पन्ना की राखी के उत्तर में उपहार में भेजी गई थी जिसका अर्थ यह था कि उसने पन्ना का नेवता स्वीकार कर लिया और सहायता देने के लिये तैयार

है। यह सुनकर और भी आशा बढ़ गई कि ज़ालिमसिंह भी उमेदसिंह के साथ अपने दल के साथ गोदावर की ओर आ रहा है।

जब उमेदसिंह और ज़ालिमसिंह, उमेदसिंह की सेना और ज़ालिमसिंह के पचास सरदारों के साथ सवार होकर चले तो दोनों ने मिलकर वहाँ की स्थिति पर विचार किया। उन्होंने सोचा कि हम लोगों के पास पाँच हज़ार सेना है और शत्रुओं ने कम से कम पंद्रह हज़ार सेना से घेरा डाला है, ऐसी दशा में इनसे लड़ाई छेड़ बैठना अच्छा न होगा। अंत में बहुत सोच विचारकर यही निश्चय किया कि इनका रास्ता पीछे से बंद कर रखना, जिसमे गुजरात से इनकी रसद आनी बंद हो जाय और इस उजाड़ और शत्रु के देश में कुछ मिले नहीं। इस तरह ये भूखे मर जायँगे। यह विचारकर उन लोगों ने गोदावर से दक्षिण पश्चिम की ओर बढ़कर अहमदाबाद की सड़क पर एक अच्छे सुरक्षित स्थान पर पड़ाव डाल दिया।

उनका डेरा पूरी तरह पर पड़ा भी न था कि एक राजपूत दौड़ता हुआ आया और बोला कि शत्रुओं का तोपख़ाना, रक्षा के लिये बड़ी सेना के साथ आ रहा है, और उसके अफ़सर लोग बहुत ही असावधानता के साथ आ रहे हैं। उमेदसिंह झटपट दो हज़ार सेना के साथ आगे बढ़े और उन्होंने सड़क के दोनों ओर अपनी सेना को एक सकरी जगह पर छिपा रक्खा। थोड़ी देर में तोपख़ाना धीरे धीरे आता हुआ दिखलाई पड़ा। गुजरात के प्रसिद्ध बैल तोपें खींच रहे थे। थोड़े से घोड़सवार आगे रास्ते की रक्षा के लिये थे, उन्हें बिना छेड़ छाड़ के राजपूतों ने निकल जाने दिया। जब तोपख़ाना पुर्तगाली

गोलंदाज़ों के साथ राजपूतों के बीचोबीच पहुँचा तो उन पर धावा करने की आज्ञा दी गई। देखते देखते गोलंदाज़ों पर गोली और तीरों की वर्षा होने लगी। वे लोग शत्रुओं को देख नहीं सकते थे, इसलिये ये जो बंदूक़ छोड़ते थे उनकी गोली व्यर्थ जाती थी। बैलों में बड़ी ही खड़बड़ाहट मच गई। उनमें से कई एक को अचानक गोली आकर लग गई थी। यह धावा ऐसी फ़ुर्ती के साथ हुआ कि जो थोड़े से मनुष्य तोपख़ाने के साथ थे ठहर न सके। जब वे ढेर के ढेर मारे जाने लगे तब हारकर उन्होंने राजपूतों के हाथ आत्मसमर्पण कर दिया। राजपूतों ने सोचा कि जो तोपें हम लोगों ने जीती हैं उनकी रक्षा हम लोग न कर सकेंगे क्योंकि हम कम हैं। ये हमारे लिये भारी बोझ हो जायँगी और हम लोग जिस फ़ुर्ती के साथ काम करना चाहते हैं उसमें बाधा डालेंगी। इसलिये उन्होंने तोपों को एक पास के तालाब में फेंक दिया और पुर्तगाली कैदियों और बैलों के साथ वे लोग अपने स्थापित पड़ाव पर आ गए। उन लोगों को अपनी इस सफलता पर बड़ा हर्ष हुआ। फ़ीरोज़शाह ने सोचा कि अब झटपट गोदावर का जीत लेना सहज़ नहीं है, क्योंकि एक भारी सेना ने हमको पीछे से घेर रक्खा है। इसके पहले ही धक्के में उनके छक्के छूट गए। गुजरातियों ने देखा कि आगे से लड़ने के बदले इन सभों ने पीछे से धावा कर दिया, इसका फल यह होगा कि हम सब इसी रेगिस्तान में मरकर रह जायँगे और फिर कभी अपनी मातृ-भूमि को न देख सकेंगे। उनका जी बिलकुल टूट गया।

इधर राजपूतों का हौसला बहुत ही बढ़ गया। तोपख़ाने के हाथ आने की ख़बर चारों ओर सारे देश में फैल गई। जो वीर

राजपूत सदा मुसल्मान शत्रुओं से लड़ने के लिये तैयार रहते हैं, वे सब के सब आकर मिलने लगे। नागौर राज्य के लोग भी अपने राज्य की रक्षा के लिये उत्साह के साथ आने लग गए। यद्यपि दक्षिण की लड़ाई में सब योद्धाओं के चले जाने से बूढ़े ही लोग घर पर रह गए थे पर इस समय इनका आना भी बहुत ही उपकारी था, क्योंकि उमेदसिंह की थोड़ी सी सेना की संख्या बढ़ जाने ही से बहुत कुछ काम निकल सकता था।

उधर फ़ीरोज़शाह की सेना और उसका बल घटने लगा, क्योंकि गुजरात का रास्ता बंद हो गया था इससे गोला बारूद और रसद आनी बंद हो गई, जो साथ था वह उठ चला, अब बस एक ही उपाय था कि जैसे बने गोदावर के क़िले की दीवारों को तोड़कर भीतर घुसें और जो सामान वहाँ बहुतायत से इकट्ठा है उसे हाथ करें। क़िले के सदर फाटक से बचकर एक स्थान पर एक सुरंग उड़ाई गई जिसमें सफलता हुई और कुछ दीवार गिर गई, तुरंत मुसल्मानों की सेना "दीनदीन" का कोलाहल करती हुई ऊपर चढ़ने लगी, इधर से राजपूतों ने भी उत्तर में "हर हर महादेव" की पुकार के साथ उनका उत्तर देना आरंभ किया। सुरंग उड़ने के शब्द से पीछे की राजपूत सेना ने अपने घिरे हुए भाइयों के भय का अनुमान किया। उमेदसिंह तुरंत अपनी सेना के साथ शत्रु की सेना पर पीछे से जाकर टूट पड़े और ठीक उसी ओर धावा किया जिधर से सुरंग उड़ाकर मुसल्मान लोग क़िले में घुसना चाहते थे। फ़ीरोज़शाह को इस उलटी चढ़ाई से हारकर अपनी उस सेना का मुँह फेरना पड़ा जो क़िले में घुसने वाली सेना की रक्षा के लिये तैयार थी। उसी समय ज़ालिमसिंह ने बड़ी ही फुर्ती के साथ अपने पचासों

सरदारों को लेकर चारों ओर घूम-घूमकर जहाँ जहाँ शत्रुओं को निर्बल पाया वहाँ वहाँ धावा करना आरंभ कर दिया। लड़ाई का स्रोत बदल जाने से क़िले में घुसने की इच्छा मुसल्मानों को छोड़ देनी पड़ी। खूब गहरी लड़ाई के पीछे जिसमें दो में से किसी की भी हार-जीत नहीं हुई, दोनों ओर की सेना अपने अपने डेरों में लौट आई। उस दिन की लड़ाई से फ़ीरोज़शाह ने मन में निश्चय किया कि जब तक हम उमेदसिंह की सेना को अच्छी तरह हरा न सकेंगे तब तक गोदावर में घुसना असंभव है। ठीक भी यही था कि जब तक वह ऐसा न कर लेगा और गुजरात का रास्ता साफ़ न हो जाय तब तक शत्रु के हाथ से हार न खाने पर भी उसकी सेना भूखों मर जायगी। इसलिये उसने दूसरे दिन अपनी मुख्य सेना को अपने पीछे की सेना पर चढ़ाई करने की आज्ञा दी और थोड़ी सी सेना पीछे छोड़ दी जिसमें गोदावर की सेना निकलकर पीछे से धावा न कर सके। तड़के ही मुसल्मानों की सेना का बड़ा भाग आगे बढ़ा और दोनों ओर से दो छोटे छोटे भाग घेरने के लिये तैनात किए गए। फ़ीरोज़शाह सबसे पीछे जड़ाऊ हौदे पर चढ़कर अपनी रक्षक सेना के साथ चला, उसके सिर पर छत्र चमचमा रहा था। राजपूतों को ऐसी भारी और सुशिक्षित सेना को लड़ाई में हरा देने की कम आशा थी। उन लोगों ने सोचा कि जो हम लोग जल्दी करके मुसल्मानों के सामने की सेना के बीच में घुसकर लड़ेंगे तो जो दाहिने बाएँ सेनापति हैं वे हम पर एकाएक टूट पड़ेंगे। उमेदसिंह सच्चा योद्धा था, वह लड़ाई के ढंग खूब समझता था, उसने निश्चय किया कि जो शत्रु की सेना आगे बढ़ रही है उसके साथ लड़ाई ठानना क्या है मानो

जान बूझकर हार बुलाता है। उसने निश्चय किया कि उन्हें छिपकर ही जीतना चाहिए। ज्यों ही मुसल्मानों की सेना गोली भर की दूरी पर आगे बढ़ी कि राजपूतों की सेना ने गोले और तीर की वर्षा आरंभ कर दी, और वे बड़ी चतुरता से और पीछे हटकर अच्छे मोरचे पर जम गए। यों ही हटते हटते शत्रुओं को गोदावर से बहुत दूर बढ़ा ले गए। तब उलटकर टूट पड़े। ज्योंही मुसल्मानों की सेना मार के सामने आ गई कि फुर्ती के साथ बट-बटकर राजपूत सेना एकाएकी दाहिनी ओर आधी घूम गई। मुख्य सेना ने जिसमें चार हज़ार सिपाही थे ज़ालिमसिंह की नायकता में मुसल्मानों पर बाईं ओर से धावा कर दिया, और थोड़ी ही घोर लड़ाई में उन्हें हटाकर बीच की शत्रु सेना के साथ मिलने पर लाचार कर दिया। विजयी राजपूत सेना ने जय के उमंग में वह काम कर डाला जो उनके नायकों ने सोचा भी नहीं था। उन्होंने अपने भालों के जंगल में मुसल्मान सेना को ऐसा घेर लिया कि उसे चीरकर बाहर निकलना मुसल्मानों के लिये कठिन हो गया। इधर ज़ालिमसिंह ने अपने पचास वीर सरदारों के साथ आगे बढ़नेवाली गुजराती सेना को तब तक रोक रक्खा था जब तक कि मुख्य राजपूत सेना अपने मोरचे के सामने आगई। जब तक यह सब हुआ तब तक कितने ही घोड़े और उनके सवार धरती पर छटपटाने लगे और उस रेतीली धरती पर लहू की नदी बह निकली।

इधर उमेदसिंह एक हज़ार चुने हुए योद्धाओं के साथ लड़ाई की भीड़ से बचकर घूमकर गोदावर के फाटक की ओर बढ़े। मानसिंह और पन्ना ने अपने पूर्वी ओर के सब से ऊँचे मीनार पर चढ़कर देखा कि बहुत दूर पर लड़ाई हो रही है।

पहले तो चारों ओर धूल ही के बादल दिखलाई पड़े, पर ध्यान करने पर सूर्योदय की किरनों में वीरों की तलवार, ढाल और जिरहबख़्तर की चमचमाहट दिखलाई पड़ने लगी। हैं ! वह क्या ? यह तो वहाँ से छूटकर एक दल गोदावर की ओर बढ़ा? क्या यह मुसल्मानों के भगेड़ सैनिक अपनी मुख्य सेना को भाग्याधीन छोड़कर भाग रहे हैं, या राजपूतों की सेना अरकंडा की रक्षा के लिये आ रही है। उन लोगों की दृष्टि तुरंत पचरंगे झंडे की फरफराहट पर पड़ी और वे झट समझ गए कि यह राजपूत सेना ही आरही है। इतने ही में अरकंडा के राजा की निज ध्वजा फहराती हुई दिखलाई पड़ी, पन्ना ने अनुमान किया कि यह उमेदसिंह ही आ रहे हैं। उसका जी कहने लगा कि यह भीरुओं या शत्रुओं का दल नहीं है। इतने ही में लोगों ने देखा कि यह दल वहाँ से छूटकर इसी क़िले में आ रहा है। मुसल्मानों की रक्षक सेना ने भी इन लोगों को आते देखा और वह फाटक के सामने तैयार होकर सामना करने के लिये खड़ी हो गई।

उमेदसिंह चढ़ाई करने की आज्ञा देने में कुछ ठहर गया। मुसल्मानों के सेनापति ने ललकारा "मेरे बहादुरो, आगे बढ़ो, देखते क्या हो, इन बढ़ते हुए दुश्मनों को काट डालो।" पर उमेदसिंह ने अपनी सेना इकट्ठी करके सामना करना उचित न समझा। उसने थोड़ा सा अवकाश दिया जिसमें उसके घोड़े और सवार दम भर दम ले लें जिसमें अच्छी तरह लड़ सकें। देखते देखते वह पहाड़ी भूमि चार हज़ार घोड़ों की टाप से गूंज उठी। इतने ही में सामने का शत्रु-दल छितिर बितिर होता दिखलाई पड़ा। दूसरा दल देर तक ठहरा पर अंत में वह भी क़िले के भीतर की मार से न ठहर सका। आगे और पीछे दोनों ओर की मार

से वे लोग अधिक ठहर न सके और भाग निकले। विजयी राजपूत सेना के लिये क़िले का फाटक खोल दिया गया और वे लोग अपने घायल और काम आए हुए वीरों की लाश के साथ क़िले में घुसे। सब सैनिक उमेद्‌सिंह को घेरकर जय जयकार का कोलाहल करने लगे। वैसे ही मानसिंह और उनके सरदारों ने आनंद-ध्वनि के साथ उनका स्वागत किया। बन्नी का भी बड़ा आदर सत्कार किया गया, वह भी अपने शत्रु से छीने हुए मुश्की घोड़े पर सवार उमेद्‌सिंह के साथ था।

फ़ीरोज़शाह राजपूतों की प्रधान सेना को हराकर जब अपने खेमें में लौटा तो उसने देखा कि उसका सारा उद्योग व्यर्थ गया। इधर जो राजपूत सेना हारी थी वह भागी नहीं थी, हटकर उसने उनका गुजरात का रास्ता बंद कर रक्खा था, उधर दल के दल राजपूत लोग इधर उधर से आ आकर रण-क्षेत्र में इकट्ठे हो रहे थे। उमेद्‌सिंह हज़ार सैनिकों के साथ गोदावर के क़िले में पहुँच गया था। वहाँ पानी और रसद इतनी बहुतायत न थी कि जब तक मानसिंह के लड़के दक्षिण से लौट आकर शत्रुओं को हटा न देंगे तब तक ये लोग भीतर से क़िले की रक्षा अच्छी तरह कर सकेंगे।

सब आगा पीछा सोचकर फ़ीरोज़शाह ने अब और ठहरना उचित न समझा। उसने उमेद्‌सिंह से मेल कर लेने की बात आरंभ कर दी। उसने इस बात का पूरा प्रण कराना चाहा कि जब वह लौटने लगेगा तब उसके साथ कोई छेड़छाड़ न होगी। राजपूतों ने इसे स्वीकार नहीं किया। तब फ़ीरोज़शाह ने कहा कि जो तुम कसम खाकर यह प्रतिज्ञा न करोगे कि हम लोगों के लौटने के समय तुम लोग पीछे से हम पर धावा न करोगे तो

यह समझ रखना कि नागौर हमारे हाथ में अब तक है । हम लौटते समय उसकी यह दशा कर डालेंगे कि तुम्हें एक भी ईंट वहाँ खड़ी न मिलेगी। इस धमकी का असर हुआ। राजपूतों ने प्रतिज्ञा की कि उनकी सेना बिना रोक-टोक के लौटने पावेगी। दूसरे दिन सबेरे ही फ़ीरोज़शाह ने अपनी सेना के साथ वहाँ से कूच कर दिया।

गुजरात के ऐसे प्रबल बादशाह के लौट जाने पर गोदावर में बड़ा उत्सव मनाया गया। मानसिंह बेर बेर अपनी कृतज्ञता प्रकाश करने लगे और हज़ार मुँह से उमेदसिंह की इस फुर्ती, चतुरता और योग्यता के साथ पहुँचकर सहायता करने की बड़ाई करने लगे। वे कहने लगे—"हम तुम्हारा बदला किस तरह चुका सकते हैं। तुमने हमारी और हमारी कुल-कामिनियों के जीवन और मान की रक्षा की है। तुम जो चाहो हम सब कुछ दे सकते हैं। हमें इस गोदावर या और जो वस्तु तुम्हें यहाँ प्रिय हो किसी के देने में संकोच न होगा।" उमेदसिंह ने कहा—"महाराज, जो ऐसी ही इच्छा आपकी हो तो जो अमूल्य रत्न आपके राज्य-घर को उज्वल कर रहा है उसी को हमें दीजिए।" मानसिंह ने सोचा कि यह उस हीरे को चाहते हैं जो कि उनके यहाँ बड़ों के समय से प्रसिद्ध चला आता है। उसने कहा—"मैं बड़े हर्ष के साथ उसे तुम्हारी भेंट करूँगा और वह तुम्हारे वंश में सदा बना रहेगा।" उमेदसिंह ने समझाया कि वह उस हीरे को नहीं चाहता, वह उनकी कन्या-रत्न को चाहता है। मानसिंह ने बहुत ही प्रसन्नता के साथ इस प्रार्थना को स्वीकार किया। पन्ना और उमेदसिंह का विवाह बड़े आनंद के साथ हुआ। नागौर और अरकंडा में धूमधाम से उत्सव मनाया गया। जो सब

राजपूत सरदार गोदावर की रक्षा के लिए आए थे, निमंत्रित हुए। धूमधाम के साथ विवाह हुआ। मानसिंह ने बहुत कुछ दान दहेज दिया और धूमधाम के साथ बारात बिदा हुई।

—राधाकृष्णदास

---

(४) सज्जनता का दंड

(१)

साधारण मनुष्यों की तरह शाहजहाँपुर के डिस्ट्रिक्ट इंजीनियर सरदार शिवसिंह में भी भलाइयाँ और बुराइयाँ दोनों ही वर्तमान थीं। भलाई यह थी कि उनके यहाँ न्याय और दया में कोई अंतर न था। बुराई यह थी कि वे सर्वथा निर्लोभ और निःस्वार्थ थे। भलाई ने मातहतों को निडर और आलसी बना दिया था; बुराई के कारण उस विभाग के सभी अधिकारीवर्ग उनके जानी दुश्मन बन गए थे।

प्रातःकाल था, वे किसी पुल की निगरानी के लिये तैयार खड़े थे मगर साईस अभी तक मीठी नींद सो रहा था। रात को उससे अच्छी तरह बता दिया गया था कि पौ फटने के पहले गाड़ी तैयार कर लेना। लेकिन सुबह भी हुई, सूर्य्य भगवान् ने दर्शन भी दिए; शीतल किरणों में गरमी भी आई—पर साईस की नींद अभी तक नहीं टूटी।

सरदार साहब खड़े खड़े थककर एक कुरसी पर बैठ गए। साईस तो किसी तरह जागा, परंतु अर्दली के चपरासियों का पता नहीं। जो महाशय डाक लेने गए थे, वे एक ठाकुरद्वारे में खड़े हुए चरणामृत की प्रतिक्षा कर रहे थे।

जो ठेकेदार को बुलाने गए थे, वे बाबा रामदास की सेवा में बैठे गाँजे का दम लगा रहे थे।

धूप अधिक होती जाती थी। सरदार साहब झुँझलाकर मकान में चले गए और अपनी पत्नी से बोले—"इतना दिन चढ़ आया। अभी तक एक चपरासी का भी पता नहीं, मेरा तो इनके मारे नाक में दम आगया है।"

पत्नी ने दीवार की ओर देखकर दीवार से कहा—"यह सब उन्हें सिर चढ़ाने का फल है।"

सरदार साहब चिढ़कर बोले—"तो क्या करूँ ? उन्हें फाँसी दे दूँ।"

(२)

सरदार साहब के पास मोटरकार का कहना ही क्या, कोई फ़िटिन भी न थी। वे अपने इक्के ही से प्रसन्न थे, जिसे उनके नौकर-चाकर अपनी भाषा में उड़नखटोला कहा करते थे, शहर के लोग उसे इतना आदर-सूचक नाम न देकर'छकड़ा कहना ही उचित समझते थे। इसी तरह सरदार साहब अन्य व्यवहारों में भी बड़े मितव्ययी थे। उनके दो भाई इलाहाबाद में पढ़ते थे, उनकी विधवा माता बनारस में रहती थीं, और एक विधवा बहिन भी उन्हीं पर अवलंबित थी। इसके सिवा कई ग़रीब लड़कों को वे छात्रवृत्तियाँ भी देते थे। इन्हीं कारणों से वे सदा धनहीन रहते थे, यहाँ तक कि उनके कपड़ों पर भी आर्थिक दशा के चिन्ह दिखाई देते थे।

लेकिन यह सब कष्ट सहने पर भी वे लोभ को अपने पास न फटकने देते थे। जिन लोगों पर उनका स्नेह था वे उनकी

सज्जनता को सराहते थे और उन्हें देवता समझते थे। उनकी सज्जनता से उन्हें कोई हानि न होती थी, लेकिन जिन लोगों से उनके व्यावसायिक संबंध थे, वे उनके सद्भावों के ग्राहक न थे, क्योंकि उन्हें हानि होती थी, यहाँ तक कि उन्हें अपनी सहधर्मिणी से भी कभी कभी अप्रिय बातें सुननी पड़ती थीं।

एक दिन वे जब दफ़्तर से आए तो उनकी पत्नी ने स्नेह-पूर्ण शब्दों में कहा—"तुम्हारी यह सज्जनता किस काम की, जब कि सारा संसार तुमको बुरा कह रहा है।"

सरदार ने दृढ़ता से जवाब दिया—"संसार जो चाहे कहे; परमात्मा तो देखता है।"

रामा ने यह जवाब पहले ही से सोच लिया था। वह बोली—"मैं तुमसे विवाद तो करती नहीं। मगर ज़रा अपने दिल में विचार करके देखिए कि आपकी इस सचाई का दूसरों पर क्या प्रभाव पड़ता है। आप तो अच्छा वेतन पाते हैं, अगर आप हाथ न बढ़ाएँ तो आपका निर्वाह हो सकता है। सूखी रोटियाँ मिल ही जायँगी। मगर ये दस दस पाँच पाँच रुपए के चपरासी, मुहर्रिर, दफ़्तरी बेचारे कैसे निर्वाह करें। उनके भी बाल-बच्चे हैं। उनके भी कुटुम्ब-परिवार है। शादी, ग़मी, तिथि-त्यौहार यह सब उनके साथ लगा हुआ है। भलमनसी का भेष बनाए बिना काम नहीं चलता। बताओ, उनका निर्वाह कैसे हो। अभी रामदीन चपरासी की घरवाली आई थी। रोते-रोते आँचल भीगता था। लड़की सयानी हो गई है। इसी वर्ष उसका ब्याह करना पड़ेगा। ब्राह्मण की जाति, हज़ारों का खर्च, बताओ उसके आँसू किसके सिर पड़ेंगे?

ये सब बातें सच थीं। इससे सरदार साहब को इनकार न हो सकता था। उन्होंने स्वयं इस विषय में बहुत कुछ विचार किया था। यही कारण था कि वे अपने मातहतों के साथ बड़ी नरमी का व्यवहार करते थे। लेकिन सरलता का आत्मिक गौरव चाहे जो हो, उसका आर्थिक मोल बहुत कम है। वे बोले—"तुम्हारी [illegible] सब यथार्थ हैं, मगर मैं विवश हूँ। अपने नियमों को कैसे तोड़ूँ। यदि मेरा बस चले तो मैं उन लोगों के वेतन बढ़ा दूँ। लेकिन यह नहीं हो सकता कि मैं स्वयं लूट मचाऊँ और उन्हें लूटने दूँ।"

रामा ने व्यंग्य-पूर्ण शब्दों में कहा—"तो यह हत्या किस पर पड़ेगी।"

सरदार साहब ने तीखे होकर उत्तर दिया—"यह हत्या उन लोगों पर पड़ेगी जो अपनी हैसियत और आमदनी से अधिक खर्च करना चाहते हैं। अर्दली बनकर क्यों वकील के लड़के से लड़की ब्याहने की ठानते हैं? दफ़्तरी को यदि टहलुवे की ज़रूरत हो तो पाप से कम नहीं। मेरे साईस की स्त्री अगर चाँदी की सिल गले में डालना चाहे तो उसकी मूर्खता है। इस झूठी बड़ाई का उत्तरदाता मैं नहीं हो सकता।"

(३)

इंजीनियरों का ठेकेदारों से कुछ वैसा ही संबंध है जैसा मधु-मक्खियों का फूलों से है। अगर वे अपने नियत भाग से अधिक पाने की चेष्टा न करें तो उनसे किसी को शिकायत नहीं हो सकती। यह मधु-रस कमीशन कहलाता है। रिश्वत

और कमीशन में बड़ा अंतर है। रिश्वत लोक और परलोक दोनों ही का सर्वनाश कर देती है। उसमें भय है, चोरी है, बदनामी है। मगर कमीशन एक मनोहर वाटिका है, जहाँ न मनुष्य का डर है, न परमात्मा का भय, यहाँ तक कि जहाँ आत्मा की छिपी हुई चुटकियों का भी गुज़र नहीं है। और कहाँ तक कहे, इसकी ओर बदनामी आँख भी नहीं उठा सकती। यह वह बलिदान है जो हत्या होते हुए भी धर्म का एक अंश है। ऐसी अवस्था में यदि सरदार शिवसिंह अपने उज्ज्वल चरित्र को इस धब्बे से निर्मल रखते थे और उस पर अभिमान करते थे तो वे क्षमा के पात्र थे।

मार्च का महीना बीत रहा था। चीफ़ इंजीनियर साहब ज़िले में मुआयना करने आ रहे थे। मगर अभी तक इमारतों का काम अपूर्ण था। सड़कें ख़राब हो रही थीं। ठेकेदारों ने मिट्टी और कंकड़ भी न जमा किया था।

सरदार साहब रोज़ ठेकेदारों को ताकीद करते थे, मगर इसका कुछ फल न होता था।

एक दिन उन्होंने सबको बुलाया। वे कहने लगे—"तुम लोग क्या यही चाहते हो कि मैं इस ज़िले से बदनाम होकर जाऊँ। मैंने तुम्हारे साथ कोई बुरा सलूक नहीं किया। मैं चाहता तो आप से काम छीनकर खुद करा लेता। मगर मैंने आपको हानि पहुँचाना उचित न समझा। उसकी मुझे यह सज़ा मिल रही है। खैर!"

ठेकेदार लोग यहाँ से चले तो बातें होने लगीं।

बाबू गोपालदास बोले—"अब आटे-दाल का भाव मालूम हो जायगा।"

शहबाज़ख़ाँ ने कहा—"किसी तरह इसका जनाज़ा निकले तो यहाँ से।"

सेठ चुन्नीलाल ने फ़रमाया—"इंजीनियर से मेरी जान पहचान है। मैं उनके साथ काम कर चुका हूँ। उन्हें खूब लथेडूँगा।"

इस पर बूढ़े हरिदास ने उपदेश दिया—"यारो स्वार्थ की बात और है। नहीं, सच तो यह है कि यह मनुष्य नहीं, देवता है। भला और नहीं तो साल भर में कमीशन के १० हज़ार तो होते होंगे। इतने रुपए को ठीकरे की तरह तुच्छ समझना क्या कोई साधारण बात है? एक हम हैं कि कौड़ियों के पीछे ईमान बेचते फिरते हैं। जो सज्जन पुरुष हमसे एक पाई का रवादार न हो, सब प्रकार के कष्ट उठाकर भी जिसकी इच्छा डाँवाडोल न हो, उसके साथ हमको ऐसा नीच और कुटिल बरताव करना पड़ता है। इसे अभाग्य के सिवा और क्या समझें।"

शहबाज़ख़ाँ ने फ़रमाया—"हाँ, इसमें तो कोई शक नहीं कि यह शख़्स नेकी का फ़रिश्ता है।"

सेठ चुन्नीलाल ने गंभीरता से कहा—"ख़ाँसाहब! बात तो यही है. जो तुम कहते हो। लेकिन किया क्या जाय, नेक-नीअ़ती से तो काम नहीं चलता। यह तो छल-कपट की दुनियां है।"

बाबू गोपालदास बी० ए० पास थे। वे गर्व के साथ बोले—"इन्हें जब इस तरह रहना था तो नौकरी करने की क्या ज़रूरत थी? यह कौन नहीं जानता कि नीअ़त को साफ़ रखना

अच्छी बात है। मगर यह भी तो देखना चाहिए कि इसका दूसरों पर क्या प्रभाव पड़ता है। हमको तो ऐसा आदमी चाहिए जो स्वयं खाय और हमें भी खिलाएँ। स्वयं हलुआ खाय, हमें रूखी रोटियाँ ही खिलाएँ। वह अगर एक रुपया कमीशन लेगा तो पाँच का फ़ायदा करा देगा। इन महाशय के यहाँ क्या है? इसीलिए आप जो चाहें कहें। मेरी तो कभी इनसे निभ ही नहीं सकती।"

शहबाज़ख़ाँ बोले—"हाँ, नेक और पाक-साफ़ रहना ज़रूर अच्छी चीज़ है। मगर ऐसी भी क्या नेकी, जो दूसरों की जान ही ले ले।"

बूढ़े हरिदास की बातों की जिन लोगों ने पुष्टि की थी वे सब गोपालदास की हाँ में हाँ मिलाने लगे। निर्बल आत्माओं में सचाई का प्रकाश, जुगनू की चमक है।

(५)

सरदार साहब के एक पुत्री थी। उसका विवाह मेरठ के एक वकील के लड़के से ठहरा था। लड़का होनहार था। जाति-कुल में ऊँचा था, सरदार साहब ने कई महीने की दौड़-धूप में इस विवाह को तय किया था। और सब बातें हो चुकी थीं, केवल दहेज़ का निर्णय न हुआ था। आज वकील साहब का एक पत्र आया। उसने इस बात का भी निश्चय कर दिया। मगर विश्वास, आशा, और वचन के बिलकुल प्रतिकूल! पहले वकील साहब ने एक ज़िले के इंजीनियर के साथ किसी प्रकार का ठहराव व्यर्थ समझा। बड़ी सस्ती उदारता प्रकट की। इस लज्जित और घृणित व्यवहार पर खूब आँसू बहाए।

मगर जब ज्यादा पूछ-ताँछ पर सरदार साहब के धन-वैभव का भेद खुल गया तब दहेज का ठहराना आवश्यक हो गया।

सरदार साहब ने आशंकित हाथों से पत्र खोला। पाँच हज़ार रुपए से कम पर विवाह नहीं हो सकता। वकील साहब को बहुत खेद और लज्जा थी कि वे इस विषय में स्पष्ट होने पर मजबूर किए गए। मगर वे अपने खानदान के कई बूढ़े, खुर्रांट, विचारहीन, स्वार्थांध महात्माओं के हाथों बहुत तंग थे। उनका कोई बस न था। इंजीनियर साहब ने एक लंबी साँस खींची। आशाएँ मिट्टी में मिल गईं। क्या सोचते थे, क्या हो गया। विकल होकर कमरे में टहलने लगे।

उन्होंने ज़रा देर पीछे पत्र को उठा लिया और अंदर चले। विचार था कि रामा को यह पत्र सुनावें। मगर फिर ख़्याल आया कि वहाँ सहानुभूति की कोई आशा नहीं। क्यों अपनी निर्बलता दिखाऊँ? क्यों मूर्ख बनूँ? वह बिना व्यंग्य कहे न रहेगी। यह सोचकर वे आँगन से लौट गए।

सरदार साहब स्वभाव के दयालु थे, और कोमल-हृदय आपत्तियों में स्थिर नहीं रह सकता। वे दुःख और ग्लानि से भरे हुए सोच रहे थे कि मैंने ऐसे कौन से कर्म किए हैं जिनका मुझे यह फल मिल रहा है। बरसों की दौड़-धूप के बाद जो कार्य्य सिद्ध हुआ था वह क्षण-मात्र में नष्ट हो गया। अब वह मेरे सामर्थ्य से बाहर है। मैं उसे नहीं सँभाल सकता। चारों ओर अंधकार है, आशा का प्रकाश नहीं, कोई मेरा सहायक नहीं। उनके नेत्र सजल हो गए।

सामने मेज़ पर ठेकेदारों के बिल रक्खे हुए थे। वे कई

सप्ताह से यों ही पड़े थे। सरदार साहब ने उन्हें खोलकर भी न देखा था। आज इस आत्मिक ग्लानि और नैराश्य की अवस्था में उन्होंने इन बिलों को सतृष्ण आँखों से देखा। ज़रा से इशारे पर ये सारी कठिनाइयाँ दूर हो सकती हैं। चपरासी और क्लार्क केवल मेरी सम्मति के सहारे सब कुछ कर लेंगे। मुझे ज़बान हिलाने की भी कोई ज़रूरत नहीं। न मुझे लज्जित ही होना पड़ेगा। इन विचारों का इतना प्राबल्य हुआ कि वे वास्तव में बिलों को उठाकर ग़ौर से देखने और हिसाब लगाने लगे कि उनमें कितनी निकासी हो सकती है।

मगर शीघ्र ही आत्मा ने उन्हें जगा दिया—आह! मैं किस भ्रम में पड़ा हुआ हूँ? क्या उस आत्मिक पवित्रता को, जो मेरी आजन्म की कमाई है; केवल थोड़े से धन पर अर्पण कर दूँ? मैं जो अपने सहकारियों के सामने गर्व से सिर उठाए चलता हूँ, जिससे मोटरकार वाले मेरे भ्रातृगण मुझसे आँखें नहीं मिला सकते, वही आज अपने उस सारे गौरव और मान को—अपनी संपूर्ण आत्मिक सम्पत्ति को—दस-पाँच हज़ार रुपयों पर त्याग दूँ! ऐसा कदापि नहीं हो सकता।

तब उस कुचेष्टा को परास्त करने के लिए, जिसने क्षण-मात्र के लिये उन पर विजय पा ली थी, वे उस सुनसान कमरे में ज़ोर से ठट्ठा मारकर हँसे। चाहे यह हँसी उन बिलों ने और कमरे की दीवारों ने न सुनी हो, मगर उनकी आत्मा ने अवश्य सुनी। उस आत्मा को एक कठिन परीक्षा से पार पड़ने पर परमानंद हुआ।

सरदार साहब ने उन बिलों को उठाकर मेज़ के नीचे

डाल दिया। फिर उन्हें पैरों से खूब कुचला। तब इस भारी विजय पर मुसकराते हुए वे अंदर गए।

(५)

बड़े इंजीनियर साहब नियत समय पर शाहजहाँपुर आए। उनके साथ सरदार साहब का दुर्भाग्य भी आया। ज़िले के सारे काम अधूरे पड़े हुए थे। उनके खानसामा ने कहा—"हुज़ूर! काम कैसे पूरा हो। सरदार साहब ठेकेदारों को बहुत तंग करते हैं। हेडक्लार्क ने दफ़्तर के हिसाब को भ्रम और भूलों से भरा हुआ पाया। उन्हें सरदार साहब की तरफ़ से न कोई दावत की गई, न कोई भेंट। तो क्या वे सरदार साहब के कोई नातेदार थे जो गलतियाँ न निकालते?

ज़िले के ठेकेदारों ने एक बहुमूल्य डाली सजाई और उसे बड़े इंजीनियर साहब की सेवा में लेकर उपस्थित हुए। वे बोले— "हुज़ूर! चाहे गुलामों को गोली मार दें मगर सरदार साहब का अन्याय अब नहीं सहा जाता। कहने को तो कमीशन नहीं लेते, मगर सच पूछिए तो जान ले लेते हैं।"

चीफ़ इंजीनियर साहब ने मुआइने की किताब में लिखा— "सरदार शिवसिंह बहुत ईमानदार आदमी हैं। उनका चरित्र उज्ज्वल है। मगर वे इतने बड़े ज़िले के कार्य्य का भार नहीं सँभाल सकते।"

परिणाम यह हुआ कि वे एक छोटे ज़िले में भेज दिए गए और उनका दरजा भी घटा दिया गया।

सरदार साहब के मित्रों और स्नेहियों ने बड़े समारोह से एक जलसा किया। उसमें उनकी धर्मनिष्ठा और स्वतंत्रता की

प्रशंसा भी की। सभापति ने सजल नेत्र होकर कंपित स्वर से कहा—"सरदार साहब के वियोग का दुःख हमारे दिल में सदा खटकता रहेगा। यह घाव कभी न भरेगा।" मगर "फ़ेयरवेल डिनर" में यह बात सिद्ध होगई कि स्वादिष्ट पदार्थों के सामने वियोग का दुःख दुस्सह नहीं होता।"

यात्रा के सामान तैयार थे। सरदार साहब जलसे से आए तो रामा ने उन्हें बहुत उदास और मलिन-मुख देखा। उसने बार-बार कहा था कि बड़े इंजीनियर के ख़ानसामों को इनाम दो। हेडक्लार्क की दावत करो। मगर सरदार साहब ने उसकी बात न मानी थी। इसलिये जब उसने सुना कि उनका दरजा भी घटा और बदली भी हुई तब उसने बड़ी निर्दयता से अपने व्यंग्य-बाण चलाए। मगर इस समय उन्हें उदास देखकर उससे न रहा गया। बोली—"क्यों इतने उदास हो?" सरदार साहब ने उत्तर दिया, "क्या करूँ हँसूँ?" रामा ने गंभीर स्वर से कहा—"हँसना ही चाहिए। रोये तो वह जिसने कौड़ियों पर अपनी आत्मा भ्रष्ट की हो, जिसने रुपयों पर अपना धर्म बेचा हो। यह बुराई का दंड नहीं है। यह भलाई और सज्ज-नता का दंड है। इसे सानंद झेलना चाहिए।"

यह कहकर उसने पति की ओर देखा तो नेत्रों में सच्चा अनुराग भरा हुआ दिखाई दिया। सरदार साहब ने भी उसकी ओर स्नेहपूर्ण दृष्टि से देखा। उनकी हृदयेश्वरी का मुखारविंद सच्चे आमोद से विकसित था। उसे गले लगाकर वे बोले—"रामा! मुझे तुम्हारी ही सहानुभूति की आवश्यकता थी। अब मैं इस दंड को सहर्ष सहूँगा।" —प्रेमचंद

---

(५) ममता

रोहतास-दुर्ग के एक प्रकोष्ठ में बैठी हुई युवती ममता, शोण के तीक्ष्ण गंभीर प्रवाह को देख रही है। ममता विधवा थी। उसका यौवन शोण के समान ही उमड़ रहा था। मन में वेदना, मस्तक में आँधी, आँखों में पानी की बरसात लिए, वह सुख के कंटक-शयन में विकल थी। वह रोहतास-दुर्गपति के मंत्री चूड़ामणि की अकेली दुहिता थी, फिर उसके लिये कुछ अभाव होना असंभव था, परंतु वह विधवा थी,—हिन्दू-विधवा संसार में सबसे तुच्छ निराश्रय प्राणी है, तब उसकी विडंबना का कहाँ अंत था ?

चूड़ामणि ने चुपचाप उसके प्रकोष्ठ में प्रवेश किया। शोण के प्रवाह में, उसके कल-नाद में, अपना जीवन मिलाने में वह बेसुध थी। पिता का आना न जान सकी। चूड़ामणि व्यथित हो उठे। स्नेह-पालिता पुत्री के लिये क्या करें, यह स्थिर न कर सकते थे। लौटकर बाहर चले गए। ऐसा प्रायः होता पर आज मंत्री के मन में बड़ी दुश्चिंता थी। पैर सीधे न पड़ते थे।

एक पहर बीत जाने पर वे फिर ममता के पास आए। उस समय उनके पीछे दस सेवक चाँदी के बड़े थालों में कुछ लिए हुए खड़े थे, कितने ही मनुष्यों के पद-शब्द सुन ममता ने घूमकर देखा। मंत्री ने सब थालों को रखने का संकेत किया। अनुचर थाल रखकर चले गए।

ममता ने पूछा—"यह क्या है पिताजी ?"

"तेरे लिये बेटी ! उपहार है।"—कहकर चूड़ामणि ने

उसका आवरण उलट दिया। स्वर्ण का पीलापन उस सुनहली संध्या में विकीर्ण होने लगा। ममता चौंक उठी—

"इतना स्वर्ण! यह कहाँ से आया?"

"चुप रहो ममता, यह तुम्हारे लिये है।"

"तो क्या आपने म्लेच्छ का उत्कोच स्वीकार कर लिया? पिताजी! यह अनर्थ है, अर्थ नहीं। लौटा दीजिये। पिताजी! हम लोग ब्राह्मण हैं, इतना सोना लेकर क्या करेंगे?"

"इस पतनोन्मुख प्राचीन सामंत-वंश का अंत समीप है। बेटी, किसी भी दिन शेरशाह रोहिताश्व पर अधिकार कर सकता है; उस दिन मंत्रित्व न रहेगा, तब के लिये बेटी!"

"हे भगवन्! तब के लिये! विपद् के लिये! इतना आयोजन! परमपिता की इच्छा के विरुद्ध इतना साहस! पिताजी क्या भीख न मिलेगी? क्या कोई हिंदू भूपृष्ठ पर न बच रह जायगा, जो ब्राह्मण को दो मुट्ठी अन्न दे सके? यह असंभव है। फेर दीजिए पिताजी, मैं काँप रही हूँ—इसकी चमक आँखों को अंधा बना रही है।"

"मूर्ख है" कहकर चूड़ामणि चले गए।

× × × ×

दूसरे दिन जब डोलियों का ताँता भीतर आ रहा था, ब्राह्मण मंत्री चूड़ामणि का हृदय धक-धक करने लगा। वह अपने को रोक न सका। उसने जाकर रोहिताश्व दुर्ग के तोरण पर डोलियों का आवरण खुलवाना चाहा। पठानों ने कहा—

"यह महिलाओं का अपमान करना है।"

बात बढ़ गई। तलवारें खिचीं, ब्राह्मण वहीं मारा गया और राजा-रानी, कोष, सब छली शेरशाह के हाथ पड़े; निकल गई ममता। डोली में भरे हुए पठान-सैनिक दुर्ग-भर में फैल गये, पर ममता न मिली।

काशी के उत्तर धर्मचक्र विहार, मौर्य और गुप्त सम्राटों की कीर्ति का खँडहर था। भग्न-चूड़ा, तृण-गुल्मों से ढके हुए प्राचीर, ईंटों के ढेर में बिखरी हुई भारतीय शिल्प की विभूति, ग्रीष्म रजनी की चंद्रिका में अपने को शीतल कर रही थी।

जहाँ पंचवर्गीय भिक्षु गौतम का उपदेश ग्रहण करने के लिये पहले मिले थे, उसी स्तूप के भग्नावशेष की मलिन छाया में एक झोपड़ी के दीपालोक में एक स्त्री पाठ कर रही थी—

"अनन्याश्चिंतयंतो मां ये जनाः पर्युपासते···"

पाठ रुक गया। एक भीषण और हताश आकृति दीप के मंद प्रकाश में सामने खड़ी थी। स्त्री उठी, उसने कपाट बंद करना चाहा, परंतु उस व्यक्ति ने कहा—"माता! मुझे आश्रय चाहिए।"

"तुम कौन हो?"—स्त्री ने पूछा।

"मैं मुगल हूँ। चौसा-युद्ध में शेरशाह से विपन्न होकर रक्षा चाहता हूँ। इस रात अब आगे चलने में असमर्थ हूँ।"

"क्या शेरशाह से!"—स्त्री ने अपने ओठ काट लिए।

"हाँ माता!"

"परंतु तुम भी वैसे ही क्रूर हो, वही भीषण रक्त की प्यास, वही निष्ठुर प्रतिबिंब, तुम्हारे मुख पर भी है! सैनिक! मेरी कुटी में स्थान नहीं, जाओ कहीं दूसरा आश्रय खोज लो।"

"गला सूख रहा है, साथी छूट गए हैं, अश्व गिर पड़ा है—इतना थका हुआ हूँ, इतना !"—कहते कहते वह व्यक्ति धम से बैठ गया और उसके सामने ब्रह्मांड घूमने लगा। स्त्री ने सोचा, यह विपत्ति कहाँ से आई ! उसने जल दिया, मुगल के प्राणों की रक्षा हुई। वह सोचने लगी—"सब विधर्मी दया के पात्र नहीं—मेरे पिता का बध करनेवाले आततायी !"—घृणा से उसका मन विरक्त होगया।

स्वस्थ होकर मुगल ने कहा—"माता ! तो फिर मैं चला जाऊँ ?"

स्त्री विचार कर रही थी—"मैं ब्राह्मणी हूँ, मुझे तो अपने धर्म – अतिथिदेव की उपासना का पालन करना चाहिए। परंतु यहाँ…नहीं, नहीं, सब विधर्मी दया के पात्र नहीं। परंतु यह दया तो नहीं…कर्त्तव्य करना है। तब ?"

मुगल अपनी तलवार टेककर उठ खड़ा हुआ। ममता ने कहा—"क्या आश्चर्य है कि तुम भी छल करो; ठहरो।"

"छल ! नहीं, तब नहीं स्त्री ! जाता हूँ, तैमूर का वंशधर स्त्री से छल करेगा ! जाता हूँ। भाग्य का खेल है।"

ममता ने मन में कहा—"यहाँ कौन दुर्ग है ! यही झोपड़ी न, जो चाहे ले ले, मुझे तो अपना कर्त्तव्य करना पड़ेगा।" वह बाहर चली आई और मुगल से बोली—"जाओ भीतर, थके हुए भयभीत पथिक ! तुम चाहे कोई हो, मैं तुम्हें आश्रय देती हूँ। मैं ब्राह्मण-कुमारी हूँ; सब अपना धर्म छोड़ दें, तो मैं भी क्यों छोड़ दूँ" मुगल ने चंद्रमा के मंद प्रकाश में वह महिमामय मुखमंडल देखा, उसने मन ही मन नमस्कार किया।

ममता पास की टूटी हुई दीवारों में चली गई। भीतर थके पथिक ने झोपड़ी में विश्राम किया।

× × × ×

प्रभात में खँडहर की संधि से ममता ने देखा, सैकड़ों अश्वारोही उस प्रांत में घूम रहे हैं। वह अपनी मूर्खता पर अपने को कोसने लगी।

अब उस झोपड़ी से निकलकर उस पथिक ने कहा—"मिरज़ा! मैं यहाँ हूँ।"

शब्द सुनते ही प्रसन्नता की चीत्कार-ध्वनि से वह प्रांत गूँज उठा। ममता अधिक भयभीत हुई। पथिक ने कहा—"वह स्त्री कहाँ है? उसे खोज निकालो।" ममता छिपने के लिये अधिक सचेष्ट हुई। वह मृग-दाव में चली गई। दिन-भर उसमें से न निकली। संध्या में जब उन लोगों के जाने का उपक्रम हुआ, तो ममता ने सुना, पथिक घोड़े पर सवार होते हुए कह रहा है—"मिरज़ा! उस स्त्री को मैं कुछ दे न सका। उसका घर बनवा देना, क्योंकि मैंने विपत्ति में वहाँ विश्राम पाया था। यह स्थान भूलना मत।" इसके बाद वे चले गए।

× × × ×

चौसा के मुगल-पठान-युद्ध को बहुत दिन बीत गए। ममता अब सत्तर वर्ष की वृद्धा है। वह अपनी झोपड़ी में एक दिन पड़ी थी। शीतकाल का प्रभात था। उसका जीर्ण कंकाल खाँसी से गूँज रहा था। ममता की सेवा के लिये गाँव की दो तीन स्त्रियाँ उसे घेरकर बैठी थीं; क्योंकि वह आजीवन सबके सुख-दुःख की समभागिनी रही।

ममता ने जल पीना चाहा, एक स्त्री ने सीपी से जल

पिलाया। सहसा एक अश्वारोही उसी झोपड़ी के द्वार पर दिखाई पड़ा। वह अपनी धुन में कहने लगा—"मिरजा ने जो चित्र बनाकर दिया है, वह तो इसी जगह का होना चाहिए। वह बुढ़िया मर गई होगी, अब किससे पूछूँ कि एक दिन शाहंशाह हुमायूँ किस छप्पर के नीचे बैठे थे? यह घटना भी तो सैंतालीस वर्ष से ऊपर की हुई!"

ममता ने अपने विकल कानों से सुना। उसने पास की स्त्री से कहा—"उसे बुलाओ।"

अश्वारोही पास आया। ममता ने रुक रुककर कहा—"मैं नहीं जानती कि वह शाहंशाह था, या साधारण मुगल; पर एक दिन इसी झोपड़ी के नीचे वह रहा। मैंने सुना था कि वह मेरा घर बनवाने की आज्ञा दे चुका था, मैं आजीवन अपनी झोपड़ी खोदवाने के डर से भीतर ही थी! भगवान् ने सुन लिया, मैं आज इसे छोड़े जाती हूँ। अब तुम इसका मकान बनाओ या महल—मैं अपने चिर-विश्रामगृह में जाती हूँ!"

वह अश्वारोही अवाक् खड़ा था। बुढ़िया के प्राणपक्षी अनंत में उड़ गए।

× × × ×

वहाँ एक अष्टकोण मंदिर बना और उस पर शिलालेख लगाया गया—

"सातों देश के नरेश हुमायूँ ने एक दिन यहाँ विश्राम किया था। उनके पुत्र अकबर ने उसकी स्मृति में यह गगन-चुंबी मंदिर बनाया।"

पर उसमें ममता का कहीं नाम नहीं।

—जयशंकर 'प्रसाद'

(६) उसने कहा था

(१)

बड़े बड़े शहरों के इक्के-गाड़ीवालों की जवान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है और कान पक गए हैं उनसे हमारी प्रार्थना है कि अमृतसर के वंबूकार्टवालों की बोली का मरहम लगावें। जब बड़े बड़े शहरों की चौड़ी सड़कों पर घोड़े की पीठ को चाबुक से धुनते हुए इक्केवाले कभी घोड़े की नानी से अपना निकट संबंध स्थिर करते हैं, कभी राह चलते पैदलों की आँखों के न होने पर तरस खाते हैं, कभी उनके पैरों की अँगुलियों के पोरों को चीथकर अपने ही को सताया हुआ बताते हैं और संसार-भर की ग्लानि, निराशा और क्षोभ के अवतार बने नाक की सीध चले जाते हैं, तब अमृतसर में उनकी बिरादरीवाले, तंग चक्करदार गलियों में, हर एक लड्ढीवाले के लिये ठहरकर, सब्र का समुद्र उमाड़कर, 'बचो खालसाजी,' 'हटो भाईजी,' 'ठहरना भाई,' 'आने दो लालाजी,' हटो बाछा,' कहते हुए सफेद फेटों, खच्चरों और बतकों, गन्ने और खोमचे और भारेवालों के जंगल में से राह खेते हैं। क्या मजाल है कि जी और साहब बिना सुने किसी को हटना पड़े। यह बात नहीं कि उनकी जीभ चलती ही नहीं, चलती है, पर मीठी छुरी की तरह महीन मार करती है। यदि कोई बुढ़िया बार बार चितौनी देने पर भी लीक से नहीं हटती तो उनकी वचनावली के ये नमूने हैं—हट जा, जीणे जोगिए; हट जा, करमावालिए; हट जा, पुत्तां प्यारिए; बच जा, लंबी वालिए। समष्टि में इसका अर्थ है कि तू जीने

योग्य है, तू भाग्योंवाली है, पुत्रों को प्यारी है, लंबी उमर तेरे सामने है, तू क्यों मेरे पहियों के नीचे आना चाहती है? बच जा।

ऐसे बंबूकार्टवालों के बीच में होकर एक लड़का और लड़की चौक की दुकान पर आ मिले। उसके बालों और इसके ढीले सुथने से जान पड़ता था कि दोनों सिख हैं। वह अपने मामा के केश धोने के लिये दही लेने आया था और यह रसोई के लिये बड़ियाँ। दुकानदार एक परदेशी से गुथ रहा था, जो सेर भर गीले पापड़ों की गड्डी को गिने बिना हटता न था।

'तेरे घर कहाँ हैं?'

'मगरे में;—और तेरे?'

'माझे में;—यहाँ कहाँ रहती है?'

'अतरसिंह की बैठक में, वे मेरे मामा होते हैं।'

"मैं भी मामा के यहाँ आया हूँ, उनका घर गुरुबजार में है।'

इतने में दुकानदार निबटा और इनका सौदा देने लगा। सौदा लेकर दोनों साथ साथ चले। कुछ दूर जाकर लड़के ने मुसकराकर पूछा—

'तेरी कुड़माई (= सगाई) हो गई?' इस पर लड़की कुछ आँखें चढ़ाकर 'धत्' कहकर दौड़ गई और लड़का मुँह देखता रह गया।

दूसरे तीसरे दिन सब्जीवाले के यहाँ, या दूधवाले के यहाँ, अकस्मात् दोनों मिल जाते। महीना भर यही हाल रहा। दो-तीन बार लड़के ने फिर पूछा, 'तेरी कुड़माई हो गई?' और

उत्तर में वही 'धत्' मिला। एक दिन जब फिर लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिये पूछा तब लड़की, लड़के की संभावना के विरुद्ध, बोली—'हाँ, हो गई।'

'कब ?'

'कल;—देखते नहीं यह रेशम से कढ़ा हुआ सालू।' लड़की भाग गई। लड़के ने घर की राह ली। रास्ते में एक लड़के को मोरी में ढकेल दिया, एक छाबड़ीवाले (= खोमचेवाले) की दिन-भर की कमाई खोई, एक कुत्ते पर पत्थर मारा और एक गोभीवाले के ठेले में दूध उड़ेल दिया। सामने नहाकर आती हुई किसी वैष्णवी से टकराकर अंधे की उपाधि पाई। तब कहीं घर पहुँचा।

(२)

"राम राम, यह भी कोई लड़ाई है! दिन-रात खंदकों में बैठे हड्डियाँ अकड़ गईं। लुधियाने से दस गुना जाड़ा, और मेंह और बरफ ऊपर से। पिंडलियों तक कीचड़ में धँसे हुए हैं। गनीम कहीं दिखाता नहीं;—घंटे दो घंटे में कान के परदे फाड़नेवाले धमाके के साथ सारी खंदक हिल जाती है और सौ सौ गज धरती उछल पड़ती है। इस गैबी गोले से बचे तो कोई लड़े। नगरकोट का जलजला सुना था, यहाँ दिन में पचीस जलजले होते हैं। जो कहीं खंदक से बाहर साफा या कुहनी निकल गई तो चटाक् से गोली लगती है। न मालूम बेईमान मिट्टी में लेटे हुए हैं या घास की पत्तियों में छिपे रहते हैं।"

"लहनासिंह, और तीन दिन हैं। चार तो खंदक में बिता ही दिए। परसों 'रिलीफ' आ जायगी और फिर सात दिन की छुट्टी। अपने हाथों झटका करेंगे और पेट-भर खाकर सो रहेंगे। उसी फरंगी मेम के बाग में—मखमल की सी हरी घास है। फल और दूध की वर्षा कर देती है। लाख कहते हैं, दाम नहीं लेती। कहती है, तुम राजा हो, मेरे मुल्क को बचाने आए हो।"

"चार दिन तक पलक नहीं झँपी। बिना फेरे घोड़ा बिगड़ता है और बिना लड़े सिपाही। मुझे तो संगीन चढ़ाकर मार्च का हुक्म मिल जाय। फिर सात जर्मनों को अकेला मारकर न लौटूँ तो मुझे दरबार साहब की देहली पर मत्था टेकना नसीब न हो। पाजी कहीं के, कलों के घोड़े-संगीन देखते ही मुँह फाड़ देते हैं और पैर पकड़ने लगते हैं। यों अँधेरे में तीस तीस मन का गोला फेंकते हैं। उस दिन धावा किया था—चार मील तक एक जर्मन नहीं छोड़ा था। पीछे जरनल साहब ने हट आने का कमान दिया, नहीं तो—"

"नहीं तो सीधे बर्लिन पहुँच जाते। क्यों?" सूबेदार हजारासिंह ने मुसकुराकर कहा—"लड़ाई के मामले जमादार या नायक के चलाए नहीं चलते। बड़े अफसर दूर की सोचते हैं। तीन सौ मील का सामना है। एक तरफ बढ़ गए तो क्या होगा?"

"सूबेदारजी, सच है" लहनासिंह बोला—"पर करें क्या? हड्डियों में जो जाड़ा धँस गया है। सूर्य निकलता नहीं और खाई में दोनों तरफ से चंबे की बावलियों के से सोते झर रहे हैं। एक धावा हो जाय तो गरमी आ जाय।"

"उदमी, उठ, सिगड़ी में कोले डाल। वजीरा, तुम चार जने बाल्टियाँ लेकर खाई का पानी बाहर फेंको। महासिंह, शाम हो गई है, खाई के दरवाजे का पहरा बदला दे।" यह कहते हुए सूबेदार सारी खंदक में चक्कर लगाने लगे।

वजीरासिंह पलटन का विदूषक था। बाल्टी में गँदला पानी भरकर खाई के बाहर फेंकता हुआ बोला—"मैं पाधा (=पुरोहित) बन गया हूँ। करो जर्मनी के बादशाह का तर्पण!" इस पर सब खिलखिला पड़े और उदासी के बादल फट गए।

लहनासिंह ने दूसरी बाल्टी भरकर उसके हाथ में देकर कहा—"अपनी बाड़ी के खरबूजों में पानी दो। ऐसा खाद का पानी पंजाब-भर में नहीं मिलेगा।"

"हाँ, देश क्या है, स्वर्ग है। मैं तो लड़ाई के बाद सरकार से दस घुमा जमीन यहाँ माँग लूँगा और फलों के बूटे लगाऊँगा।"

"लाड़ी होराँ (=स्त्री) को भी यहाँ बुला लोगे? या वही दूध पिलानेवाली फरंगी मेम—"

"चुप कर। यहाँ वालों को शरम नहीं।"

"देस देस की चाल है। आज तक मैं उसे समझा न सका कि सिख तमाकू नहीं पीते। वह सिगरेट देने में हठ करती है, ओठों में लगाना चाहती है, और मैं पीछे हटता हूँ तो समझती है कि राजा बुरा मान गया, अब मेरे मुलक के लिये लड़ेगा नहीं!"

"अच्छा, अब बोधसिंह कैसा है?"

"अच्छा है।"

"जैसे मैं जानता ही न होऊं। रात-भर तुम अपने दोनों ंबल उसे उढ़ाते हो और आप सिगड़ी के सहारे गुजर करते ो। उसके पहरे पर आप पहरा दे आते हो। अपने सूखे कड़ी के तख्तों पर उसे सुलाते हो, आप कीचड़ में पड़े हते हो। कहीं तुम न माँदे पड़ जाना। जाड़ा क्या है मौत है. और "निमोनिया" से मरने वालों को मुरब्बे नहीं मिला करते।"

"मेरा डर मत करो। मैं तो बुलेल की खड्ड के किनारे रूंगा। भाई कीरतसिंह की गोदी पर मेरा सिर होगा और रे हाथ के लगाए हुए आँगन के आम के पेड़ की छाया होगी।"

"वजीरासिंह ने त्यौरी चढ़ाकर कहा—"क्या मरने-मराने की बात लगाई है! मरे जर्मनी और तुरक! हाँ भाइयो, कुछ गाओ!"

× × × ×

कौन जानता था कि दाढ़ियोंवाले; घरबारी सिख गंदे गीत गायेंगे, पर सारी खंदक गीत से गूंज उठी और सिपाही फिर ताजे हो गए, मानों चार दिन से सोते और मौज ही करते रहे हों।

(३)

दो पहर रात गई है। अँधेरा है! सन्नाटा छाया हुआ है। ोधसिंह खाली बिसकुटों के तीन टिनों पर अपने दोनों कंबल बिछाकर और लहनासिंह के दो कंबल और एक बरानकोट ओढ़कर सो रहा है। लहनासिंह पहरे पर खड़ा हुआ है। एक आँख खाई के मुँह पर है और एक बोधसिंह के दुबले शरीर पर। बोधसिंह ने कराहा।

"क्यों बोधा भाई, क्या है ?"

"पानी पिला दो ।"

लहनासिंह ने कटोरा उसके मुँह से लगाकर पूछा—"कहो कैसे हो ?" पानी पीकर बोधा बोला—"कँपनी छुट रही है। रोम रोम में तार दौड़ रहे हैं। दाँत बज रहे हैं।"

"अच्छा मेरी जरसी पहन लो।"

"और तुम ?"

"मेरे पास सिगड़ी है और मुझे गर्मी लगती है; पसीना आ रहा है।"

"ना, मैं नहीं पहिनता; चार दिन से तुम मेरे लिए—"

हाँ, याद आई। मेरे पास दूसरी गरम जरसी है। आज सबेरे ही आई है। विलायत से मेमें बुन-बुनकर भेज रही हैं।

'गुरु उनका भला करें।" यों कहकर लहना अपना कोट उतारकर जरसी उतारने लगा।

"सच कहते हो ?"

"और नहीं झूठ ?" यों कहकर नाहीं करते बोधा को उसने जबरदस्ती जरसी पहना दी और आप खाकी कोट और जीन का कुरता-भर पहनकर पहरे पर आ खड़ा हुआ। मेम की जरसी की कथा केवल कथा थी।

आधा घंटा बीता, इतने में खाई के मुँह से आवाज आई—"सूबेदार हजारासिंह !"

कौन ? लपटन साहब ? हुकुम हुजूर" कहकर सूबेदार तनकर फौजी सलाम करके सामने हुआ।

"देखो, इसी दम धावा करना होगा। मील-भर की दूरी पूरब के कोने में एक जर्मन खाई है। उसमें पचास से ज्यादह जर्मन नहीं हैं। इन पेड़ों के नीचे नीचे दो खेत काटकर रास्ता है। तीन-चार घुमाव हैं। जहाँ मोड़ है वहाँ पंद्रह जवान खड़े कर आया हूँ। तुम यहाँ दस आदमी छोड़कर सब को साथ ले उनसे जा मिलो। खंदक छीनकर वहीं, जब तक दूसरा हुक्म न मिले, डटे रहो। हम यहाँ रहेगा।"

"जो हुक्म।"

चुप-चाप सब तैयार हो गए। बोधा भी कंबल उतारकर चलने लगा। तब लहनासिंह ने उसे रोका। लहनासिंह आगे हुआ तो बोधा के बाप सूबेदार ने उंगली से बोधा की ओर इशारा किया। लहनासिंह समझकर चुप होगया। पीछे दस आदमी कौन रहें, इस पर बड़ी हुज्जत हुई। कोई रहना न चाहता था। समझा-बुझाकर सूबेदार ने मार्च किया। लपटन साहब लहना की सिगड़ी के पास मुँह फेरकर खड़े हो गए और जेब से सिगरेट निकालकर सुलगाने लगे। दस मिनट बाद उन्होंने लहना की ओर हाथ बढ़ाकर कहा—

"लो, तुम भी पियो।"

आँख मारते-मारते लहनासिंह सब समझ गया। मुँह का भाव छिपाकर बोला—"लाओ, साहब।" हाथ आगे करते ही उसने सिगड़ी के उजाले में साहब का मुँह देखा। बाल देखे। तब उसका माथा ठनका। लपटन साहब के पट्टियों वाले बाल एक दिन में कहाँ उड़ गए और उनकी जगह कैदियों के से कटे हुए बाल कहाँ से आ गए ?

शायद साहब शराब पिए हुए हैं और उन्हें बाल कटवाने का मौका मिल गया है ? लहनासिंह ने जाँचना चाहा। लपटन साहब पाँच वर्ष से उसकी रेजिमेंट में थे।

"क्यों साहब, हम लोग हिन्दुस्तान कब जायँगे ?"

"लड़ाई खत्म होने पर। क्यों क्या यह देश पसंद नहीं ?"

"नहीं साहब शिकार के वे मजे यहाँ कहाँ ? याद है, पार साल नकली लड़ाई के पीछे हम आप जगाधरी के जिले में शिकार करने गए थे"—"हाँ, हाँ—वहीं जब आप खोते पर सवार थे और आपका खानसामा अबदुल्ला रास्ते के एक मंदिर में जल चढ़ाने को रह गया था ?" "बेशक, पाजी कहीं का"— "सामने से वह नील गाय निकली कि ऐसी बड़ी मैंने कभी न देखी थी। और आपकी एक गोली कंधे में लगी और पुट्ठे में निकली। ऐसे अफसर के साथ शिकार खेलने में मजा है। क्यों साहब, शिमले से तैयार होकर उस नील गाय का सिर आ गया था न ? आपने कहा था कि रेजिमेंट की मैस में लगाएंगे।" "हो, पर मैंने वह विलायत भेज दिया"—"ऐसे बड़े बड़े सींग ! दो दो फुट के तो होंगे !"

"हाँ, लहनासिंह, दो फुट चार इंच के थे। तुमने सिगरेट नहीं पिया ?"

"पीता हूँ साहब, दियासलाई ले आता हूँ"—कहकर लहनासिंह खंदक में घुसा। अब उसे संदेह नहीं रहा था। उसने झट-पट निश्चय कर लिया कि क्या करना चाहिए।

"अँधेरे में किसी सोने वाले से वह टकराया।"

"कौन ? वजीरासिंह ?"

"हाँ, क्यों लहना ? क्या कयामत आ गई ? ज़रा तो आँख लगने दी होती ?"

(४)

"होश में आओ। कयामत आई है और लपटन साहब की वर्दी पहनकर आई है।"

'क्या ?"

"लपटन साहब या तो मारे गए हैं या कैद हो गए हैं। उनकी वर्दी पहनकर यह कोई जर्मन आया है। सूबेदार ने इसका मुँह नहीं देखा ! मैंने देखा है और बातें की हैं। सौहरा (=ससुरा) साफ उर्दू बोलता है, पर किताबी उर्दू। और मुझे पीने को सिगरेट दिया है।"

"तो अब ?"

"अब मारे गए। धोखा है। सूबेदार कीचड़ में चक्कर काटते फिरेंगे और यहाँ खाई पर धावा होगा। उधर उन पर खुले में धावा होगा। उठो, एक काम करो। पलटन के पैरों के निशान देखते देखते दौड़ जाओ। अभी बहुत दूर न गए होंगे। सूबेदार से कहो कि एकदम लौट आवें। खंदक की बात झूठ है। चले जाओ, खंदक के पीछे से निकल जाओ। पत्ता तक न खुड़के। देर मत करो।"

"हुकुम तो यह है कि यहीं—"

"ऐसी-तैसी हुकुम की ! मेरा हुकुम—जमादार लहनासिंह जो इस वक्त यहाँ सबसे बड़ा अफसर है उसका हुकुम है। मैं लपटन साहब की खबर लेता हूँ।"

"पर यहाँ तो तुम आठ ही हो !"

"आठ नहीं, दस लाख। एक एक अकालिया सिख सवा लाख के बराबर होता है। चले जाओ।"

लौटकर खाई के मुहाने पर लहनासिंह दीवार से चिपक गया। उसने देखा कि लपटन साहब ने जेब से बेल के बराबर तीन गोले निकाले। तीनों को जगह जगह खंदक की दीवारों में घुसेड़ दिया और तीनों में एक तार सा बाँध दिया। तार के आगे सूत की एक गुत्थी थी, जिसे सिगड़ी के पास रक्खा। बाहर की तरफ जाकर एक दियासलाई जलाकर गुत्थी पर रखने—

बिजली की तरह दोनों हाथों से उलटी बंदूक को उठाकर लहनासिंह ने साहब की कुहनी पर तानकर दे मारा। धमाके के साथ साहब के हाथ से दियासलाई गिर पड़ी। लहनासिंह ने एक कुंदा साहब की गर्दन पर मारा और साहब "आह ! माई गाड" कहते हुए चित्त हो गए। लहनासिंह ने तीनों गोले बीनकर खंदक के बाहर फेंके और साहब को घसीटकर सिगड़ी के पास लिटाया। जेबों की तलाशी ली। तीन-चार लिफाफे और एक डायरी निकालकर उन्हें अपनी जेब के हवाले किया।

साहब की मूर्छा हटी। लहनासिंह हँसकर बोला—"क्यों लपटन साहब ! मिजाज कैसा है ? आज मैंने बहुत बातें सीखीं। यह सीखा कि सिख सिगरेट पीते हैं। यह सीखा कि जगाधरी के जिले में नीलगाएँ होती हैं और उनके दो फुट चार इंच के सींग होते हैं। यह सीखा कि मुसलमान खानसामा मूर्तियों पर जल चढ़ाते हैं और लपटन साहब खोते पर चढ़ते हैं।

पर यह तो कहो, ऐसी साफ उर्दू कहाँ से सीख आए ? हमारे लपटन साहब तो बिना "डैम" के पाँच लफ्ज़ भी नहीं बोला करते थे।"

लहना ने पतलून की जेबों की तलाशी नहीं ली थी। साहब ने मानों जाड़े से बचाने के लिये, दोनों हाथ जेबों में डाले।

लहनासिंह कहता गया—"चालाक तो बड़े हो पर माँझे का लहना इतने बरस लपटन साहब के साथ रहा है। उसे चकमा देने के लिये चार आँखें चाहिएँ। तीन महीने हुए, एक तुरकी मौलवी मेरे गाँव में आया था। औरतों को बच्चे होने की तावीज बाँटता था और बच्चों को दवाई देता था। चौधरी के बड़ के नीचे मंजा बिछाकर हुक्का पीता रहता था और कहता था कि जर्मनी वाले बड़े पंडित हैं। वेद पढ़ पढ़कर उसमें से विमान चलाने की विद्या जान गए हैं। गौ को नहीं मारते। हिंदुस्तान में आ जायँगे तो गो-हत्या बंद कर देंगे। मंडी के बनियों को बहकाता था कि डाकखाने से रुपए निकाल लो, सरकार का राज्य जानेवाला है। डाक-बाबू पोल्हूराम भी डर गया था। मैंने मुल्लाजी की दाढ़ी मूँड दी थी और गाँव से बाहर निकालकर कहा था कि जो मेरे गाँव में अब पैर रक्खा तो—"

साहब की जेब में से पिस्तौल चला और लहना की जाँघ में गोली लगी। इधर लहना की हैनरी मार्टिनी के दो फायरों ने साहब की कपाल-क्रिया कर दी। धड़ाका सुनकर सब दौड़ आए।

बोधा चिल्लाया—"क्या है ?"

लहनासिंह ने उसे तो यह कहकर सुला दिया कि "एक हड़का हुआ कुत्ता आया था, मार दिया" और औरों से सब हाल कह दिया। बंदूकें लेकर सब तैयार हो गए। लहना ने साफा फाड़कर घाव के दोनों तरफ पट्टियाँ कसकर बाँधीं। घाव मांस में ही था। पट्टियों के कसने से लहू निकलना बंद हो गया।

इतने में सत्तर जर्मन चिल्लाकर खाई में घुस पड़े। सिखों की बंदूकों की बाढ़ ने पहले धावे को रोका। दूसरे को रोका। पर यहाँ थे आठ (लहनासिंह तक तककर मार रहा था— वह खड़ा था, और, और लेटे हुए थे) और वे सत्तर। अपने मुर्दा भाइयों के शरीर पर चढ़कर जर्मन आगे घुसे आते थे। थोड़े से मिनटों में वे—

अचानक आवाज आई "वाह गुरुजी की फतह ! वाह गुरुजी का खालसा !" और धड़ाधड़ बंदूकों के फायर जर्मनों की पीठ पर पड़ने लगे। ऐन मौके पर जर्मन दो चक्की के पाटों के बीच में आ गए। पीछे से सूबेदार हजारासिंह के जवान आग बरसाते थे और सामने लहनासिंह के साथियों के संगीन चल रहे थे। पास आने पर पीछेवालों ने भी संगीन पिरोना शुरू कर दिया।

एक किलकारी और—"अकाल सिक्खाँ दी फौज आई ! वाह गुरुजी की फतह ! वाह गुरुजी दी खालसा !!! सत श्री-अकाल पुरुष !!! और लड़ाई खतम हो गई। तिरसठ जर्मन या तो खेत रहे थे या कराह रहे थे। सिक्खों में पंद्रह के प्राण गए। सूबेदार के दाहने कंधे में से गोली आर-पार निकल गई। लहनासिंह की पसली में एक गोली लगी। उसने घाव को खंदक की गीली मिट्टी से पूर लिया। और बाकी का साफा

कसकर कमरबंद की तरह लपेट लिया। किसी को खबर न हुई कि लहना के दूसरा घाव—भारी घाव—लगा है।

लड़ाई के समय चाँद निकल आया था। ऐसा चाँद, जिसके प्रकाश से संस्कृत-कवियों का दिया हुआ 'क्षयी' नाम सार्थक होता है। और हवा ऐसी चल रही थी जैसी कि वाणभट्ट की भाषा मे, 'दंतवीणोपदेशाचार्य' कहलाती। वजीरासिंह कह रहा था कि कैसे मन मन भर फ्रांस की भूमि मेरे बूटों से चिपक रही थी जब मैं दौड़ा दौड़ा सूबेदार के पीछे गया था। सूबेदार लहनासिंहसे सारा हाल सुन, और कागजात पाकर, उसकी तुरत-बुद्धि को सराह रहे थे और कह रहे थे कि तू न होता तो आज सब मारे जाते।

इस लड़ाई की आवाज तीन मील दाहिनी ओर की खाईवालों ने सुन ली थी। उन्होंने पीछे टेलीफून कर दिया था। वहाँ से झटपट दो डाक्टर और दो बीमार ढोने की गाड़ियाँ चलीं, जो कोई डेढ़ घंटे के अंदर अंदर आ पहुँचीं। फील्ड-अस्पताल नजदीक था। सुबह होते होते वहाँ पहुँच जायँगे, इसलिये मामूली पट्टी बाँधकर एक गाड़ी में घायल लिटाए गए और दूसरी में लाशें रखी गई। सूबेदार ने लहनासिंह की जाँघ में पट्टी बँधवानी चाही। पर उसने यह कहकर टाल दिया कि थोड़ा घाव है; सवेरे देखा जायगा। बोधसिंह ज्वर में बर्रा रहा था। वह गाड़ी में लिटाया गया। लहना को छोड़कर सूबेदार जाते नहीं थे। यह देख लहना ने कहा—तुम्हें बोधा की कसम है और सूबेदारनीजी की सौगंद है जो इस गाड़ी में न चले जाओ।

"और तुम?"

"मेरे लिए वहाँ पहुँचकर गाड़ी भेज देना। और जर्मन मुरदों के लिये भी तो गाड़ियाँ आती होंगी। मेरा हाल बुरा नहीं है। देखते नहीं, मैं खड़ा हूँ? वजीरासिंह मेरे पास है ही।"

"अच्छा, पर—"

"बोधा गाड़ी पर लेट गया? भला। आप भी चढ़ जाओ। सुनिए तो, सूबेदारनी होराँ को चिट्ठी लिखो तो मेरा मत्था टेकना लिख देना। और जब घर जाओ तो कह देना कि मुझसे जो उन्होंने कहा था वह मैंने कर दिया।"

गाड़ियाँ चल पड़ी थीं। सूबेदार ने चढ़ते चढ़ते लहना का हाथ पकड़कर कहा—तूने मेरे और बोधा के प्राण बचाए हैं। लिखना कैसा? साथ ही घर चलेंगे। अपनी सूबेदारनी को तू ही कह देना। उसने क्या कहा था?

"अब आप गाड़ी पर चढ़ जाओ। मैंने जो कहा वह लिख देना और कह भी देना।"

गाड़ी के जाते ही लहना लेट गया। "वजीरा, पानी पिला दे और मेरा कमरबंद खोल दे। तर हो रहा है।"

(५)

मृत्यु के कुछ समय पहले स्मृति बहुत साफ हो जाती है। जन्म-भर की घटनाएँ एक एक करके सामने आती हैं। सारे दृश्यों के रंग साफ होते हैं; समय की धुंध बिलकुल उन पर से हट जाती है।

× × × ×

लहनासिंह बारह वर्ष का है। अमृतसर में मामा के यहाँ आया हुआ है। दही-वाले के यहाँ, सब्जी-वाले के यहाँ, हर कहीं

उसे एक आठ वर्ष की लड़की मिल जाती है। जब वह पूछता है कि तेरी कुड़माई होगई? तब 'धत्' कहकर वह भाग जाती है। एक दिन उसने वैसे ही पूछा तो उसने कहा—"हाँ, कल हो गई, देखते नहीं यह रेशम के फूलोंवाला सालू?" सुनते ही लहनासिंह को दुःख हुआ। क्रोध हुआ। क्यों हुआ?

"वजीरासिंह, पानी पिला दे।"

पचीस वर्ष बीत गए। अब लहनासिंह नं० ७७ राइफल्स में जमादार हो गया है। उस आठ वर्ष की कन्या का ध्यान ही न रहा। न मालूम वह कभी मिली थी, या नहीं। सात दिन की छुट्टी लेकर जमीन के मुकद्दमे की पैरवी करने वह अपने घर गया। वहाँ रेजिमेंट के अफसर की चिट्ठी मिली कि फौज लाम पर जाती है। फौरन चले आओ। साथ ही सूबेदार हजारासिंह की चिट्ठी मिली कि मैं और बोधसिंह भी लाम पर जाते हैं, लौटते हुए हमारे घर होते जाना। साथ चलेंगे।

सूबेदार का गाँव रास्ते में पड़ता था और सूबेदार उसे बहुत चाहता था। लहनासिंह सूबेदार के यहाँ पहुँचा।

जब चलने लगे तब सूबेदार बेड़े में से निकलकर आया। बोला—"लहना, सूबेदारनी तुमको जानती हैं। बुलाती हैं। जा मिल आ।" लहनासिंह भीतर पहुँचा। सूबेदारनी मुझे जानती हैं? कब से? रेजीमेंट के कार्टरों में तो कभी सूबेदार के घर के लोग रहे नहीं। दरवाजे पर जाकर 'मत्था-टेकना' कहा। असीस सुनी। लहनासिंह चुप।

"मुझे पहचाना?"

"नहीं।"

"तेरी कुड़माई हो गई ? —धत्—कल हो गई—देखते नहीं रेशमी बूटोंवाला सालू—अमृतसर में—"

भावों की टकराहट से मूर्छा खुली। करवट बदली। पसली का घाव बह निकला।

"वजीरा, पानी पिला"—उसने कहा था।

स्वप्न चल रहा है। सूबेदारनी कह रही है—"मैंने तेरो को आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फूट गए। सरकार ने बहादुरी का खिताब दिया है, लायलपुर मे जमीन दी है, आज नमकहलाली का मौका आया है। पर सरकार ने हम तीमियों [= स्त्रियों] की एक घघरिया पलटन क्यों न बना दी जो मैं भी सूबेदारजी के साथ चली जाती? एक बेटा है। फौज में भरती हुए, उसे एक ही वर्ष हुआ। उसके पीछे चार और हुए, पर एक भी नहीं जिया।" सूबेदारनी रोने लगी—"अब दोनों जाते हैं। मेरे भाग! तुम्हें याद है, एक दिन टाँगेवाले का घोड़ा दहीवाले की दुकान के पास बिगड़ गया था। तुमने उस दिन मेरे प्राण बचाए थे। आप घोड़े की लातों मे चले गए थे और मुझे उठाकर दुकान के तख्ते पर खड़ा कर दिया था। ऐसे ही इन दोनों को बचाना। यह मेरी भिक्षा है। तुम्हारे आगे मैं आँचल पसारती हूँ।"

रोती रोती सूबेदारनी ओबरी में चली गई। लहना भी आँसू पोंछता हुआ बाहर आया।

"वजीरासिंह, पानी पिला"—उसने कहा था।

× × × ×

लहना का सिर अपनी गोदी पर रखे वजीरासिंह बैठा है।

जब माँगता है तब पानी पिला देता है। आध घंटे तक लहना चुप रहा, फिर बोला—

"कौन? कीरतसिंह?"

वजीरा ने कुछ समझकर कहा—हाँ।

"भइया, मुझे और ऊँचा कर ले। अपने पट्ट पर मेरा सिर रख ले।"

वजीरा ने वैसा ही किया।

"हाँ अब ठीक है। पानी पिला दे। बस। अब के हाड़ (= आषाढ़) में यह आम खूब फलेगा। चाचा-भतीजा दोनों यहीं बैठकर आम खाना। जितना बड़ा तेरा भतीजा है उतना ही यह आम है। जिस महीने उसका जन्म हुआ था उसी महीने में मैंने इसे लगाया था।"

वजीरासिंह के आँसू टप् टप् टपक रहे थे।

× × × ×

कुछ दिन पीछे लोगों ने अखबारों में पढ़ा—

फ्रांस और बेलजियम—६८ वीं सूची—मैदान में घावों से मरा—नं० ७७ सिख राइफल्स जमादार लहनासिंह।

—चंद्रधर शर्मा गुलेरी

---

(७) वृद्ध

इन महापुरुष का वर्णन करना सहज काम नहीं है। यद्यपि अब इनके किसी अंग में कोई सामर्थ्य नहीं रही अतः इनसे किसी प्रकार की ऊपरी सहायता मिलना असंभव-सा है, पर हमें उचित है कि इनसे डरें, इनका संमान करें और इनके थोड़े से बचे-खुचे जीवन को गनीमत जानें; क्योंकि इन्होंने अपने बाल्यकाल में विद्या के नाते चाहे काला अक्षर भी न सीखा हो, युवावस्था में चाहे एक पैसा भी न कमाया हो तथापि संसार के ऊँच-नीच का इन्हें हमारी अपेक्षा बहुत अधिक अनुभव है, इसी से शास्त्र की आज्ञा है कि—

"वयोधिक शूद्र भी द्विजाति के लिये माननीय हैं।"

यदि हममें बुद्धि हो तो इनसे पुस्तकों का काम ले सकते हैं, वरंच पुस्तक पढ़ने में आँखों को तथा मुख को कष्ट होता है, न समझ पड़ने पर दूसरों के पास दौड़ना पड़ता है पर इन से केवल इतना कह देना बहुत है कि हाँ बाबा फिर क्या हुआ ? हाँ बाबा ऐसा हो तो कैसा हो ? बस बाबा साहब अपने जीवन-भर का आंतरिक कोष खोलकर रख देंगे। इसके अतिरिक्त इनसे डरना इसलिये उचित है कि हम क्या हैं हमारे पूज्य पिता, दादा, ताऊ भी इनके आगे के छोकड़े थे। यदि यह बिगड़ें तो किसकी कलई नहीं खोल सकते ? किसके नाम पर गट्टा सी नहीं सुना सकते ? इन्हें संकोच किसका है ? बक्की के सिवा इन्हें कोई कलंक ही क्या लगा सकता है ? जब यह आप ही चिता पर एक पाँव रक्खे बैठे हैं, कब्र में पाँव लटकाए हुए हैं तब इनका कोई कर क्या सकता है ? यदि इनकी

बातें-कुबातें हम न सहें तो करें क्या? यह तनिक सी बात में कुपित और कुंठित हो जायँगे और असमर्थता के कारण सच्चे जी से शाप देंगे जो वास्तव में बड़े बड़े तीक्ष्ण शस्त्रों की भाँति वह अनिष्टकारक होगा।

जब कि महात्मा कवीर के कथनानुसार मरी खाल की हाय से लोहा तक भस्म हो जाता है तब इनकी पानी-भरी खाल की हाय कैसा कुछ अमंगल नहीं कर सके! इससे यही न उचित है कि इनके सच्चे अशक्त अंतःकरण का आशीर्वाद लाभ करने का उद्योग करें; क्योंकि समस्त धर्म-ग्रंथों में इनका आदर करना लिखा है, सारे राजनियमों में इनके लिये पूर्ण दंड की विधि नहीं है। और सोच देखिए तो यह दया-पात्र जीव हैं क्योंकि सब प्रकार पौरुष से रहित हैं, केवल जीभ नहीं मानती, इससे आँय-बाँय-शाँय किया करते हैं, या अपनी खटिया पर थूकते रहते हैं। इसके सिवा किसी का कुछ बिगाड़ते ही नहीं हैं। हाँ इस दशा में दुनिया के झंझट छोड़ के भगवान् का भजन नहीं करते, वृथा चार दिन के लिये झूठी हाय हाय में कुढ़ते-कुढ़ाते रहते हैं। यह बुरा है। पर इसके लिये क्यों इनकी निंदा की जाय?

आजकल बहुतेरे मननशील युवक कहा करते हैं कि बुड्ढे खबीसों के मारे कुछ नहीं होने पाता, वे अपनी पुरानी अकिल के कारण प्रत्येक देश-हितकारक नव-विधान में विघ्न खड़ा कर देते हैं। हमारी समझ में यह कहने वालों की भूल है, नहीं तो सब लोग एक से ही नहीं होते। यदि हिकमत के साथ राह पर लाए जायँ तो बहुत से बुड्ढे ऐसे निकल आवेंगे जिनसे अनेक युवकों को अनेक भाँति की मौखिक सहायता मिल सकती है। रहे वे

बुड्ढे जो सचमुच अपनी सत्यानाशी लकीर के फकीर अथवा अपने ही पापी पेट के गुलाम हैं। वे पहले हई कै जने ? दूसरे अब वह समय नहीं रहा कि उनके कुलक्षण किसी से छिपे हों। फिर उनका क्या डर है ? चार दिन के पाहुन कछुआ, मछली अथवा कीड़ों की परसी हुई थाली, कुछ अमरौती खाके आए हैं नहीं, कौवे के बच्चे हई नहीं, बहुत जिएँगे दस वर्ष। इतने दिन में मर-पच के दुनिया-भर का पीकदान बनके दस लोगों के तलवे चाटके अपने स्वार्थ के लिये पराए हित में बाधा करेंगे भी तो कितनी; सो भी जब देशभाइयों का एक बड़ा समूह दूसरे ढर्रे पर जा रहा है तब आखिर थोड़े ही दिन में आज मरे कल दूसरा दिन होना है। फिर उनके पीछे हम अपने सदुद्योगों में त्रुटि क्यों करें ! जब थोड़ी सी घातों की ज़िंदगी के लिये वे अपना बेढंगापन नहीं छोड़ते तो हम अपनी बृहज्जीवनाशा में स्वधर्म क्यों छोड़ें ? हमारा यही कर्तव्य है कि उनकी शुश्रूषा करते रहें, क्योंकि भले हों या बुरे पर हैं हमारे ही। अतः हमें चाहिए कि अदब के साथ उन्हें संसार की अनित्यता अथवा ईश्वर, धर्म, देशोपकार एवं बंधु-वात्सल्य की सभ्यता का निश्चय कराते रहें। सदा समझाते रहें कि हमारे तो तुम बाबा ही हो। अगले दिनों के ऋषियों की भाँति विद्यावृद्ध, ज्ञानवृद्ध, तपोवृद्ध हो तो भी बाबा हो और बाबा लोगों की भाँति 'आपन पेट हाहू, मैं ना देहौं काहू' का सिद्धांत रखते हो तो भी वयोवृद्ध के नाते बाबा ही हो, पर इतना स्मरण रक्खो कि अब जमाने की चाल वह नहीं रही जो तुम्हारी जवानी में थी। इससे उत्तम यह है कि इस वाक्य को गाँठी बाँधो कि चाल वह चल कि 'पसेमर्ग' तुझे याद करे। काम वह कर कि जमाने में तेरा नाम

रहे—नहीं तो परलोक में बैकुंठ पाने पर भी उसे थूक थूक के नरक बना लोगे, इस लोक का तो कहना ही क्या है। अभी थूक-खखार देख कुटुंबवाले घृणा करते हैं, यदि वर्त्तमान करतूतें विदित हो गईं तो सारा जगत् सदा थुड़् थुड़् करेगा!

यों तो मनुष्य की देह ही क्या है, जिसके यावदवयव घृणामय हैं, केवल बनानेवाले की पवित्रता के निहोरे श्रेष्ठ कहलाते हैं, नहीं तो निरी खारिज खराब हाल खाल की खलीती है, तिस पर भी उस अवस्था में जब कि—

> निवृत्ता भोगेच्छा पुरुषबहुमानो विगलितः,
> समानाः स्वर्याताः तदपि सुहृदो जीवितसमाः।
> शनैर्यष्ट्युत्थानं घनतिमिररुद्धेपि नयने,
> अहो दुष्टः कायस्तदपि मरणापायचकितः॥

यदि भगवच्चरणानुसरण एवं सदाचरण न हो सका तो हम क्या हैं राह चलनेवाले तक धिक्कारेंगे और कहेंगे कि—'कहा धन धामै धरि लेहुगे सरा मैं भए जीरन तऊ रामै न भजत हो'—यदि समझ जाओगे तो अपना लोक-परलोक बनाओगे, दूसरों के लिये उदाहरण काम में लाओगे, नहीं तो हमें क्या है, हम तो अपनीवाली किए देते हैं, तुम्हीं अपने किए का फल पाओगे। लोग कहते हैं कि बारह बरसवाले को वैद्य क्या है, तुम तो परमात्मा की दया से पँचगुने छगुने दिन भुगता बैठे हो, तुम्हें तो चाहिए कि दूसरों को समझाओ; पर यदि स्वयं कर्त्तव्याकर्त्तव्य न समझो तो तुम्हें तो क्या कहें। हमारी समझ को धिक्कार है जो ऐसे वाक्यरत्न ऐसे कुत्सित ठौर पर फेंका करती है।

—प्रतापनारायण मिश्र

(८) सागर और मेघ

सागर—मेरे हृदय में मोती भरे हैं।

मेघ—हाँ, वे ही मोती जिनका कारण हैं—मेरी बूँदें।

सागर—हाँ, हाँ, वही वारि जो मुझसे हरण किया जाता है। चोरी का गर्व!

मेघ—हाँ, हाँ, वही जिसको मुझसे पाकर बरसात की उमड़ी नदियाँ तुझे भरती हैं।

सागर—बहुत ठीक! क्या आठ महीने नदियाँ मुझे कर नहीं देतीं?

मेघ—(मुसकराया) अच्छी याद दिलाई। मेरा बहुत-सा दान वे पृथ्वी के पास धरोहर रख छोड़ती हैं, उसी से कर देने की निरंतरता क़ायम रहती है।

सागर—वाष्पमय शरीर! क्या बढ़-बढ़कर बातें करता है। अंत को तुझे नीचे गिरकर मुझी में बिलाना पड़ेगा।

मेघ—खार की खान! संसार-भर से नीच! सारी पृथ्वी के विकार! तुझे मैं शुद्ध और मिष्ट बनाकर उच्चतम स्थान देता हूँ। फिर तुझे अमृत-वारिधारा से तृप्त और शीतल करता हूँ। उसी का यह फल है।

सागर—हाँ, हाँ, दूसरे की करतूत पर गर्व। सूर्य का यश अपने पल्ले!

मेघ—(अट्टहास करता है) क्यों मैं चार महीने सूर्य को विश्राम जो देता हूँ। वह उसी के विनिमय में यह करता

है। उसका यह कर्म मेरी सम्पत्ति है। वह तो बदले में केवल विश्राम का भागी है।

सागर—और मैं जो उसे रोज़ विश्राम देता हूँ।

मेघ—उसके बदले तो वह तेरा जल शोषण करता है।

सागर— तब भी मैं अपना व्रत नहीं छोड़ता।

मेघ—(इठलाकर) धन्य रे व्रती, मानों श्रद्धापूर्वक तू सूर्य को वह दान देता है। क्या तेरा जल वह हठात् नहीं हरता ?

सागर—(गंभीरता से) और वाड़व जो मुझे नित्य जलाया करता है, तो भी मैं उसे छाती से लगाए रहता हूँ। तनिक उस पर तो ध्यान दो।

मेघ—(मुसकरा दिया) हाँ, उसमें तेरा और नहीं, कुछ शुद्ध स्वार्थ है; क्योंकि वह तुझे यदि जलाता न रहे तो तेरी मर्यादा न रह जाय।

सागर—(गरजकर) तो उसमें मेरी क्या हानि ! हाँ, प्रलय अवश्य हो जाय।

मेघ—(एक साँस लेकर) आः ! यह हिंसा-वृत्ति। और क्या; मर्यादा-नाश क्या कोई साधारण बात है ?

सागर—हो, हुआ करे। मेरा आयास तो बढ़ जायगा।

मेघ—आः ! उच्छृंखलता की इतनी बड़ाई ?

सागर—अपनी ओर तो देख, जो बादल होकर आकाश में इधर से उधर मारा-मारा फिरता है।

मेघ—धन्य तुम्हारा ज्ञान ! मैं यदि सारे आकाश में घूम फिरके संसार का निरीक्षण न करूँ और जहाँ आवश्यकता हो

जीवन-दान न करूँ, तो रसा नीरसा हो जाय, उर्वरा से वंध्या हो जाय। तू नीचे रहनेवाला हम ऊपर रहनेवालों के इस तत्त्व को क्या जाने ?

सागर—यदि तू मेरे लिये ऊपर है, तो मैं भी तेरे लिये ऊपर हूँ; क्योंकि हम दोनों का आकाश एक ही है।

मेघ—हाँ ! निस्संदेह ऐसी दलील वे ही लोग कर सकते हैं जिनके हृदय में कंकड़-पत्थर और शंख-घोंघे भरे हैं।

सागर—बलिहारी तुम्हारी बुद्धि की, जो रत्नों को कंकड़-पत्थर और मोतियों को सीप घोंघे समझते हो।

मेघ—(बड़े वेग से गड़गड़ करके हँसता हुआ) तुम्हारे रत्न तो, तुम्हें मथकर, कभी के देवताओं ने निकाल लिये। अब तुम इन्हीं को रत्न समझे बैठे हो।

सागर—और मनुष्य जो इन्हें निकालने के लिये नित्य इतना श्रम करते हैं, तथा इतने प्राण खोते हैं ?

मेघ—वे अमरों की झूठी स्पर्धा करने में मरे जाते हैं।

सागर—अच्छा ! जिनका स्वरूप प्रतिक्षण बदला करता है, उनकी दलील का कोटि-क्रम ऐसा ही होता है।

मेघ—और जो क्षण-भर भी स्थिर नहीं रह सकते, उनकी तर्कना का नमूना तुम्हारी बातें हैं, क्यों न ?

सागर—अरे, अपनी सीमा में रमने की मौज को अस्थिरता समझनेवाले मूर्ख ! तू ढेर-सा हल्ला ही करना जानता है कि—

मेघ—हाँ मैं गरजता हूँ, तो बरसता भी हूँ। तू तो .....

सागर—यह भी क्यों नहीं कहता कि वज्र भी निपतित करता हूँ।

मेघ—हाँ, आततायियों को समुचित दंड देने के लिये।

सागर—कि स्वतंत्रों का पक्ष छेदन करके उन्हें अचल बनाने के लिये?

मेघ—हाँ, तू संसार को दलित करनेवाले उच्छृंखलों का पक्ष क्यों न लेगा; तू तो उन्हें छिपाता है न!

सागर—मैं दीनों की शरण अवश्य हूँ!

मेघ—सच है अपराधियों के संगी! यही दीनों की सहायता है कि संसार के उत्पातियों और अपराधियों को जगह देना और संसार को सदैव भ्रम में डाले रहना।

सागर—दंड उतना ही होना चाहिए कि दंडित चेत जाय, उसे त्रास हो जाय। अगर वह अपाहिज हो गया तो—

मेघ—हाँ, यह भी कोई नीति है कि आततायी नित्य अपना सिर उठाना चाहे और शास्ता उसी की चिंता में नित्य शस्त्र लिए खड़ा रहे, अपने राज्य की कोई उन्नति न करने पावे।

सागर—एक छोटे-से मैनाक की इतने बड़े विश्व में क्या गिनती?

मेघ—जो अम्ल के एक बूँद की मनों दूध में। तू इस क्षात्र-धर्म की सूक्ष्मता को क्या समझे?

सागर—और तूने हाथ में नर-कंकाल का एक टुकड़ा ले लिया कि बड़ा बृहस्पति बन बैठा।

मेघ—आः! सुरराज के शस्त्र की यह अपमानना। तू तो साठ हज़ार मर्त्यों का द्रव है।

सागर—तो क्या यह बात भी सत्य नहीं कि वज्र की रचना के लिये एक तपस्वी की हत्या कराई गई?

मेघ—हाँ, कुलिश ने अपनी उत्पत्ति से दधीचि की तपस्या सफल कर दी थी।

सागर—तुम लोग जान ले लेना कोई बात ही नहीं समझते।

मेघ—हम हत्या, वध, आत्म-बलिदान, हिंसा, नाश आदि का विभेद जानते हैं। इन गहन विषयों को तू क्या समझे?

सागर—मैं हत्यारों से बात नहीं करना चाहता।

मेघ—और मैं उन दुर्बल हृदयवालों से बात नहीं करना चाहता जो कायरता और कापुरुषता को धर्मभीरुता मानते हैं।

—राय कृष्णदास

(९) मित्रता

जब कोई युवा पुरुष अपने घर से बाहर निकलकर बाहरी संसार में अपनी स्थिति जमाता है, तब पहली कठिनता उसे मित्र चुनने में पड़ती है। यदि उसकी स्थिति बिलकुल एकांत और निराली नहीं रहती तो उसकी जान-पहचान के लोग धड़ाधड़ बढ़ते जाते हैं और थोड़े ही दिनों में कुछ लोगों से उसका हेल-मेल हो जाता है। यही हेल-मेल बढ़ते-बढ़ते मित्रता के रूप में परिणत हो जाता है। मित्रों के चुनाव की उपयुक्तता पर उसके जीवन की सफलता निर्भर हो जाती है; क्योंकि संगत का गुप्त प्रभाव हमारे आचरण पर बड़ा भारी पड़ता है। हम लोग ऐसे समय मे समाज में प्रवेश करके अपना कार्य आरंभ करते हैं जबकि हमारा चित्त कोमल और हर तरह का संस्कार ग्रहण करने योग्य रहता है, हमारे भाव अपरिमार्जित और हमारी प्रवृत्ति अपरिपक्व रहती है, अपने मनोवेगों की शक्ति और अपनी प्रकृति की कोमलता का पता हमी को नहीं रहता। हम लोग कच्ची मिट्टी की मूर्ति के समान रहते हैं जिसे जो जिस रूप का चाहे, उस रूप का करे—चाहे राक्षस बनावे चाहे देवता। ऐसे लोगों का साथ करना हमारे लिये बुरा है जो हमसे अधिक दृढ़ संकल्प के हैं; क्योंकि हमें उनकी हर एक बात बिना विरोध के मान लेनी पड़ती है। पर ऐसे लोगों का साथ करना और भी बुरा है जो हमारी ही बात को ऊपर रखते हैं; क्योंकि ऐसी दशा में न तो हमारे ऊपर कोई दाब रहती है और न हमारे लिये कोई सहारा रहता है। दोनों अवस्थाओं में जिस बात का भय रहता है, उसका पता युवा पुरुषों को

प्रायः बहुत कम रहता है। यदि विवेक से काम लिया जाय तो यह भय नहीं रहता; पर युवा पुरुष प्रायः विवेक से कम काम लेते हैं। कैसे आश्चर्य की बात है कि लोग एक घोड़ा लेते हैं तो उसके गुण-दोष को कितना परख कर लेते हैं, पर किसी को मित्र बनाने में उसके पूर्व आचरण और प्रकृति आदि का कुछ भी विचार और अनुसंधान नहीं करते। वे उसमें सब बातें अच्छी ही अच्छी मानकर उस पर अपना पूरा विश्वास जमा देते हैं। हँसमुख चेहरा, बातचीत का ढब, थोड़ी चतुराई वा साहस—ये ही दो चार बातें किसी में देखकर लोग चटपट उसे अपना बना लेते हैं। हम लोग यह नहीं सोचते कि मैत्री का उद्देश्य क्या है, तथा जीवन के व्यवहार में उसका कुछ मूल्य भी है। यह बात हमें नहीं सूझती कि यह एक ऐसा साधन है जिससे आत्मशिक्षा का कार्य बहुत सुगम हो जाता है। एक प्राचीन विद्वान् का वचन है—"विश्वासपात्र मित्र से बड़ी भारी रक्षा रहती है। जिसे ऐसा मित्र मिल जाय उसे समझना चाहिए कि खजाना मिल गया।" विश्वासपात्र मित्र जीवन का एक औषध है। हमें अपने मित्रों से यह आशा रखनी चाहिए कि वे उत्तम संकल्पों में हमें दृढ़ करेंगे, दोषों और त्रुटियों से हमें बचावेंगे, हमारे सत्य, पवित्रता और मर्यादा के प्रेम को पुष्ट करेंगे, जब हम कुमार्ग पर पैर रक्खेंगे, तब वे हमें सचेत करेंगे, जब हम हतोत्साह होंगे तब हमें उत्साहित करेंगे; सारांश यह है कि वे हमें उत्तमतापूर्वक जीवन-निर्वाह करने में हर तरह से सहायता देंगे। सच्ची मित्रता में उत्तम से उत्तम वैद्य की-सी निपुणता और परख होती है। अच्छी से अच्छी माता का-सा धैर्य और कोमलता होती है। ऐसी ही

मित्रता करने का प्रयत्न प्रत्येक युवा पुरुष को करना चाहिए।

छात्रावस्था में तो मित्रता की धुन सवार रहती है। मित्रता हृदय से उमड़ी पड़ी है। पीछे के जो स्नेहबंधन होते हैं, उनमें न तो उतनी उमंग रहती है और न उतनी खिन्नता। बालमैत्री में जो मग्न करनेवाला आनंद होता है, जो हृदय को बेधनेवाली ईर्ष्या और खिन्नता होती है, वह और कहाँ? कैसी मधुरता और कैसी अनुरक्ति होती है; कैसा अपार विश्वास होता है! हृदय के कैसे कैसे उद्गार निकलते हैं! वर्त्तमान कैसा आनंदमय दिखाई पड़ता है और भविष्य के संबंध में कैसी लुभानेवाली कल्पनाएँ मन में रहती हैं! कैसा बिगाड़ होता है और कैसी आर्द्रता के साथ मेल होता है! कैसी क्षोभ से भरी बातें होती हैं और कैसी आवेगपूर्ण लिखा-पढ़ी होती है! कितनी जल्दी बातें लगती हैं और कितनी जल्दी मानना-मनाना होता है! 'सहपाठी की मित्रता' इस उक्ति में हृदय के कितने भारी उथल-पुथल का भाव भरा हुआ है! किंतु जिस प्रकार युवा पुरुष की मित्रता स्कूल के बालक की मित्रता से दृढ़, शांत और गंभीर होती है, उसी प्रकार हमारी युवावस्था के मित्र बाल्यावस्था के मित्रों से कई बातों में भिन्न होते हैं। मैं समझता हूँ कि मित्र चाहते हुए बहुत से लोग मित्र के आदर्श की कल्पना मन में करते होंगे, पर इस कल्पित आदर्श से तो हमारा काम जीवन की झंझटों में चलता नहीं। सुंदर प्रतिभा, मनभावनी चाल और स्वच्छंद प्रकृति—ये ही दो चार बातें देखकर मित्रता की जाती है; पर जीवन-संग्राम में साथ देनेवाले मित्रों में इस से कुछ अधिक बातें चाहिएँ। मित्र केवल उसे नहीं कहते जिसके गुणों की तो हम प्रशंसा करें,

पर जिससे हम स्नेह न कर सकें, जिससे अपने छोटे-मोटे काम तो हम निकालते जायँ, पर भीतर ही भीतर घृणा करते रहें। मित्र सच्चे पथप्रदर्शक के समान होना चाहिए जिस पर हम पूरा विश्वास कर सकें; भाई के समान होना चाहिए, जिसे हम अपना प्रीतिपात्र बना सकें। हमारे और हमारे मित्र के बीच सच्ची सहानुभूति होनी चाहिए—ऐसी सहानुभूति जिससे दोनों मित्र एक दूसरे की बराबर खोज-खबर लिया करें, ऐसी सहानुभूति जिससे एक के हानि-लाभ को दूसरा अपना हानि-लाभ समझे। मित्रता के लिये यह आवश्यक नहीं है, कि दो मित्र एक ही प्रकार का कार्य करते हों या एक ही रुचि के हों। इसी प्रकार प्रकृति और आचरण की समानता भी आवश्यक वा वांछनीय नहीं है। दो भिन्न प्रकृति के मनुष्यों में बराबर प्रीति और मित्रता रही है। राम धीर और शांत प्रकृति के थे, लक्ष्मण उग्र और उद्धत स्वभाव के थे, पर दोनों भाइयों में अत्यंत प्रगाढ़ स्नेह था। उदार तथा उच्चाशय कर्ण और लोभी दुर्योधन के स्वभावों में कुछ विशेष समानता न थी, पर उन दोनों की मित्रता खूब निभी। यह कोई बात नहीं है कि एक ही स्वभाव और रुचि के लोगों ही में मित्रता हो सकती है। समाज में विभिन्नता देखकर लोग एक-दूसरे की ओर आकर्षित होते हैं। जो गुण हम में नहीं है, हम चाहते हैं कि कोई ऐसा मित्र मिले जिसमें वह गुण हो। चिंताशील मनुष्य प्रफुल्लचित्त मनुष्य का साथ ढूँढ़ता है, निर्बल बली का, धीर उत्साही का। उच्च आकांक्षावाला चंद्रगुप्त युक्ति और उपाय के लिये चाणक्य का मुँह ताकता था। नीति-विशारद अकबर मन बहलाने के लिये बीरबल की ओर देखता था।

मित्र का कर्तव्य इस प्रकार बतलाया गया है—"उच्च और महाकार्यों में इस प्रकार सहायता देना, मन बढ़ाना और साहस दिलाना कि तुम अपनी निज की सामर्थ्य से बाहर काम कर जाओ।" यह कर्त्तव्य उसी से पूरा होगा जो दृढ़-चित्त और सत्य संकल्प का हो। इससे हमें ऐसे ही मित्रों की खोज में रहना चाहिये जिनमें हमसे अधिक आत्मबल हो। हमें उनका पल्ला उसी तरह पकड़ना चाहिए जिस तरह सुग्रीव ने राम का पल्ला पकड़ा था। मित्र हों तो प्रतिष्ठित और शुद्ध हृदय के हों, मृदुल और पुरुषार्थी हों, शिष्ट और सत्यनिष्ठ हों, जिसमें हम अपने को उनके भरोसे पर छोड़ सकें और यह विश्वास कर सकें कि उनसे किसी प्रकार का धोखा न होगा। मित्रता एक नई शक्ति की योजना है। बर्क ने कहा है कि—"आचरण-दृष्टांत ही मनुष्य-जाति की पाठशाला है; जो कुछ वह उससे सीख सकता है, वह और किसी से नहीं।"

संसार के अनेक महान् पुरुष मित्रों की बदौलत बड़े बड़े कार्य करने में समर्थ हुए हैं। मित्रों ने उनके हृदय के उच्च भावों को सहारा दिया है। मित्रों ही के दृष्टांतों को देख देख-कर उन्होंने अपने हृदय को दृढ़ किया है। अहा! मित्रों ने कितने मनुष्यों के जीवन को साधु और श्रेष्ठ बनाया है। उन्हें मूर्खता और कुमार्ग के गड्ढों से निकालकर सात्त्विकता के पवित्र शिखर पर पहुँचाया है। मित्र उन्हें सुंदर मंत्रणा और सहारा देने के लिये सदा उद्यत रहते हैं, जिनके सुख और सौभाग्य की चिंता वे निरंतर करते रहते हैं। ऐसे भी मित्र होते हैं जो विवेक को जागरित करना और कर्तव्य-बुद्धि को उत्तेजित करना जानते हैं। ऐसे भी मित्र होते हैं

जो टूटे जी को जोड़ना और लड़खड़ाते पाँवों को ठहराना जानते हैं। बहुतेरे मित्र हैं जो ऐसे दृढ़ आशय और उद्देश्य की स्थापना करते हैं जिनसे कर्मक्षेत्र में आप भी श्रेष्ठ बनते हैं और दूसरों को भी श्रेष्ठ बनाते हैं। मित्रता जीवन और मरण के मार्ग में सहारे के लिये है। यह सैर-सपाटे और अच्छे दिनों के लिये भी है तथा संकट और विपत्ति के बुरे दिनों के लिये भी है। यह हँसी दिल्लगी गुलछर्रों में भी साथ देती है और धर्म के मार्ग में भी। मित्रों को एक दूसरे के जीवन के कर्त्तव्यों को उन्नत करके उन्हें साहस, बुद्धि और एकता द्वारा चमकाना चाहिये। हमें अपने मित्र से कहना चाहिए—"मित्र! अपना हाथ बढ़ाओ। यह जीवन और मरण में हमारा सहारा होगा। तुम्हारे द्वारा मेरी भलाई होगी। पर यह नहीं कि सारा ऋण मेरे ही ऊपर रहे, तुम्हारा भी उपकार होगा, जो कुछ तुम करोगे उससे तुम्हारा भी भला होगा। सत्यशील, न्यायी और पराक्रमी बने रहो, क्योंकि यदि तुम चूकोगे तो मैं भी चूकूँगा। जहाँ जहाँ तुम जाओगे मैं भी जाऊँगा। तुम्हारी बढ़ती होगी तो मेरी भी बढ़ती होगी। जीवन के संग्राम में वीरता के साथ लड़ो क्योंकि तुम्हारी ढाल मैं लिए हूँ।"

जो बात ऊपर मित्रों के संबंध में कही गई है, वही जान-पहचानवालों के संबंध में भी ठीक है। जो मनुष्य स्वसंस्कार में लगा हो, उसे अपने मिलने जुलनेवालों के आचरण पर भी दृष्टि रखनी चाहिए, उसे यह ध्यान रखना चाहिए कि उनकी बुद्धि और उनका आचरण ठिकाने का है। साधारणतः हमें अपने ऊपर ऐसे प्रभावों को न पड़ने देना चाहिए जिनसे हमारी विवेचना की गति मंद हो वा भले बुरे का विवेक क्षीण हो।

जीवन का उद्देश्य क्या है ? क्या वह भविष्य के लिये आयोजन का स्थान नहीं ? क्या वह तुम्हारे हाथ सौंपा हुआ ऐसा पदार्थ नहीं है जिसका लेखा तुम्हें परमात्मा को और अपनी आत्मा को देना होगा ? सोचो तो कि दो, चार, दस जितने गुण.तुम्हें दिए गए हैं, उन्हें तुम्हें देनेवाले को पचास गुने सौगुने करके लौटाना चाहिए, अथवा ज्यों के त्यों बिना ब्याज वा वृद्धि के। यदि जीवन एक प्रहसन ही है जिसमें तुम गा-बजाकर और हँसी ठट्ठा करके समय काटो, तब जो कुछ उसके महत्व के विषय में मैंने कहा है, सब व्यर्थ ही है। पर जीवन में गंभीर बाते और विपत्ति के दृश्य भी हैं। मेरी समझ में तो महाराणा प्रताप की भाँति संकट में दिन काटना वाजिदअली शाह की भाँति भोग-विलास करने से अच्छा है। मेरी समझ में शिवाजी के सवारों की तरह चने बाँधकर चलना औरंगजेब के सवारों की तरह हुक्के और पानदान के साथ चलने से अच्छा है। मैं जीवन को न तो दुःखमय और न सुखमय बतलाना चाहता हूँ, बल्कि उसे एक ऐसा अवसर समझता हूँ जो हमें कुछ कर्त्तव्यों के पालन के लिये दिया गया है, जो परलोक के लिए कुछ कमाई करने के लिए दिया गया है। हमारे सामने ऐसे बहुत-से लोगों के दृष्टांत हैं जिनके विचार भी महान् थे, कर्म भी महान् थे। जैसा कि महात्मा डिमास्थिनीज ने एथंसवासियों से कहा था, उसी प्रकार हमें भी अपने मन में समझना चाहिए कि "यदि हमें अपने महान् पूर्व-पुरुषों की भाँति कर्म करने का अवसर न मिले, तो हमें कम से कम अपने विचार उनकी भाँति रखने चाहिएँ और उनकी आत्मा के महत्व का अनुकरण करना चाहिए।" अतः हमें सदा इस बात का ध्यान रखना

चाहिए कि हम कैसा साथ करते हैं। दुनिया तो जैसी हमारी संगत होगी, वैसा हमें समझेगी ही; पर हमें अपने कामों में भी संगत ही के अनुसार सहायता व बाधा पहुँचेगी। उसका चित्त अत्यंत दृढ़ समझना चाहिए जिसकी चित्तवृत्ति पर उन लोगों का कुछ भी प्रभाव न पड़े जिनका बराबर साथ रहता है। पर अच्छी तरह समझ रक्खो कि यह कभी हो नहीं सकता। चाहे तुम्हें जान न पड़े, पर उनका प्रभाव तुम पर बराबर हर घड़ी पड़ता रहेगा और उसी के अनुसार तुम उन्नत वा अवनत होगे उत्साहित वा हतोत्साह होगे। एक विद्वान् से पूछा गया—"जीवन में किस शिक्षा की सबसे अधिक आवश्यकता है?" उसने उत्तर दिया—"व्यर्थ की बातों को जानकर भी अनजान होना।" यदि हम जान पहचान करने में बुद्धिमानी से काम न लेंगे तो हमें बराबर अनजान बनना पड़ेगा।

महामति बेकन कहता है—"समूह का नाम संगत नहीं है। जहाँ प्रेम नहीं है, वहाँ लोगों की आकृतियाँ चित्रवत् हैं और उनकी बातचीत झाँझ की झनकार है।" पहचान करने में हमें कुछ स्वार्थ से काम लेना चाहिए। जान-पहचान के लोग ऐसे हों जिनसे हम कुछ लाभ उठा सकते हों, जो हमारे जीवन को उत्तम और आनंदमय करने में कुछ सहायता दे सकते हों, यद्यपि उतनी नहीं जितनी गहरे मित्र दे सकते हैं। मनुष्य का जीवन थोड़ा है; उसमें खोने के लिये समय नहीं। यदि क, ख और ग हमारे लिये कुछ नहीं कर सकते, न कोई बुद्धिमानी वा विनोद की बातचीत कर सकते हैं, न कोई अच्छी बात बतला सकते हैं; न अपनी सहानुभूति द्वारा हमें ढाढ़स बँधा सकते हैं, न हमारे आनंद में संमिलित हो सकते हैं, न हमें कर्तव्य

का ध्यान दिला सकते हैं, तो ईश्वर हमें उनसे दूर ही रक्खे। हमें अपने चारों ओर जड़-मूर्तियाँ सजाना नहीं है। आजकल जान-पहचान बढ़ाना कोई बड़ी बात नहीं है। कोई भी युवा पुरुष ऐसे अनेक युवा पुरुषों को पा सकता है जो उसके साथ थिएटर देखने जायँगे, नाच-रंग में जायँगे, सैर-सपाटे में जायँगे, भोजन का निमंत्रण स्वीकार करेंगे। यदि ऐसे जान-पहचान के लोगों से कुछ हानि न होगी तो लाभ भी न होगा। पर यदि हानि होगी तो बड़ी भारी होगी। सोचो तो, तुम्हारा जीवन कितना नष्ट होगा, यदि ये जान-पहचान के लोग उन मनचले युवकों में से निकलें जिनकी संख्या दुर्भाग्यवश आजकल बहुत बढ़ रही है, यदि उन शोहदों में से निकलें जो अमीरों की बुराइयों और मूर्खताओं की नकल किया करते हैं, दिन-रात बनाव-सिंगार में रहा करते हैं, कुलटा स्त्रियों के फोटो मोल लिया करते हैं, महफिलों में 'ओ हो हो' 'वाह' 'वाह' किया करते हैं, गलियों में ठट्ठा मारते हैं और सिगरेट का धुआँ उड़ाते चलते हैं। ऐसे नवयुवकों से बढ़कर शून्य, निःसार और शोचनीय जीवन और किसका है? वे अच्छी बातों के सच्चे आनंद से कोसों दूर हैं। उनके लिये न तो संसार में सुंदर और मनोहर उक्तिवाले कवि हुए हैं और न सुंदर आचरणवाले महात्मा हुए हैं! उनके लिये न तो बड़े बड़े वीर अद्भुत कर्म्म कर गए हैं और न बड़े बड़े ग्रंथकार ऐसे विचार छोड़ गए हैं जिनसे मनुष्य-जाति के हृदय में सात्त्विकता की उमंगें उठती हैं। उनके लिए फूल-पत्तियों में कोई सौंदर्य्य नहीं, झरनों के कलकल में मधुर संगीत नहीं, अनंत सागर-तरंगों में गंभीर रहस्यों का आभास नहीं, उनके भाग्य में सच्चे प्रयत्न

और पुरुषार्थ का आनंद नहीं, उनके भाग्य में सच्ची प्रीति का सुख और कोमल हृदय की शांति नहीं। जिनकी आत्मा अपने इंद्रिय-विषयों में ही लिप्त है, जिनका हृदय नीच आशयों और कुत्सित विचारों से कलुषित है, ऐसे नाशोन्मुख प्राणियों को दिन दिन अंधकार में पतित होते देख कौन ऐसा होगा जो तरस न खायगा? जिसने स्वसंस्कार का विचार अपने मन में ठान लिया हो, उसे ऐसे प्राणियों का साथ न करना चाहिए। मकदूनिया का बादशाह डेमेट्रियस कभी कभी राज्य का सब काम छोड़ अपने ही मेल के दस-पाँच साथियों को लेकर विषय-वासना में लिप्त रहा करता था। एक बार बीमारी का बहाना करके इसी प्रकार वह अपने दिन काट रहा था। इसी बीच उसका पिता उससे मिलने के लिये गया और उसने एक हँसमुख जवान को कोठरी से बाहर निकलते देखा। जब पिता कोठरी के भीतर पहुँचा, तब डेमेट्रियस ने कहा—"ज्वर ने मुझे अभी छोड़ा है।" पिता ने कहा—"हाँ! ठीक है, वह दरवाजे पर मुझे मिला था।"

कुसंग का ज्वर सबसे भयानक होता है। यह केवल नीति और सद्वृत्ति का ही नाश नहीं करता, बल्कि बुद्धि का भी क्षय करता है। किसी युवा पुरुष की संगत यदि बुरी होगी, तो वह उसके पैर में बँधी चक्की के समान होगी जो उसे दिन दिन अवनति के गढ़े में गिराती जायगी; और यदि अच्छी होगी तो सहारा देनेवाली बाहु के समान होगी जो उसे निरंतर उन्नति की ओर उठाती जायगी।

इँगलैंड के एक विद्वान् को युवावस्था में राजा के दरबारियों में जगह नहीं मिली। इस जिंदगी-भर वह अपने भाग्य को

सराहता रहा। बहुत से लोग तो इसे अपना बड़ा भारी दुर्भाग्य समझते, पर वह अच्छी तरह जानता था कि वहाँ वह बुरे लोगों की संगत में पड़ता जो उसकी आध्यात्मिक उन्नति में बाधक होते। बहुत से लोग ऐसे होते हैं जिनके घड़ी-भर के साथ से भी बुद्धि भ्रष्ट होती है; क्योंकि उतने ही बीच मे ऐसी ऐसी बातें कही जाती हैं जो कानों में न पड़नी चाहियें, चित्त पर ऐसे ऐसे प्रभाव पड़ते हैं जिनसे उसकी पवित्रता का नाश होता है। बुराई अटल भाव धारण करके बैठती है। बुरी बातें हमारी धारणा में बहुत दिनों तक टिकती हैं। इस बात को प्रायः सब लोग जानते हैं कि भद्दी दिल्लगी वा फूहड़ गीत जीतनी जल्दी ध्यान पर चढ़ते हैं, उतनी जल्दी कोई गंभीर वा अच्छी बात नहीं। एक बार एक मित्र ने मुझसे कहा कि उसने लड़कपन में कहीं से एक बुरी कहावत सुन पाई थी जिसका ध्यान वह लाख चेष्टा करता कि न आवे, पर बार बार आता है। जिन भावनाओं को हम दूर करना चाहते हैं, जिन बातों को हम याद नहीं करना चाहते, वे बार बार हृदय में उठती हैं और बेधती हैं। अतः तुम पूरी चौकसी रक्खो, ऐसे लोगों को कभी साथी न बनाओ जो अश्लील, अपवित्र और फूहड़ बातो से तुम्हें हँसाना चाहें। सावधान रहो। ऐसा न हो कि पहले-पहल तुम इसे एक बहुत सामान्य बात समझो और सोचो कि एक बार ऐसा हुआ, फिर ऐसा न होगा; अथवा तुम्हारे चरित्रबल का ऐसा प्रभाव पड़ेगा कि ऐसी बातें बकनेवाले आगे चलकर आप सुधर जायँगे। नहीं, ऐसा नहीं होगा। जब एक बार मनुष्य अपना पैर कीचड़ में डाल देता है, तब फिर यह नहीं देखता कि वह कहाँ और कैसी जगह पैर रखता है। धीरे धीरे उन

बुरी बातों से अभ्यस्त होते होते तुम्हारी घृणा कम हो जायगी। पीछे तुम्हें उनसे चिढ़ न मालूम होगी, क्योंकि तुम यह सोचने लगोगे कि चिढ़ने की बात ही क्या है। तुम्हारा विवेक कुंठित हो जायगा और तुम्हें भले-बुरे की पहचान न रह जायगी। अंत में होते होते तुम भी बुराई के भक्त बन जाओगे। अतः हृदय को उज्ज्वल और निष्कलंक रखने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि बुरी संगत की छूत से बचो। यह पुरानी कहावत है कि—

काजल की कोठरी में कैसो हू सयानो जाय,
एक लीक काजर की लागिहै पै लागिहै।

जो कुछ ऊपर कहा गया है, उससे यह न समझना चाहिए कि मैं युवा पुरुषों को समाज में प्रवेश करने से रोकता हूँ। नहीं, कदापि नहीं। अच्छा समाज यदि मिले तो उसका बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है और उससे आत्म-संस्कार के कार्य में बड़ी सहायता मिलती है। प्रायः देखने में आता है कि गाँवों से जो लोग नगरों में जीविका आदि के लिये आते हैं, उनका जी बहुत दिनों तक, संगी-साथी न रहने से, बहुत घबराता है और कभी कभी उन्हें ऐसे लोगों का साथ कर लेना पड़ता है जो उनकी रुचि के अनुकूल नहीं होते। ऐसे लोगों के लिए अच्छा तो यह होता है कि वे किसी साहित्य-समाज में प्रवेश करें। पर वहाँ भी उन्हें उन सब बातों की जानकारी नहीं प्राप्त हो सकती जो स्वशिक्षा के लिये आवश्यक हैं। समाज में प्रवेश करने से हमें अपना यथार्थ मूल्य विदित होता है। हम देखते हैं कि हम उतने चतुर नहीं हैं जितने एक कोने में बैठकर कोई पुस्तक आदि हाथ में लेकर अपने को समझा करते थे।

भिन्न भिन्न लोगों में भिन्न भिन्न प्रकार के गुण होते हैं। यदि कोई एक बात में निपुण है तो दूसरा दूसरी में। समाज में प्रवेश करके हम देखते हैं कि इस बात की कितनी आवश्यकता है कि लोग हमारी भूलों को क्षमा करें, अतः हम दूसरों की भूल-चूक को क्षमा करना सीखते हैं। हम कई ठोकरें खाकर नम्रता और अधीनता का पाठ सीखते हैं। इनके अतिरिक्त और भी बड़े-बड़े लाभ होते हैं। समाज में संमिलित होने से हमारी समझ बढ़ती है, हमारी विवेक-बुद्धि तीव्र होती है, वस्तुओं और व्यक्तियों के संबंध में हमारी धारणा विस्तृत होती है, हमारी सहानुभूति गहरी होती है, हमें अपनी शक्तियों के उपयोग का अभ्यास होता है। समाज एक परेड है जहाँ हम चढ़ाई करना सीखते हैं, अपने साथियों के साथ-साथ मिलकर बढ़ना और आज्ञा-पालन करना सीखते हैं, इनसे भी बढ़कर और-और बातें हम सीखते हैं। हम दूसरों का ध्यान रखना, उनके लिये कुछ स्वार्थ-त्याग करना सीखते हैं, सद्‌गुणों का आदर करना और सुंदर चाल-ढाल की प्रशंसा करना सीखते हैं। स्व-संस्काराभिलाषी युवक को उस चाल-व्यवहार की अवहेलना न करनी चाहिए जो भले आदमियों के समाज में आवश्यक समझी जाती है। बड़ों के प्रति संमान और सरलता का व्यवहार, बराबरवालों से प्रसन्नता का व्यवहार, और छोटों के प्रति कोमलता का व्यवहार भलेमानुसों के लक्षण हैं। सुडौल और सुंदर वस्तु को देखकर हम सब लोग प्रसन्न होते हैं। सुंदर चाल-ढाल को देख हम सब लोग आनंदित होते हैं। मीठे वचनों को सुनकर हम सब लोग संतुष्ट होते हैं। ये सब बातें हमें मनोनीत होती हैं, शिक्षा द्वारा प्रतिष्ठित

आदर्श के अनुकूल होती हैं। किसी भले आदमी को यह कहते सुनकर कि फटी-पुरानी और मैली पुस्तक हाथ में लेकर पढ़ते नहीं बनता, हमें हँसना न चाहिए। सोचो तो कि तुम्हारी मंडली में कोई उजड्ड-गँवार आकर फूहड़ बातें बकने लगे तो तुम्हें कितना बुरा लगेगा।

—रामचंद्र शुक्ल

---

(१०) अध्ययन

अध्ययन जन्म से प्रारंभ होता है। बालक जन्म से एक ऐसी जगह आ जाता है कि जहाँ का वह कुछ भी नहीं जानता। उसको इतना बोध भी नहीं होता कि आग जलाती है और साँप काटता है। धीरे धीरे अनुभव द्वारा वह अपना ज्ञान बढ़ाता जाता है, यहाँ तक कि समय पर बिना अक्षर भी पढ़े वह संसार की सभी साधारण बातें जान जाता है। यह सब ज्ञान-प्राप्ति एक प्रकार से अध्ययन ही है। अध्ययन शब्द "ध्यै" धातु से निकला है, जिसका प्रयोजन अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान का है। यह अनुभव चाहे अपना हो चाहे पराया, किंतु दोनों द्वारा प्राप्त ज्ञान को अध्ययन ही कहेंगे। अपने अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान कुछ विशेष चिरस्थायी एवं लाभकारी होता है, किंतु

यदि मनुष्य सारा ज्ञान अपने ही अनुभव द्वारा प्राप्त करे, तो उसके ज्ञान की मात्रा बहुत ही सीमा-संकुचित रहेगी। संसार में ज्ञेय वस्तुएँ प्रायः अनंत हैं. और मनुष्य का अनुभव एवं समय बहुत ही थोड़ा है। फिर यदि सभी लोग अपने ही अनुभवों द्वारा ज्ञान प्राप्त करें, तो संसार में ज्ञान-वृद्धि बहुत कम हो। यहाँ तो ज्ञान-प्राप्ति के प्रयत्न को जहाँ से एक छोड़ता है; वहीं से प्रारंभ करके दूसरा उसे उसके आगे ले जाता है और इसी प्रकार सहस्रों मनुष्यों द्वारा प्रत्येक विभाग में अनंत ज्ञान वृद्धि होती है। फिर भी केवल दूसरों का अनुगामी पूरा पंडित नहीं हो सकता। पांडित्य के लिए आत्मानुभव, आत्म-निर्भरता और स्वतंत्रता की भी आवश्यकता पड़ती है।

मनुष्य के वश में राज्य, प्रचुर धन, महा बल आदि प्राप्त करना सदैव नहीं है। इनके लिये भाग्य एवं आकस्मिक घटनाओं की भी आवश्यकता है। इधर पांडित्य का प्राप्त करना बहुत करके प्रत्येक मनुष्य ही पर निर्भर है। कहते ही हैं कि इसके लिये राजाओं के लिये भी कोई पृथक् मार्ग नहीं है। निरंतर कठिन परिश्रम एवं साधना ही इसका मूल कारण है। परिश्रम मनुष्य के लिए सदैव लाभकारी है। बिना इसके किसी प्रकार का वास्तविक महत्त्व प्राप्त नहीं होता। परिश्रम से भागना अपने महत्व को लात मारना है। उचित परिश्रम से किसी प्रकार का दैहिक अथवा मानसिक कष्ट नहीं हो सकता। कहते ही हैं कि मनुष्य-बल का सड़ जाना सहल है किन्तु घिस जाना कठिन। शक्ति का उचित प्रयोग करने से उसकी दिनों-दिन वृद्धि होती है, न कि क्षीणता। हमारे जाने हुए दो विद्यार्थी एक ही कक्षा में पढ़ते और प्रायः साथ ही

साथ बैठते थे। उनके निवास-स्थान भी एक ही मुहल्ले में थे किंतु पढ़ने में एक महाशय अधिक मन लगाते थे और दूसरे कम। जब अध्यापक ने कक्षा की परीक्षा ली तो उनमें से परिश्रमी ने पचास में पैंतीस नंबर पाए और दूसरे ने सात। इस पर अध्यापक महाशय ने उन्हें साथ ही साथ बैठा देखकर सात नंबरवाले से कहा कि "क्या इसमें तुमसे पँचगुनी बुद्धि है?" फिर उन्होंने आप ही इस प्रश्न का उत्तर देकर कहा कि—"तुम दोनों में अंतर बुद्धि का नहीं वरन् परिश्रम का है।"

बहुत लोग जब चित्त न लगाने के कारण अथवा शिक्षण-प्रणाली में कुछ दोष होने के कारण विद्याध्ययन में समुचित उन्नति नहीं कर पाते, तब समझते हैं कि हमारे पास बुद्धि की मात्रा कम है। यह विचार बहुत दशाओं में भ्रममूलक होता है। भाग्यदत्त बुद्धि की मात्रा विविध मनुष्यों में एक नहीं हो सकती। यही दशा स्वास्थ्य आदि की है। फिर भी जैसे आयुर्वेद के नियमों पर ध्यान-पूर्वक एवं दृढ़ भाव से चलकर एक साधारण स्वास्थ्यवाला मनुष्य भी परम संतोषदायक उन्नति कर सकता है और अपने से बहुत श्रेष्ठतर ऐसे भाग्य-दत्त शरीरवाले से जो कुपथ्य-सेवी है बहुत बढ़कर हो सकता है, वैसे ही उद्यमी पुरुष भाग्यदत्त साधारण बुद्धि को क्रमशः बहुत बढ़ा सकता है। वही लोहे का टुकड़ा तलवार बनने से और भली-भाँति रक्खे जाने से शीशे की भाँति चमकने लगता है और वही लापरवाही से रक्खा जाकर मुर्चा खा जाने से कोयले के समान काला और तिनके के समान टूटनेवाला हो जाता है। परिश्रम अध्ययन का जीव है। बिना विद्या-प्राप्ति के मनुष्य और पशु में बहुत कम अंतर रह जाता है।

भारी धनाढ्यता मनुष्य को प्रायः आलसी बना देती है। इसी लिए पंडित लोग इसे अध्ययन का सहज शत्रु समझकर इसका निरादर करते हैं।

प्रत्येक मनुष्य में कुछ पशुता भी होती है। अन्य गुणावगुणों के समान इसकी वृद्धि अथवा ह्रास भी मनुष्य की इच्छा ही पर निर्भर है। जो मनुष्य समुचित अध्ययन द्वारा गुणों की उन्नति तथा अवगुणों की अवनति करता है, उसमें इसका ह्रास होता जाता है, अन्यथा नहीं। संभावित पुरुष को उचित है कि यदि वह कोई व्यसन ग्रहण करे, तब भी वह विद्या ही का होना चाहिए। विद्या से यहाँ केवल पुस्तक-मय ज्ञान का तात्पर्य नहीं है, वरन् सभी प्रकार की ज्ञान-प्राप्ति इसी के अंतर्गत आ जाती है। समय का मूल्य बहुत बातों से अधिक समझना चाहिए। बिना समय का उचित प्रयोग किए अध्ययन आदि किसी सद्गुण का साधन नहीं हो सकता। फिर भी शक्ति के बाहर पढ़ना रोगोत्पादक होगा। सभी बातों के लिये समभाव उचित है। वैषम्य सदैव हानिकारक है। पढ़ना-लिखना, खेलना-कूदना सब कुछ यथासमय करना चाहिए। औचित्य का सीमोल्लंघन किसी दशा मे न होना चाहिए। जैसे अन्य बातों में हम वैविध्य की प्रशंसा तथा आनिर्वृत्य की निंदा करते आए हैं, वही दशा अध्ययन की भी है। मनुष्य को विविध विषयों में ज्ञान प्राप्त करना उचित है। एक ही बात में उतारू हो जाना मानसिक उन्नति को रोककर मनुष्य को गूलर के फलवाले भुनगे के समान बना देता है। यथासमय पढ़ना-लिखना और खेलना-कूदना मनुष्य को पूरा मनुष्य बनाता है, किंतु स्मरण रहे कि जो बात जिस समय की जाय वह पूर्ण

तल्लीनता के साथ हो। पढ़ने के समय खेलना और खेलने के समय पढ़ना बिलकुल ही भुला देना चाहिए। जब जो कुछ करो तब उसमें पूर्णतया मन लगाओ। एक कार्य्य करने के समय दूसरे का विचार भी चित्त में न आना चाहिए। एकाग्र-भाव एक बहुत बड़ा मानसिक बल है। यही प्राणायाम का मूल और योग का बंधु है। गीता में भगवान् ने आज्ञा दी है कि—

"योगः कर्म्मसु कौशलम्।"

अतः कर्मों में कुशलता ही योग है, जो काम करे उसी को पूर्ण उत्साह के साथ करे। जब तक उसे करता जाय तब तक उससे अप्रसंगी कोई भाव तक चित्त में न उठने पावे। जो इस प्रकार का काम कर सके वही योगी है। इसी से कहा गया है कि संसार में सच्चे योगी के लिये कोई भी वस्तु असंभव नहीं है।

संसार में ज्ञान की उत्पत्ति आश्चर्य से है। जब कोई मनुष्य किसी वस्तु, विचार आदि को देखता-सुनता है और उसे नहीं जान पाता तब उसके चित्त में या तो आश्चर्य का भाव उदित होगा अथवा उदासीनता का। उदासीनता के बराबर हानिकारक भाव संसार में नहीं है। यह विद्या, उन्नति आदि सभी गुणों की बाधक है। अज्ञानी के लिये उदासीनता से इतर दूसरा भाव आश्चर्य का है। किसी अज्ञात पदार्थ को देखकर मनुष्य को बहुत कुछ सोचना चाहिए। इसके क्या गुण दोष हैं, यह क्योंकर बना, क्यों बना, इसके अस्तित्व का क्या कारण है, इसके अनस्तित्व से क्या हानि अथवा लाभ है, इत्यादि अनेकानेक प्रश्न प्रत्येक अज्ञात वस्तु के विषय में

उत्पन्न होते हैं। मूर्ख लोग बहुत से पदार्थों को उपहासास्पद समझते हैं। संसार में कुछ पदार्थ उपहासास्पद भी होते हैं किंतु बहुतायत से नहीं। बहुत वस्तुओं का बाहरी भाव सहसा हँसने योग्य समझ पड़ता है, किंतु भीतर घुसकर ध्यानपूर्वक देखने से उसी में कर्ता का भारी चातुर्य्य दिखाई देने लगता है। इसलिये जो लोग अनेकानेक वस्तुओं को भोंड़ी, बेडौल और निंद्य समझते हैं, वे बहुधा ऐसे विचारों से अपनी ही मूर्खता प्रकट करते हैं। ईर्ष्या, मोह, अहंकारादि के कारण बहुत-से लोग पर-गुण-निरीक्षण में अंध होते हैं। जिस किसी को संसार में अधिकांश लोग एवं पदार्थ असाध्य समझ पड़ें, उसे जानना चाहिए कि स्वयं उसी में कोई दोष है, न कि सब पदार्थों में।

अध्ययन कैसे किया जाय यह एक चिंतनीय विषय है। अध्ययन एक प्रकार से भोजन के समान है। जैसे बहुत कुछ खा लेने से अपच हो जाता है और कुछ भी न खाने से थोड़े ही दिनों में मरणावस्था उपस्थित होती है वैसा ही अध्ययन का हाल है। कुछ भी न पढ़ने से मनुष्य पूरा मूर्ख रहता है, और उचित से अधिक ग्रंथावलोकन से वह ग्रंथों के भावों का आत्मीकरण नहीं कर सकता। ऐसे ही लोगों के विचार तथा संमतियाँ स्वयं उनकी नहीं वरन् औरों की होती हैं। वे समझते हैं कि हम अपनी संमति प्रकट कर रहे हैं, किंतु वास्तव में वे जानते हुए अथवा न जानते हुए दूसरों की चोरी किया करते हैं। उन्होंने इतने पराए विचार अपने मन में भर लिए हैं कि वे उन पर पूर्णतया मनन करके उन्हें अपना नहीं बना सकते। फिर भी जब ऐसे विचार-बहुभक्षी लोग पराए

सिद्धांतों का अपने कथनों में दूसरे प्रसंग में प्रयोग करते हैं, तब आत्मी-करण के अभाव से उनका बहुधा दुरुपयोग हो जाता है। ऐसे ही कथनों पर जब अटल तार्किक सिद्धांतों के अनुसार सूक्ष्म-दर्शिता से विचार किया जाता है तब उनका एक एक अक्षर भूसी के समान उड़ जाता है और मन-भर के गट्ठर में एक भी अनाज का दाना नहीं निकलता, ऐसे ही विचारों में प्रतिकूलता-पोषण बहुतायत से होता है। जब मनुष्य कोई सार-गर्भित नवीन भाव पावे, तब उसे उचित है कि अपने प्राचीन विचार-समुदाय में उस भाव को स्थान देने के पूर्व सोच ले कि वह कितनों के प्रतिकूल और कितनों के अनुकूल पड़ता है। प्रतिकूलता की दशा में दोनों का यह ध्यान देकर निर्णय कर लेना चाहिए कि उसमें से कौन ग्राह्य है और कहाँ तक। नवीन और प्राचीन विचारों में थोड़ा सा भी विरोध होने से ध्यान-पूर्वक निर्णय करके उनका संशोधन कर लेना चाहिए। जब किसी नये विचार का प्राचीन भाव से मिलान करके पूरा निर्णय होकर एक बात निश्चित रह जाती है, तभी कहा जा सकता है कि नवागत विचार हजम हुआ, अर्थात् अपना हो गया। जो लोग ऐसे आत्मी-करण के नए विचार ग्रहण करते जाते हैं उनका मानस-शरीर बहु-भक्षी लोगों की देहों के समान कभी स्वास्थ्य-युक्त नहीं रह सकता। जो लोग अपने प्राचीन विचारों को नवीन भावों की वृद्धि द्वारा दृढ़तर बनाते हुए दिनों-दिन उन्नति-शील नहीं रखते, उनका मानस शरीर दुबला और बलहीन हो जाता है। बहुत-से लोग साधारण बातों, व्याख्यानों एवं ग्रंथनिर्माण द्वारा अपने विचार औरों पर बहुतायत से प्रकट किया करते हैं, ऐसी प्रगल्भता से प्रायः

प्रतिकूल विचारों का पुष्टीकरण हो जाता है और कथनों में सारगर्भिता की मात्रा बहुत कम होती है। उपदेशकों को संक्षिप्त गुण का अवश्य ध्यान रखना चाहिये, नहीं तो उनके कथनों में केवल मूर्ख-मोहनी विद्या रह जाती है।

अध्ययन दो प्रकार का होता है, अर्थात् साधारण और दैनिक व्यापार-संबंधी। स्पष्ट ही है कि मानसिक उन्नति के लिए व्यापारिक-शिक्षा से साधारण शिक्षा बहुत श्रेष्ठतर है। फिर भी बिना व्यापारिक-शिक्षा के काम नहीं चल सकता। मानसिक उन्नति के प्रतिकूल प्राय: व्यापार में ख़ास-ख़ास बुराइयाँ होती हैं। संभावित को इन पर सदैव ध्यान रखना चाहिए, जिससे कि वह मानसिक उन्नति का अवरोध न कर सके। प्रायः देखा गया है कि जो लोग जिस व्यापार में पड़ते हैं, वे अपने आह्निक अवकाश में भी सभा-सोसाइटियों में बैठकर उसी की बातें किया करते हैं। चतुर मनुष्य को अवकाश के समय में मेड़ुवा गोजई का भाव न सोचकर, ऐसे विषयों की ओर चित्त लगाना चाहिए, जिनकी उसके व्यापार संबंधी आह्निक कर्त्तव्यों में कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। मनुष्यों को अंधवत् एक ही लीक पर अनुगमन करने से बचना चाहिए।

अध्ययन का मूल दो प्रकार का होता है, अर्थात् स्वावलंबी और परावलंबी, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। स्वावलंबी अध्ययन अपने ही अनुभवों एवं विचारों से प्राप्त होता है और परावलंबी अध्ययन पुस्तकों, गुरुओं और मित्रों आदि पर आश्रित है। स्वावलंबी अध्ययन में ज्ञान-वृद्धि के लिए बहुत कुछ अधिक समय दरकार है किंतु वह बहुत

पक्का होता है। संसारीपने की कार्य्य-कारिणी बुद्धि स्वानुभव से ही विशेषतया प्राप्त होती है और बिना स्वावलंबी ज्ञान के केवल परावलंबी अध्ययन से पूर्ण मानसिक उन्नति नहीं हो सकती। दोनों प्रकार के अध्ययनों में विद्यार्थी को कक्षा-विभाग पर विशेष ध्यान देना चाहिए। प्रत्येक वस्तु को ध्यानपूर्वक देखकर अथवा उसके विषय में सुनकर तथा वस्तुओं से उसकी समता और असमता पर पूर्ण विचार करो। जो वस्तुएँ जहाँ तक समान हों उनको जानो, और फिर समान वस्तुओं के सूक्ष्म से भी सूक्ष्म अंतर को बुद्धि-बल से खोज निकालो। प्रकृति ने समानता और अंतर का ऐसा विचित्र बनाव रक्खा है, कि इस पर जहाँ तक मनन करो वहाँ तक ज्ञान विस्तीर्ण होता जाता है। संसार में अरबों मनुष्य प्रस्तुत हैं, और उनका शरीर सांगोपांग समान है, किंतु फिर भी कोई दो मनुष्य ऐसे न मिलेंगे जिनकी बनावट एक दूसरे से बिलकुल मिलती हो। तत्त्वज्ञानियों ने ज्ञानपूर्वक निरीक्षण द्वारा जाना है कि संसार में प्रकृति जीवधारी की रचना-शक्ति के प्रदर्शन में पुनरुक्ति कभी नहीं करती, यहाँ तक कि कोई दो पत्ती अथवा दूब के पौदे तक एक दूसरे से बिलकुल समान कभी नहीं होते। ऐसी समता एवं भिन्नता का ज्ञान भारी सूक्ष्मदर्शिता से ही प्राप्त होता है। इस शक्ति को बढ़ाने के लिये सभी ठौर समता और भिन्नता पर ध्यान देना चाहिये। अधिक से अधिक पदार्थों को ध्यानपूर्वक देखते जाइए और तब आपकी अधिकाधिक ज्ञान-वृद्धि होगी। अजायबघर जंगल, बाग़, मैदान, ग्राम, नगर, पत्तन, झील, समुद्र, नदी, नाले, पहाड़ आदि सभी कुछ ध्यानपूर्वक देखो, और विचारो

कि किस-किस पदार्थ से क्या-क्या शिक्षा मिल सकती है। आँखवाले अंधों के समान कभी काम न करो। जहाँ जाओ दोनों आँखें खोले रहो। किसी वस्तु को देखकर यह सदैव सोचो कि यह ऐसी क्यों है, किसी अन्य प्रकार की क्यों नहीं ? इसके रचयिता ने इसे यहाँ किस विचार से रक्खा। रास्ता चलने में भी विचारते रहो कि अमुक पगडंडी की वर्तमान स्थिति उसी प्रकार से उसी स्थान में क्यों हुई ? एक छोटा सा कंटकित पौधा भी यदि मार्ग में पड़ जाता है तो पगडंडी उसके कारण हाथ-भर मुड़ जाती है। कोई पथिक साधारणतया उसे उखाड़कर फेंक सकता है अथवा जूते की ठोकर से कुचल सकता है, किंतु पथिक लोग प्रायः इतना कष्ट उठाते देखे नहीं गए हैं। विदेशों में रेल पर यात्रा करने में अन्य बातों में उतना ध्यान न देकर मनुष्य को देश की बनावट देखनी चाहिये। इससे उस प्रांत के निवासियों के बहुत से स्वभाव सहज ही में ज्ञात हो जाते हैं। सारांश यह है कि यथासाध्य सभी नवीन बातों में तार्किक सिद्धांतों का ध्यान कभी न भूलो। तर्क-शास्त्र कोई नवीन बात नहीं बतलाता, किंतु साधारण अनुभवों द्वारा ज्ञान-प्राप्ति के उसमें ऐसे सुंदर नियम मिलते हैं जो नेत्रों को नेत्र और कानों को कान बनाते हैं।

परावलंबी ज्ञान-प्रणाली में पुस्तकों और गुरुओं की प्रधानता है। यदि कोई बात ज्ञात न हो, तो उसके पूछने में कोई संकोच न करो। भगवान् दत्तात्रेय ने मकड़ी आदि २४ जंतुओं को भी अपना गुरु करके माना था। गुरुओं एवं पुस्तकों

के कथनों को भी अंधपरंपरा की रीति से भी कभी न मानो। कहा भी है कि—

नहिं प्रमाण करि श्रवण अंध सम ताकहँ मानौ।
ताके कारण खोजि बुद्धिबल सों अनुमानौ॥

गुरुओं और पुस्तकों में भी परमोच्च मानसिक उन्नति-संयुक्त लोगों एवं उनकी रचनाओं का आश्रय लो। परमोच्च ग्रंथों के भी परमोच्च विचारों पर ध्यान दो। ग्रंथों के पढ़ने में पूर्ण बुद्धि व्यवसाय से काम लेना चाहिए। और एक पेंसिल तथा जेबी कोष-ग्रंथ तो अखबारों तक के पढ़ने में अपने पास रखना उचित है। कोष के पास होने से छोटे से छोटा संदेह निवृत्त हो जाता है और ज्ञान वृद्धि में बहुत अच्छी सहायता मिलती है। अंगरेज़ी शब्दों में बहुधा अक्षरों और उच्चारणों में बड़ा अंतर होता है। ऐसी दशा में हम विजातीय लोगों को उच्चारण-संबंधी कष्ट से छुटकारा पाने के लिये एक छोटा कोष-ग्रंथ अवश्य पास लगाए रखना चाहिये। ऐसे ग्रंथ से समय पर बड़ी सहायता मिलती है, पुस्तकाध्ययन में पेंसिल का प्रयोग भी बेधड़क होना चाहिए। कोई नवीन ग्रंथ पढ़ने में जो अपने भाव उठें उन्हें भी यथास्थान अंकित कर दो। कोई ग्रंथ पढ़कर यह अवश्य निश्चय कर लेना चाहिए कि यह दूसरी आवृत्ति के योग्य है या नहीं? अच्छे-अच्छे ग्रंथों की कई आवृत्तियाँ होनी चाहिएं।

पढ़ने में अपने प्रिय विषय पर विशेषता अवश्य रक्खे, किंतु अन्य विषयों का तिरस्कार कभी न करे। कहा भी है कि 'विद्वान् को कुछ का सब कुछ और सब का कुछ कुछ अवश्य जानना चाहिए। बिना इसके वैविध्य लुप्त होकर

अनिर्वृत्य आ जाता है'। मनुष्य को सभा-चातुर्य्य और ज्ञान-गरिमा वैविध्य से ही प्राप्त होती है। अपने ऊपर उचित से अधिक विश्वास और अविश्वास न करे। ये दोनों विफलता के मूल-कारणों में से हैं। अपने साधारण अनुभव से हम महापुरुषों के चरित्र से अच्छे उदाहरण प्राप्त कर सकते हैं, वैसे ही जीवन-चरित्र श्रेष्ठ उदाहरण प्रदर्शन द्वारा हमें भारी लाभ पहुँचा सकते हैं। रामायण और महाभारत में राम और युधिष्ठिर के अतिरिक्त भी बहुत से अच्छे अच्छे उदाहरण मिलते हैं। जीवन-चरित्रों में व्यक्तित्व की मुख्यताओं का होना परमावश्यक है, यहाँ तक कि उसमें दोषों का भी कथन होना चाहिए, नहीं तो उदाहरण बहुत ऊँचा उठ जाता है और साधारण मनुष्यों को समझ पड़ने लगता है कि उसका अनुकरण असंभव है।

मनुष्य को किसी न किसी कला का भी पारगामी होना चाहिए। पियानो, हारमोनियम, अलगोजा, सितार, जलतरंग आदि अनेकानेक वाद्य तथा गाना, नाचना आदि बहुत से सामाजिक मनोरंजन हैं। इनमें से कुछ भी न जाननेवाला मनुष्य-समाज में आदर नहीं पा सकता। साहित्य का भी जानना बहुत अच्छा होता है। ऋषिवर महात्मा भर्तृहरि ने कहा भी है—

"साहित्य-संगीत-कला-विहीनः, साक्षात् पशुः पुच्छ-विषाणहीनः।
तृणन्न खादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम्॥"

बहुत से लोग हुनर की उन्नति को जातीय अवनति से मिलाकर उसकी निंदा करते हैं। वे लखनऊ और दिल्ली की

राजसभाओं को इसका उदाहरण बतलाते हैं। कलाओं से जब इंद्रिय-लोलुपता मिला दी जाती है, तब ऐसे बुरे उदाहरण देख पड़ते हैं। हुनर की वृद्धि अवश्य करनी चाहिए, किंतु इंद्रिय-संयम पर भी पूर्ण ध्यान रखना प्रत्येक सुधी को उचित है। प्रत्येक मनुष्य के लिये किसी न किसी लक्ष्य का होना आवश्यक है। बिना इसके न तो समुचित उन्नति हो सकती है और न आनंद ही प्राप्त होता है। जो कोई केवल आनंद ढूँढ़ना चाहता है, उसका मनोरथ कभी सफल नहीं होता, क्योंकि मनुष्य के लिये केवल आनंद कुछ है ही नहीं। जिस पदार्थ को पसंद करके मनुष्य उसमें मन लगाता है, उसी की प्राप्ति में आनंद है।

—मिश्रबंधु

(११) कल्पना-शक्ति

मनुष्य की अनेक मानसिक शक्तियों में कल्पना-शक्ति भी एक अद्‌भुत शक्ति है। यद्यपि अभ्यास से यह शतगुण अधिक हो सकती है, पर इसका सूक्ष्म अंकुर किसी-किसी के अंतःकरण मे आरंभ ही से रहता है, जिसे प्रतिभा के नाम से पुकारते हैं और जिसका कवियों के लेख में पूर्ण उद्‌गार देखा जाता है। कालिदास, श्रीहर्ष, शेक्सपियर, मिल्टन प्रभृति कवियों की कल्पना शक्ति पर चित्त चकित और मुग्ध हो, अनेक तर्क-वितर्क की भूल-भूलैया में चक्कर मारता, टकराता, अंत को इसी सिद्धांत पर आकर ठहरता है कि वह कोई प्राक्तन संस्कार का परिणाम है या ईश्वर-प्रदत्त शक्ति (Genius) है। कवियों का अपनी कल्पना-शक्ति के द्वारा ब्रह्मा के साथ होड़ करना कुछ अनुचित नहीं है; क्योंकि जगत् स्रष्टा तो एक ही बार जो कुछ बन पड़ा, सृष्टि-निर्माण-कौशल दिखलाकर आकल्पांत फ़रागत हो गए; पर कविजन नित्य नई नई रचना के गढ़ंत से न-जाने कितनी सृष्टि-निर्माण-चातुरी दिखलाते रहते हैं।

यह कल्पना-शक्ति कल्पना करनेवाले के हृद्‌गत भाव या मन के परखने की कसौटी या आदर्श है। शांत या वीर प्रकृतिवाले से शृंगार-रस-प्रधान कल्पना कभी न बन पड़ेगी। महाकवि मतिराम और भूषण इसके उदाहरण हैं। शृंगार-रस में पगी जयदेव की रसीली तबियत के लिये दाख और मधु से भी अधिकाधिक मधुर गीतगोविंद ही की रचना विशेष उपयुक्त थी। राम-रावण या कर्णार्जुन के युद्ध का वर्णन कभी

उनसे न बन पड़ा। यावत् मिथ्या और दरोग़ की क़िबलेगाह इस कल्पना पिशाचिनी का कहीं ओर छोर किसी ने पाया है! अनुमान करते-करते हैरान गौतम-से मुनि "गोतम" हो गए। कणाद् किनका खा-खाकर तिनका बीनने लगे; पर उन्होंने मन की मनभावनी कन्या कल्पना का पार न पाया। कपिल बेचारे पचीस तत्त्वों की कल्पना करते-करते "कपिल" अर्थात् पीले पड़ गए। व्यास ने इन तीनों महा-दार्शनिकों की दुर्गति देख मन में सोचा. कौन इस भूतनी के पीछे दौड़ता फिरे; यह संपूर्ण विश्व, जिसे हम प्रत्यक्ष देख सुन सकते हैं, सब कल्पना ही कल्पना, मिथ्या, नाशवान् और क्षण-भंगुर है, अतएव हेय है। उन्हीं की देखादेखी बुद्धदेव ने भी अपने बुद्धत्व का यही निष्कर्ष निकाला कि जो कुछ कल्पना-जन्य है, सब क्षणिक और नश्वर है। ईश्वर तक को उन्होंने इस कल्पना के अंतर्गत ठहराकर शून्य अथवा निर्वाण ही को मुख्य माना। रेखागणित के प्रवर्तक उक्लैदिस (-यूक्लिड) ज्यामिती की हरएक शकल में बिंदु और रेखा की कल्पना करते-करते हमारे सुकुमार-मति इन दिनों के छात्रों का दिमाग़ ही चाट गए। कहाँ तक गिनावें, संपूर्ण भारत-का-भारत इसी कल्पना के पीछे ग़ारत हो गया, जहाँ कल्पना (Theory) के अतिरिक्त करके दिखाने योग्य, (Practical) कुछ रहा ही नहीं। योरप के अनेक वैज्ञानिकों की कल्पना को शुष्क कल्पना से कर्त्तव्यता (Practice) में परिणत होते देख यहाँवालों को हाथ मल-मल पछताना और 'कलपना' पड़ा।

प्रिय पाठक! कल्पना बुरी बला है। चौकस रहो, इसके पेच में कभी न पड़ना, नहीं तो पछताओगे। आज हमने

भी इस कल्पना की कल्पना में पड़ बहुत-सी झूठी-झूठी कल्पना कर आपका थोड़ा सा समय नष्ट किया, क्षमा करियेगा।

—बालकृष्ण भट्ट

---

(१२) उद्देश्य और लक्ष्य

प्रत्येक युवक को अपनी जीवन-यात्रा आरंभ करने के पहले अपने उद्देश्य और लक्ष्य स्थिर कर लेने चाहिएँ। उनका अभाव जीवन के उपयोगों के लिये बड़ा ही घातक होता है। जो मनुष्य बिना किसी उद्देश्य पर लक्ष्य किए जीवन आरंभ कर देता है, उसकी उपमा उस मनुष्य से दी जा सकती है, जो बिना कोई गंतव्य स्थान नियत किए ही रेल या जहाज पर सवार हो लेता है। वह मनुष्य न तो यही जानता है कि मुझे कहाँ जाना है और न उसे यही ज्ञात है कि रेल या जहाज मुझे कहाँ पहुँचावेगा। उसका कहीं पहुँचना रेल या जहाज की कृपा पर ही अवलंबित है। रेल चाहे उसे काश्मीर की सीमा तक पहुँचा दे और जहाज चाहे उसे मिर्च के टापू में उतार दे। रेल या जहाज उसे चाहे जिस स्थान पर पहुँचा दे, पर स्वयं उसे उस स्थान से कोई विशेष लाभ नहीं हो सकता। हाँ काश्मीर पहुँचकर वह थोड़ी सी सैर जरूर कर लेगा; और मिर्च देश में संभव है कि कुछ कष्ट भी उठा ले। पर इन सबका कोई विशेष फल नहीं। वास्तविक फल की प्राप्ति केवल गंतव्य स्थान निश्चित कर लेने से ही होती है; व्यर्थ

की जगहों पर जाकर झूठ-मूठ टक्करें मारने से नहीं। इसलिये प्रत्येक मनुष्य को सबसे पहले यह निश्चय कर लेना चाहिये कि "मैं क्या होऊँगा।" इस प्रकार जब वह अपना उद्देश्य निश्चित कर ले, तब उस मार्ग में अग्रसर हो। अपना उद्देश्य या लक्ष्य निश्चित करने का सबसे अच्छा अवसर बाल्य और युवावस्था की संधि है। हमारा तात्पर्य उस समय से है, जब कि युवक अपनी शिक्षा आदि समाप्त करके सांसारिक व्यवहारों में लगने की तैयारी करता हो। उस समय वह जिस बात पर अपना लक्ष्य करे, उसे बिना पूरा किए न छोड़े। ऐसा करने से उसका जीवन सार्थक होगा और उसमें दृढ़ता, कर्त्तव्य-परायणता आदि गुण आप-से-आप आने लगेंगे। जब एक बार वह अपना उद्देश्य पूरा कर लेगा, तब उसे और आगे बढ़ने का साहस होगा और वह दूसरी बार आगे से अधिक उत्तम विषय को अपना लक्ष्य बनावेगा। इस प्रकार एक के बाद एक, उसके कई मनोरथ पूर्ण होंगे और वह जीवन की वास्तविक सफलता प्राप्त कर लेगा।

अपना उद्देश्य स्थिर करने को सफलता-शिखर की पहली सीढ़ी समझना चाहिए। इसी पर मनुष्य का सारा भविष्य निर्भर है और इसी लिये यह उसकी सफलता या विफलता का निर्णायक है। इस अवसर पर यह बात भूल न जानी चाहिए कि हमारा कथन केवल उन्ही युवकों के लिये है जो अपने पुरुषार्थ से जीविका निर्वाह करना चाहते हों। जिन्होंने जन्म से सदा मखमली बिछौने पर आराम किया हो, वे यदि जीवन और उसके कर्त्तव्यों का यथार्थ महत्त्व समझते हों तो वे भी इन उपदेशों से अच्छा लाभ उठा सकते हैं। पर यदि वे

इन पर यथेष्ट ध्यान न देकर कोई भूल भी कर बैठें, तो उनकी उतनी हानि नहीं हो सकती; और यदि हो भी तो उसकी शीघ्र ही पूर्ति हो जाती है। पर अधिकांश लोगों को अपने शरीर और मस्तिष्क से ही परिश्रम करके रुपया पैदा करना पड़ेगा और इसी कारण अपना उद्देश्य स्थिर करना उनके लिए सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। अपने लिये ऐसा व्यापार, पेशा, नौकरी अथवा और कोई काम स्थिर करना चाहिये जो अपनी शारीरिक शक्तियों तथा परिस्थिति के बिलकुल अनुकूल हो। इसके विरुद्ध यदि वह अपने लिये कोई ऐसा काम सोचे जो उसकी योग्यता या शक्ति से बाहर हो, तो अवश्य ही उसे विफल-मनोरथ होना पड़ेगा। जिस आदमी की रुचि व्यापार करने की ओर हो, उसे यदि रेल में टिकट-कलक्टर बना दिया जाय तो भला जीवन में उसे क्या सफलता होगी? जो जन्म से तान् उड़ाने का शौकीन हो, वह ज्योतिष पढ़कर क्या करेगा? एक हृष्ट-पुष्ट, धीर और साहसी मनुष्य शारीरिक परिश्रमवाले कार्यों में तो बहुत अच्छी सफलता प्राप्त कर लेगा, पर विचारक या पत्र-संपादक का काम उसके लिये भली-भाँति न हो सकेगा। पर ये सब विषय इतने गूढ़ हैं कि साधारणतः युवक लोग इन्हें भली भाँति नहीं समझ सकते। अतः यह कर्तव्य प्रधानतः विचारवान् माता-पिता का होना चाहिए कि वे अपनी संतान के लिये ऐसा काम सोचें जो सब प्रकार से उसकी रुचि, अवस्था और शक्ति के अनुकूल हो। यदि माता-पिता ने अपने पुत्र की रुचि समझने में कुछ भूल की तो परिणाम उलटा ही होगा। नानकशाह के पिता तो उन्हें सौदागर बनाना चाहते थे और बार बार सौदागरी के लिये

रुपये देते थे, पर बाबा नानक क्या करते थे? सब रुपये साधु-संतो को खिलाकर स्वयं भगवद्-भजन में लग जाते थे।

युवकों को उचित है कि वे अपने लिये वही काम सोचें जिसका करना उनकी शक्ति के बाहर न हो। जिस काम के लिये दिल गवाही न दे, वह कभी न करना चाहिए। पर साथ ही अनुचित भय या आशंका के कारण अपनी शुद्ध इच्छा या प्रवृत्ति को कभी रोकना भी न चाहिए। युवावस्था में मनुष्य स्वभावतः साहसी होता है और अच्छे या बुरे परिणाम पर उसका ध्यान नहीं रहता। इसी लिये कभी कभी वह निःशंक भाव से ऐसे-ऐसे कामों का बोझ अपने ऊपर ले लेता है, जिनका पूरा उतरना उसकी शक्ति के बाहर होता है। अपनी शक्ति का ठीक-ठीक अनुभव करने में सबसे अधिक सहायता उस अनुभव-जन्य ज्ञान से मिलती है, जो कुछ कष्ट और हानि सहकर प्राप्त किया जाता है। आरंभिक अवस्था में लोगों को जल्दी ऐसा ज्ञान नहीं होता और प्रायः इसी लिये लोग अधिक धोखा भी खाते हैं।

इस अवसर पर एक और बात बतला देना परम आवश्यक है। अपनी साधारण पसंद को ही हमें अपनी वास्तविक और शुद्ध रुचि या प्रवृत्ति न समझ लेना चाहिए। अगर किसी को गाना-बजाना कुछ अच्छा लगता हो, तो वह यह न समझ ले कि मैं संसार में दूसरा तानसेन बनने के लिये ही आया हूँ। यदि अपरिपक्व बुद्धिवाला कोई युवक किसी बड़े भारी वैज्ञानिक को देख अथवा उसका हाल सुनकर बिना उसके परिश्रम और कठिनाइयों का हाल जाने ही उसके समान बनने का प्रयत्न करे, तो अवश्य ही उसकी गिनती

भूलों में होगी। यद्यपि ऐसी भूलें बड़े-बूढ़ों और वयस्क मनुष्यों से भी हो सकती हैं, तथापि एक अज्ञानी युवक की भूलों की अपेक्षा बहुत ही कम हानिकारक होंगी। इसी लिये सब कामों में बड़ों से संमति ले लेना और साथ ही उनकी संमति का पूरा पूरा आदर करना बहुत ही लाभदायक होता है। आज-कल के कुछ नवयुवक नई रोशनी के फेर में पड़कर अपने बाप-दादा या दूसरे बड़े-बूढ़ों को निरा मूर्ख समझकर उनका निरादर और अपमान करने लगते हैं। ऐसे लोग प्रायः हानि ही उठाते हैं, और अनेक प्रकार के लाभों से वंचित रहते हैं। बड़ों की संमति से चलने में पहले-पहल भले ही कुछ कठिनता या अनुपयुक्तता जान पड़े, पर आगे चलकर शीघ्र ही अपना भ्रम प्रकट हो जाता है; और तब बड़ों के आज्ञाकारी बनने में और भी उत्तेजन मिलता है।

जो मनुष्य कठिनाइयों और विफलताओं की कुछ भी परवा न करके अपने मार्ग के कंटकों को बराबर दूर करता जाता है, वही संसार को कुछ कर दिखलाता है। पर इतनी श्रेष्ठ योग्यता बहुत ही कम लोगों में होती है। जिन लोगों में ऐसी ईश्वर-प्रदत्त योग्यता न हो, उन्हें उचित है कि वे अपने विचारों को उत्तमतर बनावें और राग, ईर्ष्या, द्वेष आदि से सदा दूर रहें। ऐसा करने से उनका कार्य बहुत सरल हो जायगा और योग्यतावाले अभाव की कुछ अंशों में पूर्ति हो जायगी। जिस मनुष्य के प्रत्येक कार्य में सत्यता और प्रत्येक विचार में दृढ़ता होती है, वही महानुभाव कहलाने के योग्य होता है। ऐसे मनुष्य पर अनुचित प्रलोभनों का कभी कोई प्रभाव नहीं पड़ता। वह कठिन से कठिन विपत्तियों को ईश्वरेच्छा

समझकर धैर्यपूर्वक सहन करता है, और सदा शांत तथा निर्भय होकर आपदाओं का सामना करता है। ईश्वर और सत्यता पर उसका बहुत ही अटल विश्वास रहता है। इसलिये सदा सत्य पक्ष का अनुसरण करो और अध्यवसायपूर्वक अपने काम में लगे रहो। संसार के सभी लोग बहुत बड़े विद्वान्, दार्शनिक, वैज्ञानिक, आविष्कर्त्ता या करोड़पति नहीं बन सकते। पर हाँ, सभी लोग अपने जीवन को प्रतिष्ठित और सुखपूर्ण अवश्य बना सकते हैं। इसके अतिरिक्त यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि अप्रतिष्ठा और विफलता छोटे अथवा तुच्छ समझे जाने वाले कामों में नहीं है, बल्कि उन कामों को अपनी शक्ति-भर न करने में है। जूता सीना निंदनीय नहीं है, निंदनीय है मोची होकर खराब जूता सीना।

इस देश के लोगों में सबसे बड़ी विलक्षणता यह है कि वे अपने बालकों को विद्यारंभ कराने के समय ही निश्चय कर लेते हैं कि लड़का पढ़-लिखकर नौकरी करेगा। पर स्वतंत्रता-पूर्वक घड़ीसाजी या बिसातखाने की छोटी सी दूकान करने की अपेक्षा किसी दफ़्तर में १५) महीने की नौकरी को अच्छा समझना बड़ी भारी भूल है। १५) के मुहर्रिर को सबेरे १० बजे से संध्या के ७ बजे तक दफ़्तर में पीसना पड़ता है; और जब उतनी थोड़ी आय में उसका काम नहीं चलता, तब वह सबेरे और संध्या के समय लड़कों को पढ़ाने का अथवा इसी प्रकार का और कोई काम ढूंढ़ने लगता है। इस प्रकार उसका सारा जीवन बड़े ही कठोर परिश्रम में बीतता है; और वह बड़ी ही दरिद्र तथा दुःखपूर्ण अवस्था में इस संसार को छोड़कर चल बसता है। बहुत से लोग ऐसे हैं जो नौकरी

में बहुत अधिक परिश्रम करते हैं। ऐसे मनुष्य यदि किसी स्वतंत्र काम में नौकरी की अपेक्षा आधा परिश्रम भी करें, तो वे अपेक्षाकृत उत्तमतर जीवन निर्वाह कर सकते हैं। पर वे नौकरी के उस भूत से लाचार रहते हैं, जो उनके माता-पिता बाल्यावस्था में ही उनके सिर पर चढ़ा देते हैं।

इधर कुछ दिनों से अमेरिका के साधारण निवासियों को वकील, डाक्टर अथवा पादरी बनने का खब्त बुरी तरह से सवार है। उनका अनुमान है कि इन्हीं कामों में सबसे अधिक धन भी मिलता है और प्रतिष्ठा भी होती है। इसी खब्त के पीछे हजारो आदमी मर गए और हजारों असाध्य रोगों से पीड़ित हो गए। ऐसे लोग देहातियो और कृषकों का उत्तम स्वास्थ्य देखकर दाँतों उँगली दबाते और मन ही मन पछताते हैं। यही नहीं, जो पेशे उन्होंने बहुत अधिक धनप्रद समझकर आरंभ किए थे, उन्हीं से उनकी रोटी तक ठीक-ठीक नहीं चलती; और दूसरे कामों को जिनमें अच्छी आय हो सकती है, वे लोग अप्रतिष्ठा के विचार से आरंभ भी नहीं कर सकते। वहाँ के एक विचारवान् लेखक ने ऐसे लोगों की दुर्दशा पर दुःख प्रकट करते हुए लिखा है कि अगर आप भिन्न-भिन्न पेशों और व्यापारों को एक टेबुल में बने हुए भिन्न-भिन्न आकार के कोई गोल, और कोई लंबे, कोई तिकोने और कोई चौकोर छेद समझें और आदमियों को उन्हीं सब आकारो के लकड़ी के टुकड़े मानें, तो आप देखेंगे कि चौकोर टुकड़े गोल छेदों में, गोल टुकड़े लंबे छेदो में और लंबे टुकड़े तिकोने छेदों में रक्खे हुए हैं; अर्थात् एक दूसरे की देखा-देखी लोग ऐसे-ऐसे कामों में लग जाते हैं जिनके लिये वे कदापि उपयुक्त नहीं

होते और यही उनकी विफलता और विपत्तियों का मूल कारण है।

इच्छा मात्र से ही हमारी योग्यता का कभी ठीक-ठीक परिचय नहीं मिल सकता। अधिकांश लोग ऐसे ही होंगे जिनकी इच्छाओं की कभी कोई निर्दिष्ट सीमा ही नहीं होती। हम नित्य-प्रति जिन मनोराज्यों के स्वप्न देखते हैं, वे अवश्य ही बहुत ऊँचे और दूर होते हैं। करोड़पति बनने की हमारी इच्छा-मात्र ही इस बात का पूरा प्रमाण नहीं है कि हम वास्तव में करोड़पति बनने के योग्य हैं अथवा किसी समय बन जायँगे। संसार में ऐसे लोगों की कमी नहीं है जो किसी महाकवि के दो-एक काव्य पढ़कर ही स्वयं महाकवि बनने के स्वप्न देखने लगते हैं। पर वे कभी इस बात का विचार करने की आवश्यकता नहीं समझते कि काव्य में थोड़ी गति या रुचि हो जाने अथवा केवल थोड़े से नीरस पदों की रचना कर लेने से ही मनुष्य सफलता के शिखर पर नहीं पहुँच सकता; और वास्तव में महाकवि बनने के लिये हजारों बड़े-बड़े ग्रंथों का ध्यानपूर्वक मनन करने के अतिरिक्त किसी विशिष्ट दैवी गुण की भी आवश्यकता होती है। यदि हम थोड़े-बहुत जोश के साथ किसी काम में लग जायँ तो इतने से ही हमें यह न समझ लेना चाहिये कि हम उसमें सफलता प्राप्त ही कर लेंगे। जब तक हम अपनी सारी शक्तियों से उस काम में न लगें, तब तक हमें सफलता की कोई आशा न रखनी चाहिए। इसी लिये केवल इच्छा को ही योग्यता समझ लेना बड़ी भारी भूल है। यदि हमारी इच्छा बलवती होकर कार्य्यरूप में परिणत हो जाय, हम उसमें सफलता प्राप्त करने का दृढ़

निश्चय कर लें, अपनी सारी शक्तियों से और अध्यवसायपूर्वक उस काम में लग जायँ और उसे बिना पूरा किए न छोड़ने का दृढ़ संकल्प कर लें, तभी हम सफल-मनोरथ होने की आशा कर सकते हैं, अन्यथा नहीं। सच्ची सफलता प्राप्त करने के लिये उत्कट इच्छा, दृढ़ संकल्प, पूर्ण अध्यवसाय और वास्तविक योग्यता की आवश्यकता होती है।

अपने जीवन के उद्देश्य स्थिर करने के समय हमें इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिए कि वे सत्यनिष्ठ मनुष्य के अयोग्य अथवा अनुपयुक्त न हों। यदि हम अपनी आकाँक्षाओं और उद्देश्यों को पूरा करने के लिये अनुचित और उचित सभी उपायों का अवलंबन करने लग जायँ, तो मानों हम आत्म-प्रतिष्ठा, सत्यता आदि गुणों को तिलांजलि दे देते हैं और ईश्वर-प्रदत्त शक्तियों का बड़ा बुरा उपयोग करते हैं। अपने आपको बड़ा भारी व्यापारी और कमाऊ समझनेवाले एक भले आदमी ने एक बार एक मित्र से अपने व्यापार के सिद्धांतों का वर्णन करते हुए कहा था—"मैं किसी राह चलते भले आदमी को देखकर उसके पाँचों कपड़ों पर हाथ डालता हूँ और उनमें से दुपट्टा, टोपी, रुमाल आदि जो कुछ मिल सके, ले लेने की चेष्टा करता हूँ। यदि वह होशियार हो और बचकर भागना चाहे तो मैं उसके अंगे का बंद लेकर ही संतुष्ट हो जाता हूँ। यदि कुछ भी न मिले तो भी मैं कभी दुःखी नहीं होता; क्योंकि ऐसे व्यापार मे हानि की कभी कोई संभावना ही नहीं होती।" कैसे श्रेष्ठ और प्रशंसनीय विचार हैं! ऐसे लोग यदि कभी अपनी धूर्तता से हजार दो हजार रुपये जमा भी कर लें तो भी वास्तविक सफलता कभी उनके

पास नहीं फटकती। उलटे दिन पर दिन लोग उनकी धूर्तता से अवगत होते जाते हैं और शीघ्र ही उन्हें अपने कुकर्मों के लिये भारी प्रायश्चित्त और पश्चात्ताप करना पड़ता है। यदि वे बहुत अधिक धूर्त हुए और उनके लिये प्रायश्चित्त या पश्चात्ताप की नौबत न आई, तो भी उनकी आत्मा को कभी शांति नहीं मिलती; दुष्कर्म उनके हृदय को सदा कचोटते रहते हैं। उनके दुष्कर्मों का संसार के अन्य लोगों पर जो विषाक्त प्रभाव पड़ता है और उनसे देश, समाज और व्यापार आदि को जो धक्का पहुँचता है, वह अलग।

मनुष्य में उच्चाकाँक्षा होना बहुत ही स्वाभाविक है और इसके लिये कोई उसकी निंदा नहीं कर सकता; बल्कि वास्तव में निंदनीय वही है जिसमें उच्चाकाँक्षा न हो। पर वह उच्चाकाँक्षा सत्य और न्याय के गले पर छुरी फेरनेवाली न होनी चाहिए। सामाजिक अथवा आर्थिक दृष्टि से उन्नति और वृद्धि की इच्छा रखना बुरा नहीं है; पर शुद्ध और संस्कृत आत्मा ऐसी उन्नति को कभी अपना लक्ष्य नहीं बनाती। हमें उचित है कि हम न्यायपूर्वक इस बात का विचार कर लें कि जीवन, परिश्रम, अध्ययन और कार्य आदि का वास्तविक परिणाम क्या होना चाहिए। कोरी प्रतिष्ठा प्राप्त करने की इच्छा बहुत ही बुरी और निंदनीय है। जो मनुष्य ज्ञान, परिश्रम और जीवन के उपयोग आदि का ध्यान नहीं रखता, उसे मनुष्य न समझना चाहिए। सच्चा परिश्रम और प्रयत्न ही हमें वास्तव में मनुष्य बना सकता है, परिणाम या फल का उतना महत्त्व नहीं है। जो मनुष्य केवल परिणाम के लिये ही लालायित रहता है, वह कभी पूरा पूरा प्रयत्न नहीं कर

सकता। उसके विचारों में उच्चता और शुद्धि नहीं हो सकती, और इसीलिये मार्ग में पड़ने वाली कठिनाइयों से वह घबरा जाता है। इसी लिये भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में निष्काम कर्म का उपदेश करते हुए कहा है—"केवल कर्म करना तुम्हारे अधिकार में है, उसके फलाफल पर तुम्हारा कोई वश नहीं। किये हुए कर्मों के फलों की आशा मन में कभी न रक्खो। साथ ही यह समझकर चुपचाप भी न बैठ जाओ कि संसार में अच्छे फलों का एकदम अभाव है। पूर्ण ईश्वरनिष्ठ होकर अपने कर्त्तव्य करते रहो। यदि कार्य्य सिद्ध हो जाय तो भी वाह वाह और न सिद्ध हो तो भी वाह वाह। यश और अपयश को समान समझना ही ईश्वर-निष्ठा है। फल की इच्छा रखकर कोई काम करना बहुत ही बुरा है; और जो लोग ऐसा करते हैं, वे क्षुद्र हैं।" वास्तव में यश और अपयश की कुछ भी परवा न करके अपना कर्त्तव्य बराबर पालन करते जाना ही सबसे अधिक बुद्धिमत्ता है।

कभी-कभी बहुत छोटी और तुच्छ बातों से भी मनुष्य का सारा जीवन उसी प्रकार नष्ट हो जाता है, जिस प्रकार एक छोटी सी चिनगारी से सारा शहर। थोड़ी सी जल्दबाजी, नासमझी या सुस्ती से बहुत कुछ अनर्थ हो सकता है। छोटे से छोटे दोष या रोग को भी कभी उपेक्षा की दृष्टि से न देखना चाहिए और उन्हें यथासाध्य शीघ्र समूल नष्ट करने का प्रयत्न करना चाहिए। आज हम जिस दोष को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं, वही कुछ दिनों बाद हमारे लिये बड़ा घातक हो सकता है; और उस समय उससे पीछा छुड़ाना भी हमारी सामर्थ्य से बाहर हो जाता है। आज यदि हम थोड़ा सा ऋण

ले लें तो कल हमें और भी भारी रकम लेने का साहस हो जायगा और चार दिन बाद उसकी कृपा से हमारी सारी संपत्ति नष्ट हो सकती है। इसलिए जहाँ तक हो सके, सब प्रकार के दुर्गुणों और दोषों से बहुत बचना चाहिए।

अपना व्यापार या पेशा निश्चित करने से पहले हमें अपनी वास्तविक रुचि और शक्ति का पता लगा लेना चाहिए। संभव है कि गृह-शिक्षा, मित्रों के आचरण, परिस्थिति अथवा अन्य ऊपरी बातों का हम पर बहुत कुछ प्रभाव पड़े और उसके कारण हम अपने उचित पथ से हटकर दूर जा पड़ें। कभी-कभी इन कारणों से मनुष्य की वास्तविक रुचि बहुत कुछ दब जाती है। जिस प्रकार प्रातःकाल से ही दिन का पता लग जाता है, उसी प्रकार बाल्यावस्था से ही मनुष्य के संबंध की बहुत-सी मुख्य-मुख्य बातें जानी जाती हैं। इस वास्ते प्रत्येक व्यक्ति के लिये यह परम आवश्यक है कि बाल्यावस्था से ही वह ऐसी परिस्थिति और साधनों से घिरा रहे जो उसकी मनोवृत्तियों को शुद्ध, उच्च और सबल बनावें और उसमें सरलता, सुजनता, सत्यनिष्ठा और सात्त्विक भावों का आरोपण करें। मन और वासनाओं को वश में रखने का अभ्यास बाल्यावस्था में ही पूर्ण-रूप से हो सकता है, आगे चलकर नहीं। बाल्यावस्था में हृदय अपनी कोमलता के कारण सब प्रकार के सद्गुणों अथवा दुर्गुणों को ग्रहण करने के लिये सदा प्रस्तुत रहता है। बाल्यावस्था के संस्कार ही युवावस्था में प्रबल रहते और हमारे भावी जीवन के विधाता होते हैं। वृत्तियाँ उसी समय हर तरह के साँचे में ढाली जा सकती हैं। ऐसे महापुरुष बहुत ही कम मिलेंगे जिनका बाल्य-

काल का आचरण अपवित्र और दूषित रहा हो। बाल्यावस्था में प्रकृति अनुकरण-प्रिय होती है और आस-पास के लोगों को जो कुछ करते देखती है, उसे तुरंत ग्रहण कर लेती है।

प्रकृति पर प्रभाव डालने के संबंध मे एक और बात ध्यान रखने योग्य है। पुरुष-मात्र पर जितना अधिक प्रभाव स्त्री-जाति का पड़ता है, उतना और किसी का नहीं पड़ता। इस प्रभाव की प्रधानता उस समय और भी बढ़ जाती है, जब माता और पुत्र का संबंध उपस्थित होता है। मनुष्य प्रायः वही बनता है जो उसकी माता उसे बनाना चाहती है। जो शिक्षाएँ हमें माता द्वारा मिलती हैं, वे चिता तक हमारा साथ देती हैं। एक विद्वान् ने बहुत ठीक कहा है—"एक माता सौ शिक्षकों के बराबर है।" राजमाता जिजाबाई ने ही शिवाजी को वास्तविक शिवाजी बनाया था। बिना माता देवलदेवी की शिक्षा के आल्हा और ऊदल को हम उस रूप में नहीं देख सकते थे जिसमें कि अब देखते हैं। ध्रुव ने अपनी माता के कारण ही इतना उच्च स्थान पाया था। परशुराम से उनकी माता रेणुका ने ही इक्कीस बार क्षत्रियों का विध्वंस कराया था। नेपोलियन, पिट, जार्ज वाशिंगटन आदि सभी बड़े-बड़े लोगों ने अपनी-अपनी माताओं की बदौलत ही इतनी कीर्ति पाई है। ऋषि-कल्प दादाभाई नौरोजी भी सबसे अधिक अपनी माता के ही ऋणी थे।

माता के उपरांत मनुष्य पर दूसरा प्रभाव उसके साथियों का पड़ता है। किसी मनुष्य की वास्तविक योग्यता या स्थिति का बहुत कुछ परिचय उसके साथियों की योग्यता और स्थिति

से ही मिल जाता है। एक कहावत है—"तुख़्म तासीर सोहबत असर।" उत्तम संगति मनुष्य में सद्गुण आते हैं और बुरी संगति से दुर्गुण। प्रसिद्ध फारसी कवि शेख सादी ने एक स्थल पर कहा है—"मैंने मिट्टी के एक ढेले से पूछा कि तुझमें सुगंध कहाँ से आई ? उसने उत्तर दिया, यह सुगंध मेरी अपनी नहीं है; मैं केवल कुछ समय तक गुलाब की एक क्यारी में रहा था, उसी का यह प्रभाव है।" उसी कवि ने एक और स्थल पर कहा है—"अगर देवता भी दानवों के साथ रहे तो वह कपटी और दोषी हो जायगा।" तात्पर्य यह है कि मनुष्य में स्वयं जिन बातों की कमी हो, उनकी पूर्ति मित्रों द्वारा हो जाती है। इसलिये यदि हममें उत्तम गुणों का अभाव हो और हम उस अभाव की पूर्ति करना चाहें तो हमें उचित है कि ऐसे लोगों का साथ करें जिनमें वे गुण उपस्थित हों। अपने जीवन को परम पवित्र और आदर्श बनाने का सबसे अच्छा उपाय यही है कि हम सदा ऐसे लोगों का साथ करें जो विद्या, बुद्धि, प्रतिष्ठा और विचार आदि में हमसे कहीं अच्छे हों।

एक पुराने लेखक का कथन है—"जब तुम किसी से मित्रता करना चाहो तो पहले उसकी परीक्षा कर लो; क्योंकि बहुत से लोग बड़े स्वार्थी हुआ करते हैं और आपत्ति के समय कभी काम नहीं आते। + + + + + + + एक सच्चा मित्र बहुत अच्छा सहायक और रक्षक होता है। जिसे सच्चा मित्र मिल जाय, उसे समझना चाहिए कि मुझे कुबेर की निधि मिल गई।" यद्यपि फारसी के प्रसिद्ध कवि सादी ने एक स्थान पर स्पष्ट कह दिया है कि इस संसार में

सच्चा मित्र नहीं मिल सकता; और संभव है कि किसी विशेष आदर्श को देखते हुए उक्त कथन किसी अंश तक सत्य भी हो, तथापि इसमें संदेह नहीं कि संसार में बहुत से ऐसे लोग मिलेंगे जिन्होंने अपने मित्रों को घोर विपत्ति के समय पूरा सहारा दिया है, और यथासाध्य सब प्रकार से उनकी सहायता करके उन्हें अनेक प्रकार के कष्टों से मुक्त किया है। तो भी ऊपर जो चेतावनी दी गई है, वह सदा ध्यान में रखने-लायक है; क्योंकि तुम्हारे जीवन की उपयोगिता बहुत से अंशों में तुम्हारे मित्रों की योग्यता और विचारों पर ही निर्भर करती है। उत्तम गुणोंवाले लोगों से मित्रता करो; तुम्हारा जीवन भी उत्तम हो जायगा। ऐसे आदमियों को अपना आदर्श और पथ-प्रदर्शक बनाओ जिनका अनुकरण करने में तुम्हारी प्रतिष्ठा हो। जैसे उत्तम या निकृष्ट खाद्य पदार्थों का शरीर पर अच्छा या बुरा प्रभाव पड़ता है, वैसे मन पर अच्छी या बुरी सोहबत का भी असर होता है। सुयोग्य मनुष्य की संगति के कारण लोगों का महत्त्व भी बढ़ जाता है और अनेक अवसरों पर उनके उत्तम गुणों के विकास की बहुत अच्छी संधि मिलती है। यदि रामचंद्र न होते तो सुग्रीव या विभीषण का इतना महत्त्व कहाँ से बढ़ता? बिना श्रीकृष्ण के सुदामा को कौन पूछता? बिना चाणक्य के चंद्रगुप्त और बिना चंद्रगुप्त के चाणक्य की कीर्ति का इतना विस्तार कब संभव था?

भगवान् श्रीकृष्ण और बुद्ध, वीरशिरोमणि महाराणा प्रताप और शिवाजी, भक्त-कुल-तिलक तुलसी और सूर की जीवन-घटनाओं का विचारपूर्वक अध्ययन करने से हमें जान पड़ेगा कि वास्तव में हमारा जीवन अपेक्षाकृत कितना हीन

और तुच्छ है और उसे उन्नत तथा सार्थक करने की हमें कहाँ तक आवश्यकता है। क्या इससे यह शिक्षा नहीं मिलती, कि यदि हम अपने जीवन के उद्देश्यों को उच्च बनाना चाहें तो हमें ऐसे श्रेष्ठ लोगों का साथ करना चाहिए जो सदा हमारी उन्नति में सहायक होते रहें और जिनके साथ से हमारी प्रतिष्ठा और मर्य्यादा बराबर बढ़ती रहे। एक आदर्श महान् पुरुष हमारे लिये संसार-सागर में दीपालय के समान है जो हमें विपत्तिजनक स्थान की सूचना ही नहीं देता, बल्कि हमें सुरक्षित मार्ग दिखलाता है; जो हमें केवल चट्टानें ही नहीं दिखलाता, बल्कि बंदर तक पहुँचा भी देता है। उत्तम विचारों से हृदय प्रकाशित होता है; और उत्तम कार्यों से उसे उन्नत होने में उत्तेजना तथा सहायता मिलती है। इसलिये सदा ऐसे लोगों का साथ करना चाहिए जो हमें ऊपर की ओर उठा सकें; और जिनमें हमें केवल नीचे ढकेलने की शक्ति हो, उनसे सदा दूर रहना चाहिए। एक विद्वान् का कथन है—"संसार में भलाई से ही बहुत-सा उपकार हो जाता है। भलाई और बुराई केवल अपने तक ही नहीं रहतीं, बल्कि जिनका उनके साथ संसर्ग होता है, उन्हें भी वह भला या बुरा बना देती हैं। इसकी उपमा तालाब में फेंके हुए पत्थर से दी जा सकती है जो एक के बाद एक, इतनी लहरें उत्पन्न करता और उन्हें बढ़ाता जाता है कि अंत में वे किनारों तक पहुँच जाती हैं।" बुरे मनुष्य का साथ आपको कभी दूसरों का उपकार करने के योग्य नहीं रख सकता। आचरण का सूत्र तो पलीते के समान है। जहाँ तक उसका संसर्ग रहेगा वहाँ तक उसका प्रभाव बराबर चला जायगा।

अपने जीवन का उद्देश्य स्थिर करने में हमें अनेक प्रकार के कारणों से सहायता मिलती है। कभी कभी तो एक साधारण घटना ही हमारे लिये विस्तृत भाग्य का द्वार खोल देती है। ऐसी घटना हमारी प्राकृतिक प्रवृत्ति को किसी ऐसे काम में लगा देती है जो हमारे लिये बहुत उपयुक्त होता है। सप्तर्षियों के उपदेश से वाल्मीकि कुछ ही क्षणों में डाकू से साधु हो गये थे। इब्राहीम अहमद बादशाह अपनी लौंडी के इसी कहने पर—"मैं थोड़ी देर इस मनसद पर सोई तो मेरी यह दशा हुई; जो इस पर नित्य सोता है, उसकी क्या दशा होगी?" अपना सारा राज्य छोड़कर फ़कीर हो गया था। गोस्वामी तुलसीदास को उनकी स्त्री के एक ही मर्म्मभेदी वाक्य ने इतना बड़ा महात्मा और कवि बना दिया था। भाग्य-चक्र को पलटने के लिये थोड़ा सा सहारा ही यथेष्ट होता है। पर हममें अधिकांश न तो ऐसे सहारे की प्रतीक्षा ही कर सकते हैं और न उसकी प्रतीक्षा की कोई विशेष आवश्यकता ही है। जिस काम में हम लगे हैं, वह यदि निंद्य न हो और हमारी प्रवृत्ति उसकी ओर हो, तो हमें अपनी सारी शक्तियो से उसी में लगे रहना चाहिए। हमें कभी पश्चात्ताप करने का अवसर न मिलेगा। जो कार्य्य हमारे सामने उपस्थित है, उसे पूरा करने में सारी शक्तियाँ लगा देना ही हमारा परम कर्त्तव्य है। ध्यान केवल इस बात का रखना चाहिए कि हमारा यह कार्य्य पवित्र और प्रशंसनीय हो और हम उसमें बराबर ईमानदारी से लगे रहें।

अपने लिये कोई ऐसा काम ढूँढ़ निकालना जिसमें हमें सफलता हो सके, बहुत कठिन नहीं है। हमारी प्राकृतिक प्रवृत्ति

कई प्रकार से अपना परिचय दे देती है। बहुत से लोगों की प्राकृतिक प्रवृत्ति का परिचय तो उनकी बाल्यावस्था में ही मिल जाता है। जो लोग अधिक प्रतिभाशाली होते हैं; उनकी प्रवृत्ति किसी प्रकार दबाए दब ही नहीं सकती। उसी से संबंध रखनेवाले विचार उनके हृदय में आते हैं और उसी के स्वप्न भी वे देखते हैं। जो मनुष्य किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये दिन-रात चिंता और प्रयत्न करता रहता है, उसके लिये निराश होने का कोई विशेष कारण नहीं है। हाँ, पहले उद्देश्य निश्चित करने में किसी प्रकार का उतावलापन न करना चाहिए। जब एक बार उद्देश्य स्थिर हो जाय, तब शीघ्र ही यह न समझने लग जाना चाहिए कि यह अयुक्त अथवा कष्ट-साध्य है। कुछ लोग जल्दी-जल्दी अपना काम बदला करते हैं। फल यह होता है कि वे एक में भी कृतकार्य नहीं होते। अपने पेशे या काम से भी घृणा न करनी चाहिए। कुछ लोग शारीरिक श्रम अथवा किसी प्रकार की छोटी-मोटी दूकान करना अपनी शान के खिलाफ समझते हैं। यह बड़ी उपहासास्पद भूल है। तुम अपने काम को अपना कर्तव्य समझकर करो; कर्त्तव्य-पालन से बढ़कर प्रशंसनीय और कोई बात हो ही नहीं सकती। याद रक्खो, परिश्रम कभी मनुष्य का महत्त्व नहीं घटा सकता; केवल मूर्ख ही का परिश्रम महत्त्व घटा सकता है।

—रामचंद्र वर्मा

(१३) भाव या मनोविकार

अनुभूति के द्वंद्व ही से प्राणी के जीवन का आरंभ होता है। उच्च प्राणी मनुष्य भी केवल एक जोड़ी अनुभूति लेकर इस संसार में आता है। बच्चे के छोटे-से हृदय में पहले सुख और दुःख की सामान्य अनुभूति-भर के लिए जगह होती है। पेट का भरा या खाली रहना ही ऐसी अनुभूति के लिए पर्याप्त होता है। जीवन के आरंभ में इन्हीं दोनों के चिह्न हँसना और रोना देखे जाते हैं। पर ये अनुभूतियाँ बिल्कुल सामान्य रूप में रहती हैं; विशेष-विशेष विषयों की ओर विशेष-विशेष रूपों में ज्ञान-पूर्वक उन्मुख नहीं होतीं।

नाना विषयो के बोध का विधान होने पर ही उनसे संबंध रखनेवाली इच्छा की अनेकरूपता के अनुसार अनुभूति के वे भिन्न-भिन्न योग संघटित होते हैं जो भाव या मनोविकार कहलाते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि सुख और दुःख की मूल अनुभूति ही विषय-भेद के अनुसार प्रेम, हास, उत्साह, आश्चर्य, क्रोध, भय, करुणा, घृणा इत्यादि मनोविकारों का जटिल रूप धारण करती है। जैसे यदि शरीर में कहीं सुई चुभने की पीड़ा हो तो केवल सामान्य दुःख होगा, पर यदि साथ ही यह ज्ञान हो जाय कि सुई चुभानेवाला कोई व्यक्ति है तो उस दुःख की भावना कई मानसिक और शारीरिक वृत्तियों के साथ संश्लिष्ट होकर उस मनोविकार की योजना करेगी जिसे क्रोध कहते हैं। जिस बच्चे को पहले अपने ही दुःख का ज्ञान होता था, बढ़ने पर असंलक्ष्य-क्रम अनुमान-द्वारा

उसे और बालकों का कष्ट या रोना देखकर भी एक विशेष प्रकार का दुःख होने लगता है जिसे दया या करुणा कहते हैं। इसी प्रकार जिसपर अपना वश न हो ऐसे कारण से पहुँचनेवाले भावी अनिष्ट के निश्चय से जो दुःख होता है वह भय कहलाता है। बहुत छोटे बच्चे को ज़िसे यह निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती, भय कुछ भी नहीं होता। यहाँ तक कि उसे मारने के लिए हाथ उठाएँ तो भी वह विचलित न होगा; क्योंकि वह यह निश्चय नहीं कर सकता कि इस हाथ उठाने का परिणाम दुःख होगा।

मनोविकारों या भावों की अनुभूतियाँ परस्पर तथा सुख या दुःख की मूल अनुभूति से ऐसी ही भिन्न होती हैं जैसे रासायनिक मिश्रण परस्पर तथा अपने संयोजक द्रव्यों से भिन्न होते हैं। विषय-बोध की विभिन्नता तथा उससे संबंध रखने वाली इच्छाओं की विभिन्नता के अनुसार मनोविकारों की अनेकरूपता का विकास होता है। हानि या दुःख के कारण में हानि या दुःख पहुँचाने की चेतन वृत्ति का पता पाने पर हमारा काम उस मूल अनुभूति से नहीं चल सकता जिसे दुःख कहते हैं; बल्कि उसके योग से संघटित क्रोध नामक जटिल-भाव की आवश्यकता होती है। जब हमारी इंद्रियाँ दूर से आती हुई क्लेशकारिणी बातों का पता देने लगती हैं, जब हमारा अंतःकरण हमें भावी आपदा का निश्चय कराने लगता है, तब हमारा काम दुःख-मात्र से नहीं चल सकता: बल्कि भागने वा बचने की प्रेरणा करनेवाले भय से चलता है। इसी प्रकार अच्छी लगनेवाली वस्तु या व्यक्ति के प्रति जो सुखानुभूति होती है प्रयत्नवान् प्राणी उसी तक नहीं रह

सकता; बल्कि उसकी प्राप्ति, रक्षा या संयोग की प्रेरणा करनेवाले लोभ या प्रेम के वशीभूत होता है।

अपने मूल रूपों में सुख और दुःख दोनों की अनुभूतियाँ कुछ बँधी हुई शारीरिक क्रियाओं की ही प्रेरणा प्रवृत्ति के रूप में करती हैं। उनमें भावना, इच्छा और प्रयत्न की अनेकरूपता का स्फुरण नहीं होता। विशुद्ध सुख की अनुभूति होने पर हम बहुत करेंगे—दाँत निकालकर हँसेंगे, कूदेंगे या सुख पहुँचानेवाली वस्तु से लगे रहेंगे; इसी प्रकार शुद्ध दुःख में हम बहुत करेंगे—हाथ-पैर पटकेंगे, रोएँगे, चिल्लाएँगे या दुःख पहुँचानेवाली वस्तु से हटेंगे। पर हम चाहे कितना ही उछल-कूदकर हँसें, कितना ही हाथ-पैर पटककर रोएँ, इस हँसने या रोने को प्रयत्न नहीं कह सकते। ये सुख और दुःख के अनिवार्य लक्षण मात्र हैं जो किसी प्रकार की इच्छा का पता नहीं देते। इच्छा के बिना कोई शारीरिक क्रिया प्रयत्न नहीं कहला सकती।

शरीर-धर्म-मात्र के प्रकाश से बहुत थोड़े भावों की निर्दिष्ट और पूर्ण व्यंजना हो सकती है। उदाहरण के लिए कंप लीजिए। कंप शीत की संवेदना से भी हो सकता है, भय से भी, क्रोध से भी, और प्रेम के वेग से भी। अतः जब तक भागना छिपना या मारना-झपटना इत्यादि प्रयत्नों के द्वारा इच्छा के स्वरूप का पता न लगेगा तब तक भय या क्रोध की सत्ता पूर्णतया व्यक्त न होगी। सभ्य जातियों के बीच इन प्रयत्नों का स्थान बहुत कुछ शब्दों ने ले लिया है। मुँह से निकले हुए वचन ही अधिकतर भिन्न-भिन्न प्रकार की इच्छाओं

का पता देकर भावों की व्यंजना किया करते हैं। इसी से साहित्य-मीमांसकों ने अनुभाव के अंतर्गत आश्रय की उक्तियों को विशेष स्थान दिया है।

क्रोधी चाहे किसी की ओर झपटे या न झपटे, उसका यह कहना ही कि 'मैं उसे पीस डालूँगा' क्रोध की व्यंजना के लिए काफ़ी होता है। इसी प्रकार लोभी चाहे लपके या न लपके, उसका यह कहना ही कि 'कहीं वह वस्तु हमें मिल जाती!' उसके लोभ का पता देने के लिए बहुत है। वीररस की जैसी अच्छी और परिष्कृत अनुभूति उत्साह-पूर्ण उक्तियों-द्वारा होती है वैसी तत्परता के साथ हथियार चलाने और रण-क्षेत्र में उछलने-कूदने के वर्णन में नहीं। बात यह है कि भावों-द्वारा प्रेरित प्रयत्न या व्यापार परिमित होते हैं। पर वाणी के प्रसार की कोई सीमा नहीं। उक्तियों में जितनी नवीनता और अनेकरूपता आ सकती है या भावों का जितना अधिक वेग व्यंजित हो सकता है उतना अनुभाव कहलानेवाले व्यापारों-द्वारा नहीं। क्रोध के वास्तविक व्यापार तोड़ना-फोड़ना, मारना-पीटना इत्यादि ही हुआ करते हैं; पर क्रोध की उक्ति चाहे जहाँ तक बढ़ सकती है। 'किसी को धूल में मिला देना, चटनी कर डालना, किसी का घर खोदकर तालाब बना डालना' तो मामूली बात है। यही बात सब भावों के संबंध में समझिए।

समस्त मानव-जीवन के प्रवर्त्तक भाव या मनोविकार ही होते हैं। मनुष्य की प्रवृत्तियों के तह में अनेक प्रकार के भाव ही प्रेरक के रूप में पाए जाते हैं। शील या चरित्र का मूल भी

भावों के विशेष प्रकार के संघटन में ही समझना चाहिए। लोक-रक्षा और लोक-रंजन की सारी व्यवस्था का ढाँचा इन्हीं पर ठहराया गया है। धर्म-शासन, राज-शासन, मत-शासन—सब में इससे पूरा काम लिया गया है। इनका सदुपयोग भी हुआ है और दुरुपयोग भी। जिस प्रकार लोक-कल्याण के व्यापक उद्देश्य की सिद्धि के लिए मनुष्य के मनोविकार काम में लाए गए हैं उसी प्रकार किसी संप्रदाय या संस्था के संकुचित और परिमित विधान की सफलता के लिए भी।

शासन-मात्र में—चाहे धर्म-शासन हो, चाहे राज-शासन या संप्रदाय-शासन—मनुष्य-जाति के भय और लोभ से पूरा काम लिया गया है। दंड का भय और अनुग्रह का लोभ दिखाते हुए राज-शासन तथा नरक का भय और स्वर्ग का लोभ दिखाते हुए धर्म-शासन और मत-शासन चलते आ रहे हैं। इनके द्वारा भय और लोभ का प्रवर्त्तन उचित सीमा के बाहर भी प्रायः हुआ है और होता रहता है। जिस प्रकार शासक-वर्ग अपनी रक्षा और स्वार्थ-सिद्धि के लिए भी इनसे काम लेते आए हैं उसी प्रकार धर्म-प्रवर्त्तक और आचार्य अपने स्वरूप-वैचित्र्य की रक्षा और अपने प्रभाव की प्रतिष्ठा के लिए भी। शासक-वर्ग अपने अन्याय और अत्याचार के विरोध की शांति के लिए भी डराते और ललचाते आये हैं। मत-प्रवर्त्तक अपने द्वेष और संकुचित विचारों के प्रचार के लिये भी जनता को कँपाते और लपकाते आए हैं। एक जाति को मूर्त्ति-पूजा करते देख दूसरी जाति के मत-प्रवर्त्तक ने उसे गुनाहों में दाखिल किया है। एक संप्रदाय को भस्म और रुद्राक्ष धारण करते देख दूसरे संप्रदाय के प्रचारक ने उनके

दर्शन तक में पाप लगाया है। भाव-क्षेत्र अत्यंत पवित्र क्षेत्र है। उसे इस प्रकार गंदा करना लोक के प्रति भारी अपराध समझना चाहिए।

शासन की पहुँच प्रवृत्ति और निवृत्ति की बाहरी व्यवस्था तक ही होती है। उनके मूल या मर्म तक उसकी गति नहीं होती। भीतरी या सच्ची प्रवृत्ति-निवृत्ति को जागरित रखने-वाली शक्ति कविता है तो धर्म-क्षेत्र में भक्ति-भावना को जगाती रहती है। भक्ति धर्म की रसात्मक अनुभूति है। अपने मंगल और लोक के मंगल का संगम उसी के भीतर दिखाई पड़ता है। इस संगम के लिये प्रकृति के क्षेत्र के बीच मनुष्य को अपने हृदय के प्रसार का अभ्यास करना चाहिए। जिस प्रकार ज्ञान नर-सत्ता के प्रसार के लिये है; उसी प्रकार हृदय भी। रागात्मिक वृत्ति के प्रसार के बिना विश्व के साथ जीवन का प्रकृत सामंजस्य घटित नहीं हो सकता। जब मनुष्य के सुख और आनंद का मेल शेष प्रकृति के सुख-सौंदर्य के साथ हो जायगा, जब उसकी रक्षा का भाव तृण-गुल्म, वृक्ष-लता, पशु-पक्षी, कीट-पतंग सबकी रक्षा के भाव के साथ समन्वित हो जायगा, तब उसके अवतार का उद्देश्य पूर्ण हो जायगा और वह जगत् का सच्चा प्रतिनिधि हो जायगा, काव्य-योग की साधना इसी भूमि पर पहुँचाने के लिए है। सच्चे कवियों की वाणी बराबर यही पुकारती आ रही है—

विधि के बनाए जीव जेते हैं जहाँ के तहाँ।
खेलत फिरत तिन्हें खेलन फिरन देव॥ (ठाकुर)

—रामचंद्र शुक्ल

(१४) कर्तव्य और सत्यता

कर्तव्य वह वस्तु है जिसे करना हम लोगों का परम धर्म है और जिसके न करने से हम लोग और लोगों की दृष्टि से गिर जाते और अपने कुचरित्र से नीच बन जाते हैं। प्रारंभिक अवस्था में कर्तव्य का करना बिना दबाव से नहीं हो सकता, क्योंकि पहले-पहल मन आप ही उसे करना नहीं चाहता। इसका आरंभ पहले घर से ही होता है, क्योंकि यहाँ लड़कों का कर्तव्य माता-पिता की ओर और माता-पिता का कर्तव्य लड़कों की ओर देख पड़ता है। इसके अतिरिक्त पति पत्नी, स्वामी-सेवक और स्त्री-पुरुष के भी परस्पर अनेक कर्तव्य हैं। घर के बाहर हम मित्रों, पड़ोसियों और राजा-प्रजाओं के परस्पर कर्तव्यों को देखते हैं। इसलिये संसार में, मनुष्य का जीवन कर्तव्यों से भरा पड़ा है, जिधर देखो उधर कर्तव्य ही कर्तव्य देख पड़ते हैं। बस, इसी कर्तव्य का पूरा पूरा पालन करना हम लोगों का धर्म है; और इसी से हम लोगों के चरित्र की शोभा बढ़ती है। कर्तव्य का करना न्याय पर निर्भर है और वह न्याय ऐसा है जिसे समझने पर हम लोग प्रेम के साथ उसे कर सकते हैं।

हम सब लोगों के मन में एक ऐसी शक्ति है जो हम सभी को बुरे कामों के करने से रोकती है और अच्छे कामों की ओर हमारी प्रवृत्ति को झुकाती है। यह बहुधा देखा गया है कि जब कोई मनुष्य खोटा काम करता है तब बिना किसी के कहे आप ही लजाता और अपने मन में दुखी होता है।

लड़को ! तुमने बहुत देखा होगा कि जब कभी कोई लड़का किसी मिठाई को चुराकर खा लेता है तब वह मन में डरा करता है और पीछे से आप ही पछताता है कि मैंने ऐसा काम क्यों किया, मुझे अपनी माता से कहकर खाना था । इसी प्रकार का एक दूसरा लड़का, जो कभी कुछ चुराकर नहीं खाता, सदा प्रसन्न रहता है और उसके मन में कभी किसी प्रकार का डर और पछतावा नहीं होता। इसका क्या कारण है ? यही कि हम लोगों का यह कर्तव्य है कि हम कभी चोरी न करें, परंतु जब हम चोरी कर बैठते हैं तब हमारी आत्मा हमें कोसने लगती है। इसलिये हमारा यह धर्म है कि हमारी आत्मा हमें जो कहे, उसके अनुसार हम करें । दृढ़ विश्वास रक्खो कि जब तुम्हारा मन किसी काम के करने से हिचकिचाए और दूर भागे तब कभी तुम उस काम को न करो। तुम्हें अपना धर्म-पालन करने में बहुधा कष्ट उठाना पड़ेगा पर इससे तुम साहस न छोड़ो। क्या हुआ जो तुम्हारे पड़ोसी ठग-विद्या और असत्यपरता से धनाढ्य हो गये और तुम कंगाल ही रह गये। क्या हुआ जो दूसरे लोगों ने झूठी चाटुकारी करके बड़ी बड़ी नौकरियाँ पा लीं और तुम्हें कुछ न मिला और क्या हुआ जो दूसरे नीच कर्म करके सुख भोगते हैं और तुम सदा कष्ट में रहते हो। तुम अपने कर्तव्य-धर्म को कभी न छोड़ो और देखो इससे बढ़कर संतोष और आदर क्या हो सकता है कि तुम अपने धर्म का पालन कर सकते हो।

हम लोगों का जीवन सदा अनेक कार्यों में व्यग्र रहता

है। हम लोगों को सदा काम करते ही बीतता है। इसलिये हम लोगों को इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिये कि हम लोग सदा अपने धर्म के अनुसार काम करें और कभी उसके पथ पर से न हटें; चाहे उसके करने में हमारे प्राण भी चले जायँ तो कोई चिंता नहीं।

धर्म-पालन करने के मार्ग में सबसे अधिक बाधा चित्त की चंचलता, उद्देश्य की अस्थिरता और मन की निर्बलता से पड़ती है। मनुष्य के कर्तव्य-मार्ग में एक ओर तो आत्मा के भले और बुरे कामों का ज्ञान, और दूसरी ओर आलस्य और स्वार्थपरता रहती है। बस, मनुष्य इन्हीं दोनों के बीच में पड़ा रहता है और अंत में यदि उसका मन पक्का हुआ तो वह आत्मा की आज्ञा मानकर अपने धर्म का पालन करता है और यदि उसका मन कुछ काल तक द्विविधा में पड़ा रहा तो स्वार्थपरता निश्चय उसे आ घेरेगी और उसका चरित्र घृणा के योग्य हो जायगा। इसलिये यह बहुत आवश्यक है कि आत्मा जिस बात के करने की प्रवृत्ति दे उसे, बिना अपना स्वार्थ सोचे, झटपट कर डालना चाहिए। ऐसा करते-करते जब धर्म करने की बान पड़ जायगी तब फिर किसी बात का भय न रहेगा। देखो, इस संसार में जितने बड़े-बड़े लोग हो गए हैं, जिन्होंने संसार का उपकार किया है और उसके लिये आदर और सत्कार पाया है, उन सभों ने अपने कर्तव्य को सबसे श्रेष्ठ माना है, क्योंकि जितने कर्म उन्होंने किए उन सभों में अपने कर्तव्य पर ध्यान देकर न्याय का वर्ताव किया। जिन जातियों में यह गुण पाया जाता है वे ही संसार में उन्नति करती

हैं और संसार में उनका नाम आदर के साथ लिया जाता है

एक समय किसी अँगरेजी जहाज में, जब वह बीच समुद्र में था, एक छेद होगया। उस पर बहुतसी स्त्रियाँ और पुरुष थे। उसके बचाने का पूरा पूरा उद्योग किया गया, पर जब कोई उपाय सफल न हुआ तब जितनी स्त्रियाँ उस पर थीं सब नावों पर चढ़ाकर बिदा कर दी गई; और जितने मनुष्य उस पोत पर बच गए थे, उन्होंने उसकी छत पर इकट्ठे होकर ईश्वर को धन्यवाद दिया कि वे अब तक अपना कर्त्तव्य पालन कर सके और स्त्रियों की प्राण-रक्षा में सहायक हो सके। निदान इसी प्रकार ईश्वर की प्रार्थना करते-करते उस पोत में पानी भर आया और वह डूब गया, पर वे लोग अपने स्थान पर ज्यों के त्यों खड़े रहे; उन्होंने अपने प्राण बचाने का कोई उद्योग नहीं किया। इसका कारण यह था कि यदि वे अपने प्राण बचाने का उद्योग करते तो स्त्रियाँ और बच्चे न बच सकते। इसीलिये उस पोत के लोगों ने अपना धर्म यही समझा कि अपने प्राण देकर स्त्रियों और बच्चों के प्राण बचाने चाहिएँ। इसी के विरुद्ध फ्रांस देश के रहनेवालों ने एक डूबते हुए जहाज पर से अपने प्राण तो बचाए, किंतु उस पोत पर जितनी स्त्रियाँ और बच्चे थे उन सभों को उसी पर छोड़ दिया। इस नीच कर्म की सारे संसार में निंदा हुई। इसी प्रकार जो लोग स्वार्थी होकर अपने कर्तव्य पर ध्यान नहीं देते, वे संसार में लज्जित होते हैं और सब लोग उनसे घृणा करते हैं।

कर्तव्य-पालन से और सत्यता से बड़ा घनिष्ठ संबंध है। जो मनुष्य अपना कर्तव्य पालन करता है वह अपने कामों और वचनों

में सत्यता का बर्ताव भी रखता है। वह ठीक समय पर उचित रीति से अच्छे कामों को करता है। सत्यता ही एक ऐसी वस्तु है जिससे इस संसार में मनुष्य अपने कार्यों में सफलता पा सकता है, क्योंकि संसार में कोई काम झूठ बोलने से नहीं चल सकता। यदि किसी के घर सब लोग झूठ बोलने लगें तो उस घर में कोई काम न हो सकेगा और सब लोग बड़ा दुःख भोगेंगे। इसलिये हम लोगों को अपने कार्यों में झूठ का कभी बर्ताव न करना चाहिए। अतएव सत्यता को सबसे ऊँचा स्थान देना उचित है। संसार में जितने पाप हैं झूठ उन सभों से बुरा है। झूठ की उत्पत्ति पाप, कुटिलता और कादरता के कारण होती है। बहुत-से लोग सचाई का इतना थोड़ा ध्यान रखते हैं कि अपने सेवकों को स्वयं झूठ बोलना सिखाते हैं। पर उनको इस बात पर आश्चर्य करना और क्रुद्ध होना न चाहिए जब उनके नौकर भी उनसे अपने लिये झूठ बोलें।

बहुतसे लोग नीति और आवश्यकता के बहाने झूठ की रक्षा करते हैं। वे कहते हैं कि इस समय इस बात को प्रकाशित न करना और दूसरी बात को बनाकर कहना, नीति के अनुसार, समयानुकूल और परम आवश्यक है। फिर बहुत-से लोग किसी बात को सत्य-सत्य कहते हैं, पर उसे इस प्रकार से घुमा-फिराकर कहते हैं कि जिससे सुननेवाला यही समझे कि यह बात सत्य नहीं है, वरन् इसका उलटा सत्य होगा। इस प्रकार से बातों का कहना झूठ बोलने के पाप से किसी प्रकार कम नहीं।

संसार में बहुतसे ऐसे भी नीच और कुत्सित लोग होते हैं जो झूठ बोलने में अपनी चतुराई समझते हैं और सत्य को छिपाकर धोखा देने या झूठ बोलकर अपने को बचा लेने में ही अपना परम गौरव मानते हैं। ऐसे लोग ही समाज को नष्ट करके दुःख और संताप के फैलाने के मुख्य कारण होते हैं। इस प्रकार का झूठ बोलना स्पष्ट न बोलने से अधिक निंदित और कुत्सित कर्म है।

झूठ बोलना और भी कई रूपों में देख पड़ता है। जैसे चुप रहना, किसी बात को बढ़ाकर कहना, किसी बात को छिपाना, भेष बदलना, झूठ-मूठ दूसरों के साथ हाँ-में-हाँ मिलाना, प्रतिज्ञा करके उसे पूरा न करना और सत्य न बोलना इत्यादि। जब कि ऐसा करना धर्म के विरुद्ध है, तब ये सब बातें झूठ बोलने से किसी प्रकार कम नहीं हैं। फिर ऐसे लोग भी होते हैं जो मुँह देखी बातें बनाया करते हैं, परंतु करते वही काम हैं जो उन्हें रुचता है। ऐसे लोग मन में समझते हैं कि कैसा सबको मूर्ख बनाकर हमने अपना काम कर लिया, पर वास्तव में वे अपने को ही मूर्ख बनाते हैं और अंत में उनकी पोल खुल जाने पर समाज में सब लोग घृणा करते और उनसे बात करना अपना अपमान समझते हैं।

कुछ लोग ऐसे भी होते हैं जो अपने मन में किसी गुण के न रहने पर भी गुणवान् बनना चाहते हैं। जैसे यदि कोई पुरुष कविता करना न जानता हो, पर वह अपना ढंग ऐसा बनाए रहे जिससे लोग समझें कि यह कविता करना जानता है, तो यह कविता का आडंबर रखने वाला मनुष्य झूठा है, और फिर यह अपने भेष का निर्वाह पूरी रीति से न कर

सकने पर दुःख सहता है, अंत में भेद खुल जाने पर सब लोगों की आँखों में झूठा और नीचा गिना जाता है। परंतु जो मनुष्य सत्य बोलता है वह आडंबर से दूर भागता है और उसे दिखावा नहीं रुचता। उसे तो इसी में बड़ा संतोष और आनंद होता है कि सत्यता के साथ वह अपना कर्तव्य-पालन कर सकता है।

इसलिये हम सब लोगों का यह परम धर्म है कि सत्य बोलने को सबसे श्रेष्ठ मानें और कभी झूठ न बोलें, चाहे उससे कितनी ही अधिक हानि क्यों न होती हो। सत्य बोलने ही से समाज में हमारा संमान हो सकेगा और हम आनंदपूर्वक अपना समय बिता सकेंगे। क्योंकि सच्चे को सब कोई चाहते और झूठे से सभी घृणा करते हैं। यदि हम सदा सत्य बोलना अपना धर्म मानेंगे तो हमें अपने कर्तव्य के पालन करने में कुछ भी कष्ट न होगा और बिना किसी परिश्रम और कष्ट के हम अपने मन में सदा संतुष्ट और सुखी बने रहेंगे।

---

(१५) रामलीला

आर्य्यवंश के धर्म कर्म और भक्ति-भाव का वह प्रवल प्रवाह, जिसने एक दिन जगत् के बड़े बड़े सन्मार्ग-विरोधी भूधरों का दर्प दलन कर उन्हें रज में परिणत कर दिया था और इस परम पवित्र वंश का वह विश्वव्यापक प्रकाश जिसने एक समय जगत् में अंधकार का नाम तक न छोड़ा था,—अब कहाँ है ? इस गूढ़ एवं मर्मस्पर्शी प्रश्न का यही उत्तर मिलता है कि 'वह सब भगवान् महाकाल के महा पेट में समा गया।' निःसंदेह हम भी उक्त प्रश्न का एक यही उत्तर देते हैं कि 'वह सब भगवान् महाकाल के महा पेट में समा गया।'

जो अपनी व्यापकता के कारण प्रसिद्ध था, अब उस प्रवाह का प्रकाश भारतवर्ष में नहीं है, केवल उसका नाम ही अवशिष्ट रह गया है। कालचक्र के वल, विद्या, तेज, प्रताप आदि सब का चकनाचूर हो जाने पर भी उनका कुछ-कुछ चिह्न वा नाम वना हुआ है, यही डूबते हुए भारतवर्ष का सहारा है और यही अंधे भारत के हाथ की लकड़ी है।

जहाँ महा महा महीधर लुढ़क जाते थे और अगाध अतल-स्पर्शी जल था, वहाँ अब पत्थरों में दवी हुई एक छोटी सी किंतु सुशीतल वारिधारा वह रही है, जिससे भारत के विदग्ध जनों के दग्ध हृदय का यथाकथंचित् संताप दूर हो रहा है। जहाँ के महा प्रकाश से दिग्दिगंत उद्भासित हो रहे थे, वहाँ अब एक अंधकार से घिरा हुआ स्नेह-शून्य प्रदीप टिमटिमा रहा है, जिससे कभी-कभी भूभाग प्रकाशित हो रहा है। पाठक ! जरा

विचारकर देखिए ऐसी अवस्था में कहाँ कब तक शांति और प्रकाश की सामग्री स्थिर रहेगी ? यह किससे छिपा हुआ है कि भारतवर्ष की सुख-शांति और भारतवर्ष का प्रकाश अब केवल 'राम नाम' पर अटक रहा है। 'राम नाम' ही अब केवल हमारे संतप्त हृदय को शांतिप्रद है और 'राम नाम' ही हमारे अंधे घर का दीपक है।

यह सत्य है कि जो प्रवाह यहाँ तक क्षीण हो गया है कि पर्वतों को उथल देने की जगह आप प्रतिदिन पाषाणों से दब रहा है और लोग इस बात को भूलते चले जा रहे हैं कि कभी यहाँ भी एक प्रबल नद प्रवाहित हो रहा था, तो उसकी आशा परित्याग कर देनी चाहिए। जो प्रदीप स्नेह से परिपूर्ण नहीं है तथा जिसकी रक्षा का कोई उपाय नहीं है और प्रतिकूल वायु चल रही है वह कब तक सुरक्षित रहेगा ? (परमात्मा न करे) वायु के एक ही झोंके में उसका निर्वाण हो सकता है।

किंतु हमारा वक्तव्य यह है कि वह प्रवाह भगवती भागीरथी की तरह बढ़ने लगे, तो क्या सामर्थ्य है कि कोई उसे रोक सके ? क्योंकि वह प्रवाह कृत्रिम प्रवाह नहीं है, भगवती वसुंधरा के हृदय का प्रवाह है, जिसे हम स्वाभाविक प्रवाह भी कह सकते हैं।

जिस दीपक को हम निर्वाणप्राय देखते है, निःसंदेह उसकी शोचनीय दशा है और उससे अंधकार-निवृत्ति की आशा करना दुराशामात्र है, परंतु यदि हमारी उसमें ममता हो और वह फिर हमारे स्नेह से भर दिया जाय तो स्मरण रहे कि वह दीप वह प्रदीप है जो पहले समय में हमारे स्नेह, ममता और

भक्तिभाव का प्रदीप था। उसमें ब्रह्मांड को भस्मीभूत कर देने की शक्ति है। वह वही ज्योति है जिसका प्रकाश सूर्य में विद्यमान है एवं जिसका दूसरा नाम अग्निदेव है और उपनिषद् जिसके लिये पुकार रहे हैं—

"तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।"

वह प्रदीप भगवान् रामचंद्र के पवित्र नाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। यद्यपि 'राम नाम' की क्षुद्र प्रदीप के साथ तुलना करना अनुचित है, परंतु यह नाम का दोष नहीं है, हमारे क्षुद्र भाग्य की क्षुद्रता का दोष है कि उनका भक्ति-भाव अब हममें ऐसा ही रह गया है।

कभी हम लोग भी सुख से दिन बिता रहे थे, कभी हम भी भूमंडल पर विद्वान् और वीर शब्द से पुकारे जाते थे, कभी हमारी कीर्ति भी दिग्दिगंत-व्यापिनी थी, कभी हमारे जय-जयकार से भी आकाश गूँजता था और कभी बड़े-बड़े सम्राट् हमारे कृपा-कटाक्ष की भी प्रत्याशा करते थे—इस बात का स्मरण करना भी अब हमारे लिये अशुभचिंतक हो रहा है। पर कोई माने या न माने, यहाँ पर खुले शब्दों में यह कहे बिना हमारी आत्मा नहीं मानती कि अवश्य हम एक दिन इस सुख के अधिकारी थे। हम लोगों में भी एक दिन स्वदेशभक्त उत्पन्न होते थे, हममें सौभ्रात्र और सौहार्द का अभाव न था, गुरु-भक्ति और पितृ-भक्ति हमारा नित्य कर्म था, शिष्ट-पालन और दुष्ट-दमन ही हमारा कर्त्तव्य था। अधिक क्या कहें,— कभी हम भी ऐसे थे कि जगत् का लोभ हमें अपने कर्त्तव्य

से नहीं हटा सकता था। पर अब वह बात नहीं है और न उसमें कोई प्रमाण ही है!

हमारे दूरदर्शी महर्षि भारत के मंद भाग्य को पहले ही अपनी दिव्य दृष्टि से देख चुके थे कि एक दिन ऐसा आवेगा कि न कोई वेद पढ़ेगा न वेदांग, न कोई इतिहास का अनुसंधान करेगा और न कोई पुराण ही सुनेगा! सब अपनी क्षमता को भूल जायँगे। देश आत्मज्ञान-शून्य हो जायगा। इसलिये उन्होंने अपने बुद्धि-कौशल से हमारे जीवन के साथ 'राम नाम' का दृढ़ संबंध किया था। यह उन्हीं महर्षियों की कृपा का फल है कि जो देश अपनी शक्ति को, तेज को, बल को, प्रताप को, बुद्धि को और धर्म को अधिक क्या—जो अपने स्वरूप तक को भूल रहा है, वह इस शोचनीय दशा में भी राम नाम को नहीं भूला है! और जब तक 'राम' स्मरण है, तब तक हम भूलने पर भी कुछ भूले नहीं हैं।

महाराज दशरथ का पुत्रस्नेह, श्री रामचंद्रजी की पितृ-भक्ति, लक्ष्मण और शत्रुघ्न की भ्रातृ-भक्ति, भरतजी का स्वार्थ-त्याग, वशिष्ठ जी का प्रताप, विश्वामित्र का आदर, ऋष्यशृंग का तप, जानकीजी का पातिव्रत, हनुमानजी की सेवा, विभीषण की शरणागति और रघुनाथजी का कठोर कर्त्तव्य किसको स्मरण नहीं है? जो अपने 'रामचंद्र' को जानता है वह अयोध्या, मिथिला को कब भूला हुआ है। वह राक्षसों के अत्याचार, ऋषियों के तपोबल और क्षत्रियों के धनुर्बाण के फल को अच्छी तरह जानता है। उसको जब 'राम नाम' का स्मरण होता है और जब वह 'रामलीला' देखता है तभी यह

ध्यान उसके जी में आता है कि 'रावण आदि की तरह चलना न चाहिए, रामादिक के समान प्रवृत्त होना चाहिए।'

बस इसी शिक्षा को लक्ष्य कर हमारे समाज में 'राम नाम' का आदर बढ़ा। ऐसा पावन और शिक्षाप्रद चरित्र न किसी दूसरे अवतार का और न किसी मनुष्य का ही है! भगवान् रामचंद्र देव को हम मर्त्यलोक का राजा नहीं समझते, अखिल ब्रह्मांड का नायक समझते हैं। यों तो आदरणीय रघुवंश में सभी पुण्यश्लोक महाराज हुए, पर हमारे महाप्रभु 'राम' के समान सर्वत्र रमणशील अन्य कौन हो सकता है? मनुष्य ही कैसा पुरुषोत्तम क्यों न हो वह अंत को मनुष्य है। इसलिये आर्य्यवंश में राम ही का जयजयकार हुआ और है और जब तक एक भी हिंदू पृथ्वीतल पर रहेगा, होता रहेगा। हमारे आलाप में, व्यवहार में, जीवन में, मरण में सर्वत्र 'राम नाम' का संबंध है। इस संबंध को दृढ़ रखने के लिए ही प्रतिवर्ष रामलीला होती है। मान लीजिये कि यह सभ्यताभिमानी नवशिक्षितों के नजदीक खिलवाड़ है, वाहियात और पोपलीला है, पर क्या भावुक जन भी उसे ऐसा ही समझते हैं? कदापि नहीं। भगवान् की भक्ति न सही—जिसके हृदय में कुछ भी जातीय गौरव होगा, कुछ भी स्वदेश की ममता होगी वह क्या इस बात को देखकर प्रफुल्लित न होगा कि पर-पद-दलित आर्य समाज में इस गिरी हुई दशा के दिनों में भी कौशल्या-नंदन आनंदवर्द्धन भगवान रामचंद्रजी का विजयोत्सव मनाया जा रहा है?

आठ सौ वर्ष तक हिंदुओं के सिर पर कृपाण चलती रही

परंतु 'रामचंद्रजी की जय' तब भी न बंद हुई। सुनते हैं कि औरंगजेब ने असहिष्णुता के कारण एक बार कहा था कि 'हिंदुओ! अब तुम्हारे राजा रामचंद्र नहीं हैं, हम हैं। इसलिये रामचंद्र की जय बोलना राज-द्रोह करना है।' औरंगजेब का कहना किसी ने न सुना। उसने राज-भक्त हिंदुओं का रक्तपात किया सही, पर 'रामचंद्र की जय' को न बंद कर सका। कहाँ है वह अभिमानी? लोग अब रामचंद्रजी के विश्व-ब्रह्मांड को देखें और उसकी मृण्मय समाधि (कबर) को देखें और फिर कहें कि राजा कौन है! भला कहाँ राजाधिराज रामचंद्र और कहाँ एक अहंकारी क्षणजन्मा मनुष्य!

एक वे विद्वान् हैं जो राम और रामायण की प्रशंसा करते हैं, रामचरित्र को अनुकरण-योग्य समझते हैं एवं रामचंद्रजी को भक्ति-मुक्तिदाता मान रहे हैं, और एक वे लोग हैं जिनकी युक्तियों का बल केवल एक इसी बात में लग रहा है कि "रामायण में जो चरित्र वर्णित हैं वे सचमुच किसी व्यक्ति के नहीं हैं किंतु केवल किसी घटना और अवस्था-विशेष का रूपक बाँधके लिख दिए गए हैं।" निरंकुशता और धृष्टता आजकल ऐसी बढ़ी है कि निरर्गलता से ऐसी मिथ्या बातों का प्रचार किया जाता है। इस भ्रांत मत का प्रचार करनेवाले वेवर साहब यदि यहाँ होते तो हम उन्हें दिखाते कि जिसका वे अपनी विषदग्धा लेखनी से जर्मनी में वध कर रहे हैं, वह भारतवर्ष में व्यापक और अमर हो रहा है।

—माधवप्रसाद मिश्र

(१६) तीर्थ-यात्रा

बहुत दिनों से दर्शनोत्कंठा थी। उसे देखने को, न जाने कब से, मन उड़ रहा था। यह नहीं, कि कभी उसे देखा न हो। देखा था; कई बार देखा था, और जी-भर देखा था। चरण-स्पर्श भी एक बार किया था। मध्यमा वाणी द्वारा एकाध बार स्तोत्र-पाठ भी हो चुका था। पर, यह सब अन्यत्र, उसके तीर्थोपम स्थान पर नहीं। सुन रक्खा था कि वह वर्ष उसका 'अज्ञात-वास' का वर्ष है। औरों की दृष्टि में ऐसा ही होगा, पर हमारी नज़र में तो वह वर्ष 'सुज्ञात-वास' का संवत्सर था। हृदय-पटल पर तो उसका चित्र मुद्दत से खिंचा था, पर प्रत्यक्ष प्रमाण माननेवाली आँखों को प्रतीति कहाँ? हृदय और आँखों में समझौता न हो सका। बरसाती नदी की तरह उनकी तृष्णा प्रति क्षण बढ़ने लगी।

भक्ति से अधीर हो एक दिन वहाँ पहुँच ही तो गया। गरमी के दिन थे। सूर्य भगवान् क्षितिज-रेखा को रक्तानुरंजित करने में व्यग्र थे। वृक्षों की छाया, सज्जनों की मैत्री के समान, पल-पल पर बढ़ती ही जाती थी, सांध्य-गगन की ललित लालिमा कवि-कल्पना को प्रगाढ़ालिंगन दे रही थी। गो-धूलि से सुनील आकाश पांडुवर्ण हो गया था।

निदाघ-ताप अब बहुत कम था। अस्तु; उस स्थान की क्षेत्र-सीमा पर मैं पहुँचा। जिस पवित्र नदी के तट पर उस नर-श्रेष्ठ का आश्रम अवस्थित है उसमें, वृषादित्य की प्रचंडता के कारण, जल की एक क्षीण रेखा दूसरे पार दिखाई देती

थी। दूर तक बालू ही बालू नज़र आ रही थी। वृक्ष झुलस-से गए थे। सूखी पत्तियाँ झड़-झड़कर जहाँ-तहाँ बिछ गई थीं। कपास के पेड़ बड़े सुहावने जान पड़ते थे। बीच में एक खपरैल-भवन था और उसके आस-पास कई छोटी-छोटी कुटियाँ। सादे रहन-सहन के कुछ परिश्रमी व्यक्ति और क्रीड़ा-निरत बालक बालिकाओं को उस स्वतंत्रता-सदन के आँगन में देखकर मैं पुलकित और प्रफुल्लित हो गया। आश्रम में बड़ी स्वच्छता और पवित्रता थी। उस तीर्थ-भूमि पर पैर रखते ही एक प्रकार की दिव्य शांति का अनुभव होने लगा।

दर्शन मिला। वह जगद्वंद्य महापुरुष एक कुशासन पर आसीन था। आस-पास कुछ साधक बैठे थे। उस समय वह सदाशय अपने संमुख प्रतिष्ठित देवता की अर्चा में निरत था। पूजा समाप्त होने को थी। उसके आराध्य देव का नाम 'सुदर्शन' है। मैंने उस स्थित-प्रज्ञ महात्मा को साष्टांग प्रणाम किया, और थोड़ा-सा मानसिक स्तवन भी। मानसिक इसलिये, कि मुख से कुछ भी बड़बड़ाने में संकोच और भय लगता था। वह मेरी ओर मुस्कराया। कुशल-क्षेम पूछा, और कुछ स्नेहोद्गार भी प्रकट किए। मेरे संकीर्ण हृदय में आनंदाब्धि लहराने लगा। मन-ही-मन बोला, बड़ा भाग्यवान् हूँ, इस सौभाग्य पर क्यों न अभिमान करूँ?

हाँ, मानसिक स्तवन का भाव, जहाँ तक स्मरण है, कुछ-कुछ ऐसा था—

"नरश्रेष्ठ! तू वह आदर्श उपस्थित करने को धरातल पर अवतीर्ण हुआ है, जिसे हृदयस्थ कर आज नहीं तो कल अवश्य

ही त्रिताप-संतप्त जन-समाज विश्व-वीणा के स्वर में सजीव सुख-शांति का राग अलापने में समर्थ होगा।"

"सत्यनिष्ठ! तेरा जन्म और मरण दोनों ही सत्य-साधना के अर्थ हैं। सत्य को तू साकारता प्रदान कर चुका है। तेरा और सत्य का सौहार्द देखकर कौन कृतकृत्य न होगा? धन्य तेरा सत्याग्रह! धन्य तेरी सत्य-निष्ठा!"

"तपोधन! तेरी तपस्या उनके निमित्त है, जो तिरस्कृत, पतित और पद-दलित हैं; जो निर्धन, निराश्रय और निर्बल हैं; जो दीन, हीन और पराधीन हैं। तू बोता है, वे काटते हैं!"

"शक्तिशालिन्! तूने आज जगद्व्यापी हिंसा की भी हिंसा कर डालने का संकल्प किया है। तभी तो तूने अपने अप्रमेय पराक्रम से बड़े-बड़े बलवानों को भी थर्रा दिया है। तेरी प्रदत्त शक्ति का परिणाम निस्संदेह 'जीवनोत्सर्ग' है; और जीवनोत्सर्ग ही तो मुक्ति का जनक है।"

"धर्ममूर्त्ते! तुझे किस धर्म का प्रतिनिधि कहें? तेरी आत्मा में राम की मर्यादा, कृष्ण की कर्मण्यता, बुद्ध की अहिंसा, शंकर की धीमता, चैतन्य की भावना, ईसा की दीन-बंधुता और मुहम्मद की कट्टरता आदि अनेक धर्म-धारणाएँ विद्यमान हैं! तू सत्य के माध्यम द्वारा इन सभी धर्मों में समन्वय स्थापित कर रहा है। धन्य तेरा सत्प्रयास!"

"भागवत-भूषण! कौन कहता है कि तू कोरा राजनीतिक पथ-प्रदर्शक है। तू तो एक शुद्ध भागवत है। तेरी प्रेमानन्यता में गोपिकाओं की, कीर्तन में गौरांगदेव की, और भक्ति-विह्वलता में मीराँ की प्रतिमूर्त्ति सामने आ खड़ी होती है। भक्ति

की मूर्च्छित लता को आज तू अपने आँसुओं से सींच-सींचकर अनुप्राणित कर रहा है।"

"महात्मन्! वास्तव में इस युग का तू एक ईश्वरीय रहस्य है। तुझे नमस्कार है! शत-सहस्रशः नमस्कार है!"

उस पुण्यश्लोक की मुट्ठी-भर हड्डियों के दर्शन-लाभ से निश्चय ही मेरी मृतप्राय आत्मा में एक नवीन और पवित्र जीवन का संचार हुआ। तीर्थ-यात्रा सफल हुई। उस महानुभाव की अनिर्वचनीय अवस्था देखकर मुख से हठात् यह भगवदुक्ति निकल पड़ी—

'एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ! नैनां प्राप्य विमुह्यति।'

—वियोगी हरि

(१७) ताज

मनुष्य को स्वयं पर गर्व है। वह स्वयं को जगदीश्वर की अत्युत्तम तथा सर्वश्रेष्ठ कृति समझता है। वह अपने व्यक्तित्व को चिरस्थायी बनाया चाहता है। मनुष्य-जाति का इतिहास क्या है? उसके सारे प्रयत्नों का केवल एक ही उद्देश्य है। चिरकाल से मनुष्य यही प्रयत्न कर रहा है कि किसी प्रकार वह उस अप्राप्य अमृत को प्राप्त करे, जिसे पीकर वह अमर हो जाय; किंतु अभी तक उस अमृत का पता नहीं लगा। यही कारण है कि जब मनुष्य को प्रतिदिन निकटतम आती हुई रहस्यपूर्ण मृत्यु की याद आ जाती है, तब उसका हृदय तड़पने लगता है। भविष्य में आनेवाले अंत के तथा उसके अनंतर अपने व्यक्तित्व के ही नहीं सर्वस्व के विनष्ट होने के विचार-मात्र से ही मनुष्य का सारा शरीर सिहर उठता है। मनुष्य चाहता है कि किसी प्रकार वह इस अप्रिय सत्य को भूल जाय और उसे ही भुलाने के लिए, अपनी स्मृति से, अपने मस्तिष्क से उसे निकाल बाहर करने ही के लिए, कई बार मनुष्य सुख-सागर में मग्न होने की चेष्टा करता है। कई व्यक्तियों का हृदय तो इस विचार-मात्र से ही विकल हो उठता है कि समय के उस भयानक प्रवाह में वे स्वयं ही नहीं, किंतु उनकी समग्र वस्तुएँ, स्मृतियाँ, स्मृति-चिह्न आदि सब कुछ बह जायँगे; इस संसार में तब उनके सासारिक-जीवन का चिह्न-मात्र भी न रहेगा और उनको याद करनेवाला भी कोई न मिलेगा। ऐसे मनुष्य इस भौतिक संसार में अपनी स्मृतियाँ—अमिट-स्मृतियाँ—छोड़ जाने को विकल हो उठते हैं। वे जानते हैं कि उनका अंत

अवश्यंभावी है, किंतु सोचते हैं कि संभव है उनकी स्मृतियाँ संसार में रह जायँ। पिरेमिड, स्फिंक, बड़े-बड़े मकबरे, कीर्तिस्तंभ, कीलियाँ, विजयद्वार, विजय-तोरण आदि कृतियाँ मनुष्य की इसी इच्छा के फल हैं। एक तरह से देखा जाय तो इतिहास भी, अपनी स्मृति को चिरस्थायी बनाने की मानवीय इच्छा का एक प्रयत्न है। यों अपनी स्मृति को चिरस्थायी बनाने के लिए मनुष्य ने भिन्न-भिन्न प्रयत्न किए, किसी ने एक मार्ग का अवलंबन किया, किसी ने दूसरे का। कई एक विफल हुए, अनेकों के ऐसे प्रयत्नों का आज मानव-समाज की स्मृति पर चिह्न तक विद्यमान नहीं है। बहुतों के ऐसे प्रयत्नों के खँडहर आज भी सारे संसार में यत्र-तत्र दिखाई देते हैं। वे आज भी मूक-भाव से मनुष्य की इस इच्छा को देखकर हँसते हैं तथा रोते हैं। मनुष्य की विफलता पर तथा अपनी दुर्दशा पर वे आँसू गिराते हैं। परंतु यह देखकर कि अभी तक मनुष्य अपनी विफलता को नहीं जान पाया, अभी तक उसकी वही इच्छा, उसकी वही आशा उसका पीछा नहीं छोड़ती है, मनुष्य अभी तक उन्हीं के चंगुल में फँसा हुआ है, वे मूक-भाव से मनुष्य की इस अद्भुत मृग-तृष्णा पर विक्षिप्त कर देनेवाला अट्टहास करते हैं।

परंतु मनुष्य का मस्तिष्क विधाता की एक अद्वितीय कृति है। यद्यपि समय के सामने किसी की नहीं चलती, तथापि कई एक मस्तिष्कों ने ऐसी खूबी से काम किया है, उन्होंने ऐसी चालें चली हैं कि वे समय के उस प्रलयकारी भीषण प्रवाह को रोकने में समर्थ हुए हैं। उन्होंने समय को अनुपम सौंदर्य के अदृश्य पाश में बाँध डाला, उसे अपनी

कृतियों की अनोखी छटा दिखाकर लुभाया है; यों उसे भुलावा देकर कई बार मनुष्य अपनी स्मृति को ही नहीं, किंतु अपने भावों के स्मारकों को भी चिरस्थायी बना सका है। ताजमहल भी मानव मस्तिष्क की ऐसी ही अद्वितीय सफलता का एक अद्भुत उदाहरण है।

× × × ×

वह अंधकारमयी रात्रि थी। सारे विश्व पर घोर अंधकार छाया हुआ था, तो भी जग सोया न था। संसार का ताज, भारतीय साम्राज्य का वह सितारा, भारतसम्राट् के हृदय-कुमुद का वह चाँद आज सर्वदा के लिए नष्ट होने को था। शिशु को जन्म देने में माता की जान पर आ बनी थी। अंतिम घड़ियाँ थीं। उन सुखमय दिनों का, प्रेम तथा सुख से पूर्ण छलकते हुए उस काल का, अब अंत होने वाला था। संसार कितना अचिर-स्थायी है!

वह टिमटिमाता हुआ दीपक, भारत-सम्राट् के स्नेह का वह जलता हुआ चिराग, बुझ रहा था। अब भी स्नेह बहुत था, किंतु अकाल-काल का झोंका आया। वह झिलमिलाती हुई लौ उसे सहन नहीं कर सकी। धीरे-धीरे प्रकाश कम हो रहा था; दुर्दिन की काली घटाएँ उस अंधेरी रात्रि के अंधकार को अधिक कालिमामय बना रही थीं; आशा-प्रकाश की अंतिम ज्योति-रेखाएँ निराशा के उस अंधकार में विलीन हो रही थीं। और तब......सब अँधेरा ही अँधेरा था।

इस सांसारिक यात्रा की अपनी सहचरी प्राण-प्रिया से अंतिम भेंट करने शाहजहाँ आया। जीवन-दीपक बुझ रहा

था, फिर भी अपने प्रेमी को, अपने जीवन-सर्वस्व को देखकर पुनः एक बार लौ बढ़ी; बुझने से पहले की ज्योति हुई, मुमताज़ के नेत्र खुले। अंतिम मिलाप था। उन अंतिम घड़ियों में, उन आँखों द्वारा क्या-क्या मौनालाप हुआ होगा, उन दोनों प्रेमियों के हृदयों में कितनी उथल-पुथल मची होगी, उसका कौन वर्णन कर सकता है ? प्रेमाग्नि से धधकते हुए उन हृदयों की बातें लेखक की यह कठोर लेखनी काली स्याही से पुते हुए मुँह से नहीं लिख सकती।

अंतिम क्षण थे, सर्वदा के लिए वियोग हो रहा था, देखती आँखों शाहजहाँ का सर्वस्व लुट रहा था और वह भारत-सम्राट् हताश हाथ पर हाथ धरे बैठा किस्मत को रो रहा था। सिंहासनारूढ़ हुए कोई तीन वर्ष भी नहीं बीते थे कि उसकी प्रियतमा इस लोक से विदा होने की तैयारी कर रही थी। शाहजहाँ की समस्त आशाओं पर, उसकी सारी उमंगों पर, पाला पड़ रहा था। क्या-क्या आशाएँ थीं, क्या-क्या अरमान थे ? जब समय आया, उनके पूर्ण होने की आशा थी, तभी एकाएक शाहजहाँ को उसकी जीवन-संगिनी ने छोड़ दिया। ज्योंही सुख-मदिरा का प्याला ओठों को लगाया कि वह प्याला गिर पड़ा, चूर-चूर हो गया और वह सुख-मदिरा मिट्टी में मिल गई, पृथ्वीतल में समा गई, सर्वदा के लिए अदृष्ट हो गई।

हाय ! अंत हो गया, सर्वस्व लुट गया। परम प्रेमी, जीवन का एक-मात्र साथी सर्वदा के लिए छोड़ कर चल बसा। भारत-सम्राट् शाहजहाँ की प्रेयसी, सम्राज्ञी मुमताजमहल सदा

के लिए इस लोक से विदा हो गई। शाहजहाँ भारत का सम्राट् था, जहाँ का शाह था, परंतु वह भी अपनी प्रेयसी को जाने से नहीं रोक सका। दार्शनिक कहते हैं, जीवन एक बुदबुदा है, भ्रमण करती हुई आत्मा के ठहरने की एक धर्मशाला-मात्र है। वे यह भी कहते हैं कि इस जीवन का संग तथा वियोग क्या है, एक प्रवाह में साथ बहते हुए लकड़ी के टुकड़ों के साथ तथा विलग होने के समान है। परंतु क्या ये विचार एक संतप्त-हृदय को शांत कर सकते हैं? क्या ये भावनाएँ चिरकाल की विरहाग्नि में जलते हुए हृदय को सांत्वना प्रदान कर सकती हैं? सांसारिक जीवन की व्यथाओं से दूर बैठा हुआ सांसारिक जीवन-संग्राम का एक तटस्थ दर्शक भले ही कुछ भी कहे, किंतु जीवन के इस भीषण संग्राम में युद्ध करते हुए, सांसारिक घटनाओं के कठोर थपेड़े खाते हुए, हृदयों की क्या दशा होती है, वह एक भुक्तभोगी ही कह सकता है।

× × × ×

वह चली गई, सर्वदा के लिए चली गई। अपने रोते हुए प्रेमी को, अपने जीवन-सर्वस्व को, अपने बिलखते हुए प्यारे बच्चों को तथा समग्र दुखी संसार को छोड़कर, उस अँधियारी रात में न जाने वह कहाँ चली गई? चिरकाल का वियोग था। शाहजहाँ की आँख से एक आँसू ढलका, उस संतप्त हृदय से एक आह निकली।

वह सुंदर शरीर पृथ्वी की भेंट हो गया; अगर कुछ शेष रहा तो उसकी वह सुखप्रद स्मृति तथा उस स्मृति पर, उसके

उस चिर-वियोग पर, आहें तथा आँसू। संसार लुट गया और उसे पता भी न लगा। संसार की वह सुंदर मूर्ति, मृत्यु के अदृश्य क्रूर हाथों चूर्ण हो गई। और उस मूर्ति के वे भग्नावशेष! जगन्माता पृथ्वी ने उन्हें अपने अंचल में समेट लिया।

शाहजहाँ के वे आँसू तथा वे आहें विफल न हुईं। उन तप्त आँखों तथा उस धधकते हुए हृदय से निकलकर वे इस वाह्य जगत् में आए थे। वे भी समय के साथ सर्द होने लगे। समय के ठंढे झोंकों के थपेड़े खाकर उन्होंने एक ऐसा सुंदर स्वरूप धारण किया कि आज भी न जाने कितने आँसू ढलक पड़ते हैं और न जाने कितने हृदयों में हलचल मच जाती है। अपनी प्रेयसी के वियोग पर बहाये गये शाहजहाँ के वे आँसू चिरस्थायी हो गये।

सब कुछ समाप्त हो गया था। किंतु अब भी कुछ आशा शेष रही थी। शाहजहाँ का सर्वस्व लुट गया था, तो भी उस स्तब्ध रात्रि में अपनी मृत्यून्मुख प्रियतमा के प्रति उस अंतिम भेंट के समय किये गये अपने प्रण को वह नहीं भूला था। उसने सोचा कि अपनी प्रेयसी की यादगार में, भारत के ही नहीं, संसार के उस चाँद की उन शुष्क हड्डियों पर एक ऐसी कब्र बनावे कि वह संसार के मकबरों का ताज हो। शाहजहाँ को सूझी कि अपनी प्रेयसी की स्मृति को तथा उसके प्रति अपने अगाध शुद्ध प्रेम को स्वच्छ, श्वेत स्फटिक के सुचारु स्वरूप में व्यक्त करे।

धीरे-धीरे भारत की उस पवित्र महानदी यमुना के तट पर एक मकबरा बनने लगा। पहले लाल पत्थर का एक

चबूतरा बनाया गया; उस पर सफेद संगमरमर का ऊँचा चबूतरा निर्माण किया गया, जिसके चारों कोनों पर चार मीनार बनाए गए जो बेतार के तार से, चारों दिशाओं में उस सम्राज्ञी की मृत्यु का समाचार सुना रहे हैं तथा उसका यशोगान करते हैं। मध्य में शनैः-शनैः मकबरा उठा। यह मकबरा भी उस श्वेत वर्णवाली सम्राज्ञी के समान श्वेत तथा उसी के समान सौंदर्य में अनुपम तथा अद्वितीय था। अंत में उस मकबरे को एक अतीव सुंदर किंतु महान् गुंबज का ताज पहनाया गया।

पाठको! उस सुंदर मकबरे का वर्णन पार्थिव जिह्वा नहीं कर सकती, फिर बेचारी जड़ लेखनी का क्या कहना? अनेक ब्दियाँ बीत गईं। भारत में अनेकानेक साम्राज्यों का उत्थान और पतन हुआ। भारत की वह सुंदर कला तथा महान् समाधि के निर्माणकर्त्ता भी समय के इस अनंत गर्भ में न जाने कहाँ विलीन हो गये; परंतु आज भी वह मकबरा खड़ा हुआ, अपने सौंदर्य से संसार को लुभा रहा है। वह शाहजहाँ की उस महान् साधना का, अपनी प्रेमिका के प्रति अनन्य तथा अगाध प्रेम का, फल है। वह कितना सुंदर है? आँखें ही देख सकती हैं, हृदय ही उसकी सुंदरता का अनुभव कर सकता है। संसार उसकी सुंदरता को देखकर स्तब्ध है। शाहजहाँ ने अपनी मृत-प्रियतमा की समाधि पर अपने प्रेम की अंजलि अर्पण की तथा भारत ने अपने महान् शिल्पकारों और चतुर कारीगरों के हाथों शुद्ध प्रेम की इस अनुपम और अद्वितीय समाधि को निर्माण करवाकर पवित्र

प्रेम की वेदी पर जो अपूर्व श्रद्धांजलि अर्पित की, उसका सानी इस भूतल पर खोजे नहीं मिलता।

× × × ×

बरसों के परिश्रम के बाद अंत में मुमताज का वह मकबरा पूर्ण हुआ। शाहजहाँ की वर्षों की साध पूरी हुई। एक महान् यज्ञ की पूर्णाहुति हुई। जब इस मकबरे के पूर्ण होने पर शाहजहाँ पूरे समारोह के साथ उसे देखने गया होगा, आगरे के लिये वह दिन कितना गौरव-पूर्ण हुआ होगा! इतिहासकारों ने उस दिन का—भारत की ही नहीं, संसार की शिल्पकला के इतिहास के उस महान् दिवस का—वर्णन कहीं नहीं किया है। कितने सहस्र नर-नारी आबाल-वृद्ध उस दिन उस अपूर्व मकबरे के—संसार की उस महान् कृति के—दर्शनार्थ एकत्र हुए होंगे? उस दिन मकबरे को देखकर भिन्न-भिन्न दर्शकों के हृदयों में कितने विभिन्न भाव उत्पन्न हुए होंगे? किसी को इस महान् कृति की पूर्ति पर हर्ष हुआ होगा, किसी ने यह देखकर गौरव का अनुभव किया होगा कि उनके देश में एक ऐसी वस्तु का निर्माण हुआ है, जिसकी तुलना करने के लिये संसार में कदाचित् ही दूसरी कोई वस्तु मिले; कई एक उस मकबरे की छबि को देखकर मुग्ध हो गये होंगे; न जाने कितने चित्रकार उस सुंदर कृति को अंकित करने के लिये ही दौड़ पड़े होंगे, न जाने कितने कवियों के मस्तिष्कों में क्या-क्या अनोखी सूझें पैदा हुई होंगी।

परंतु सब दर्शकों में से एक दर्शक ऐसा भी था, जिसके हृदय में भिन्न-भिन्न विपरीत भावों का घोर युद्ध हुआ था।

दो आँखें ऐसी भी थीं, जो वाह्य सुंदरता को चीरती हुई, एक-टक उस कब्र पर ठहरती थीं। वह दर्शक था शाहजहाँ, वे आँखें थीं शाहजहाँ की आँखें। जिस समय शाहजहाँ ने ताज के उस अद्वितीय दरवाजे पर खड़े होकर उस समाधि को देखा होगा, उस समय उसके हृदय की क्या दशा हुई होगी, सो वर्णन करना अतीव कठिन है। उसके हृदय में शांति हुई होगी, कि वह अपनी प्रियतमा के प्रति किये गये अपने प्रण को पूर्ण कर सका! उसको गौरव का भी अनुभव हो रहा होगा कि उसकी प्रियतमा की कब्र—अपनी उस जीवन-संगिनी की यादगार—ऐसी बनी कि उसका सानी शायद ही मिले। किंतु उस जीवित मुमताज के स्थान पर, अपनी जीवन-संगिनी की शुष्क हड्डियों पर यह कब्र—वह कब्र कैसी ही सुंदर क्यों न हो—पाकर शाहजहाँ के हृदय में जलती हुई चिरवियोग की [illegible] क्या शांत हो गई होगी? क्या श्वेत सर्द पत्थर का वह सुंदर मकबरा मुमताज की मृत्यु के कारण हुई कमी को पूर्ण कर सकता था? मकबरे को देखकर शाहजहाँ की आँखों के संमुख उसका सारा जीवन, जब मुमताज के साथ वह सुखपूर्वक रहता था, सिनेमा की फिल्म के समान दिखाई दिया होगा। प्रियतमा मुमताज की स्मृति पर पुनः आँसू ढलके होंगे, पुनः सुप्त-स्मृतियाँ जग उठी होंगी और पुनः चोट खाये हुए उस हृदय के वे पुराने घाव हरे हो गये होंगे।

पाठको! जब आज भी कई एक दर्शक उस पवित्र समाधि को देखकर दो आँसू बहाये बिना नहीं रह सकते, तब आप ही स्वयं विचार कर सकते हैं कि शाहजहाँ की क्या दशा हुई होगी? अपने जीवन में बहुत कुछ सुख प्राप्त हो चुका था, और

रहे-सहे सुख की प्राप्ति होने को थी, उस सुख-पूर्ण जीवन का मध्याह्न होनेवाला ही था कि उस जीवन-सूर्य को ग्रहण लग गया और ऐसा लगा कि वह जीवन-सूर्य अस्त होने तक ग्रसित ही रहा। ताजमहल उस ग्रसित सूर्य से निकली हुई अद्भुत सुंदरतापूर्ण तेजोमयी लपटों का एक घनीभूत सुंदर पुंज है, उस ग्रसित सूर्य की एक अनोखी स्मृति है।

× × × ×

शताब्दियाँ बीत गईं। शाहजहाँ कई बार उस ताजमहल को देखकर रोया होगा। मरते समय भी वह उस सुंदर सुंमन बुर्ज में शय्या पर पड़ा ताजमहल को देख रहा था। और आज भी न जाने कितने मनुष्य उस अद्वितीय समाधि के उद्यान में बैठे घंटों उसे निहारा करते हैं। न जाने कितने उस उद्यान में बैठे प्रेम-पूर्ण जीवन के नष्ट होने की उस स्मृति पर, अचिरस्थायी मानव जीवन की उस करुण कथा पर, रोते हैं। न जाने कितने यात्री दूर-दूर देशों से बड़े-बड़े भयंकर समुद्र पारकर उस समाधि को देखने के लिए खिंचे चले आते हैं। वे कितनी उमंगों से आते हैं, और उसासे भरते हुए ही चले जाते हैं। कितने हर्ष से आते हैं, किंतु दो आँसू बहाकर ही जाते हैं। प्रकृति भी प्रतिवर्ष चार मास तक इस अद्वितीय प्रेम के भंग होने की करुण-स्मृति पर रोती है।

मनुष्य-जीवन की—मनुष्य के उस दुःखपूर्ण जीवन की—जहाँ मनुष्य की कई वासनाएँ अतृप्त रह जाती हैं, जहाँ मनुष्य के प्रेम-बंधन बँधने भी नहीं पाते कि काल के कराल हाथों पड़कर टूट जाते हैं—मनुष्य के उस करुण जीवन की स्मृति—

उसकी अतृप्त वासनाओं तथा खिलते हुए प्रेम-पुष्प की वह समाधि—आज भी यमुना के तीर पर खड़ी है। शाहजहाँ का वह साम्राज्य, उस का वह तख्त ताऊस, उसका वह महान् घराना, शाही जमाने का वह गौरव, आज सब कुछ विलीन हो गया—समय के कठोर झोंकों में पड़कर वे सब आज नष्ट हो गये। ताजमहल का वह वैभव, उसमें जड़े हुए वे रत्न भी न जाने कहाँ चले गये, किंतु आज भी ताजमहल अपनी सुंदरता से समय को लुभाकर उसे भुलावा दे रहा है और यों मानव-जीवन की उस करुण-कथा को चिरस्थायी बनाये हुए है। वैभव-विहीन ताज का यह विधुर स्वरूप उसे अधिक सोहता है।

आज भी उन सफेद पत्थरों से आवाज़ आती है—"मैं भूला नहीं हूँ।" आज भी उन पत्थरों में न जाने किस मार्ग से होती हुई पानी की एक बूँद प्रति वर्ष उस सम्राज्ञी की कब्र पर टपक पड़ती है; वे कठोर पत्थर भी प्रतिवर्ष उस सुंदर सम्राज्ञी की मृत्यु को यादकर, मनुष्य की उस करुण-कथा को देख, पिघल जाते हैं और उन पत्थरों में से एक आँसू ढलक पड़ता है। आज भी यमुना नदी की धारा समाधि को चूमती हुई उस भग्न मानव-जीवन की करुण-कथा अपने प्रेमी सागर को सुनाने के लिए दौड़ पड़ती है। आज भी उस भग्न-हृदय की कथा याद-कर कभी-कभी यमुना का हृदय-प्रदेश उमड़ पड़ता है और उसके हृदय में भी आँसुओं की बाढ़ आ जाती है।

उन श्वेत पत्थरों से आवाज़ आती है—"आज भी मुझे उसकी स्मृति है।" आज भी उस खिलते हुए प्रेम-पुष्प का सौरभ—उस प्रेम-पुष्प का, जो अकाल में ही डंठल से टूट

पड़ा—उन पत्थरों में रम रहा है। वह टूटा हुआ पुष्प सूख गया, परंतु उस सुंदर पुष्प की आत्मा विलीन हो गई, अनंत में अंतर्हित हो गई। अपने अनंत के पथ पर अग्रसर होती हुई वह आत्मा उस स्खलित पुष्प को छोड़कर चली गई; केवल पत्थर की उस सुंदर किंतु त्यक्त समाधि में उसकी स्मृति विद्यमान है। यों शाहजहाँ ने उस निराकार मृत्यु को अक्षय सौंदर्यपूर्ण स्वरूप प्रदान किया। मनुष्य के अचिरस्थायी प्रेम को, प्रेमाग्नि की उस धधकती हुई अग्नि को चिरस्थायी बनाया।

—रघुवीरसिंह

(१८) कवित्व

(१)

कवित्व संसार में बड़ा ही सुंदर है। स्वर्ग की अप्सराएँ, नंदन-वन के पारिजात, पूर्णिमा का चंद्र सुंदर कहे जाते हैं; किंतु कवित्व के सामने इन सब की सुंदरता अकिंचित्कर है। वसंत ऋतु की मलयानिल, प्रातःकाल का दिग्-मंडल संध्या का अरुणित आकाश भी सुंदर कहे जाते हैं; किंतु क्या वे कवित्व की सुंदरता की समता कर सकते हैं?

कवित्व को सुंदर कहना कवित्व का अनादर करना है! कवित्व ही समस्त सुंदर वस्तुओं का मूल है। कवित्व ने ही सुंदर को सुंदरता दी है। सौंदर्य-संसार में कवित्व ही सबसे ऊँचा है। संसार-भर में कवित्व ही का राज्य है। अच्छे को बुरा करना, बुरे को अधिक बुरा करना; अथवा अधिक बुरे को अधिक अच्छा करना—घुमा-फिराकर, उलट-पुलटकर, बुरे को बुरा और भले को भला कहना एकमात्र कवित्व का ही काम है। भगवान् ने उसे सब कुछ करने की शक्ति दी है।

कवित्व अंधकार में दीपक है; कवित्व दरिद्र का धन है; कवित्व भूख में अन्न और प्यास में शीतल जल है। कहाँ तक कहें, वह दुःख में धैर्य्य और विरह में मिलन है। आज उसी कवित्व की कथा मैं लिखने बैठा हूँ; इसी से मन अलौकिक आनंद में है।

कवित्व की दया और उसकी प्रीति से सामान्य मनुष्य भी अमर हो जाता है, इसी से कवित्व की उपासना करने और उसे श्रेष्ठता देने को, कौन न उद्यत होगा?

(२)

कवित्व इतना अच्छा मनुष्य है; किंतु उसका जीवन-चरित नहीं है। जीवन-चरित लिखने की कोई सामग्री भी नहीं है। दर्शन तथा विज्ञान, कवित्व को 'मनुष्य' कहने में हिचकते हैं। हिचकने दो; किंतु मैं तो उसको एक असाधारण मनुष्य, एक महापुरुष, एक आदर्श पुरुष समझता हूँ। पाठक! मैं जो कुछ समझता हूँ, ठीक उसी प्रकार, आपको परिचय भी दूँगा। बड़ी कठिनाई से आज मैं कवित्व की थोड़ीसी जीवनी लिखने बैठा हूँ। बहुत कुछ खोज-खाज करने पर भी मैं अब तक इसका जन्म-समय निश्चित नहीं कर सका। बहुत पहले अथवा यों कहिए कि लाखों वर्ष पहले, उसका जन्म हुआ है, इसमें संदेह नहीं।

कवित्व की जन्म-भूमि कहाँ है? मृत्युलोक अथवा देव-लोक, सो कुछ ठीक नहीं। ठीक है केवल यह कि कवित्व एक बड़ा प्रभावशाली, सर्व-जन-प्रिय चक्रवर्ती राजा है। बचपन में उसे शत्रुओं के हाथ से बड़े-बड़े दुःख झेलने पड़े हैं। अनेक बार उसका जीवन संकट में पड़ा है। भाषा का अभाव ही उसका प्रधान शत्रु है। आधुनिक पंडितों ने अनुसंधान से यही निश्चय किया है कि कवित्व उस समय निःसहाय था। शत्रु का दमन करने में वह उस समय सफलीभूत नहीं हुआ। उस समय कौन जानता था कि एक समय यही कवित्व दिग्विजयी सम्राट् हो जायगा। कौन जानता था कि अभागे जगत् का यही कवित्व जीवन-सर्वस्व होगा। यही कवित्व, आगे संसार में श्रेष्ठासन पर बैठ, देवों तथा मानवों के हृदय का

पूजोपहार ग्रहण करेगा; यह बात तब किसी के स्वप्न में भी न आई थी।

निःसहाय होने पर भी कवित्व ने बड़ी वीरता दिखलाई। अपने प्रभाव से उसने प्रबल शत्रुओं के हाथ से अपने को भली भाँति बचा लिया; क्योंकि कुछ दिन पीछे एक परम रूपवती सुंदरी ने उत्पन्न होकर कवित्व के प्रबल शत्रु को एक बार ही विध्वंस कर दिया। उस स्त्री का नाम 'भाषा' है।

वीरवर कवित्व, यह हाल पाकर, शत्रु-संहारिणी वीरांगना भाषा से विवाह करने के लिये बहुत ही उत्सुक हुआ। भाषा भी कवित्व के सब गुण सुनकर उसके गले में वर-माला डाल देने को व्यग्र थी। किंतु विधाता का लेख अखंडनीय है। लाख चेष्टा करने पर भी जिस दिन जो होनेवाला है वह उसी दिन होता है। कोई बाधा नहीं, किसी को कुछ आपत्ति भी नहीं, तब भी कितने ही वर्ष बीत गए, किंतु कवित्व और भाषा की आशा पूरी नहीं हुई। भाषा और कवित्व का पाणिग्रहण न हुआ। वीरवर कवित्व ने और भी कड़ी प्रतिज्ञा की कि यदि मैं भाषा को न पाऊँ तो अब इस जीवन को रखूँगा ही नहीं।

विरह बड़ा भयानक रोग है। जिस वीर ने अकेले प्रबल शत्रुओं के संग युद्ध करके जय प्राप्त की, वह भी इसे न जीत सका। यह रोग लगे पीछे बिना सच्ची औषधि के कभी नहीं जाता। कवित्व का वह शत्रु नहीं है, किंतु तिस पर भी, वह उसे नहीं छोड़ सका। कवित्व लताओं में शयन करके भी अपने मन को शांति नहीं दे सका। उसके आत्मीय जन उसकी यह अवस्था देख चिंता करने लगे—हाय! जान पड़ता है, अब

कवित्व बचेगा नहीं। भगवन्! नहीं जानते कि तुम्हारे मन में क्या है?

(३)

तमसा नदी के तीर पुष्पक वन बड़ा शोभायमान लगता है। प्रातःकाल की मृदु मंद वायु धीरे-धीरे बहकर फूलों का चुंबन कर रही है। वायु से लतादि खेल रही हैं। पशु पक्षी इधर-उधर क्रीड़ा कर रहे हैं। विरही के लिए ऐसा स्थान बड़ा ही दुःखदायी है। दैवेच्छा देखिए, आज बेचारा कवित्व इसी स्थान पर घूमता-घूमता आ पहुँचा। स्थान को देखकर उसका हृदय बड़ा कातर हो गया। हाय! इस स्थान पर छोटे पक्षी से लेकर बड़े-बड़े पशु तक अपनी पत्नियों के साथ विहार कर रहे हैं। केवल मैं ही ऐसा अभागा क्यों हूँ? ईश्वर! तुम्हें मेरी दशा पर तनिक दया नहीं आती। कौन दिन होगा जिस दिन मेरा हृदय सुंदरी भाषा के संयोग से शीतल होगा। विरहातुर कवित्व इस प्रकार शोक सागर में डूबने लगा; किंतु किसी ने उसके प्रति दया न की; किसी ने उसकी ओर झाँका तक नहीं।

ब्राह्मण बड़े दयार्द्र होते हैं। उनकी दया ने सारा संसार जीता है। ब्राह्मण या ऋषियों की दया न होने से जगत् एक बार ही अंधकार में धँस जाता है। कवित्व का शोक देखकर दयावान् ब्राह्मणों से न रहा गया। उन्होंने उसकी कातरता का वर्णन ऋषिवर वाल्मीकि से किया शोकातुर कवित्व का वह दुःख किसी ने न समझा। समझा केवल ऋषि वाल्मीकि ने। उन्होंने उसकी सब इच्छा समझ ली। प्रेमिक-श्रेष्ठ कवित्व के हृदय में जो नैराश्य की अग्नि जल रही थी, उसको उन्होंने

ठीक-ठीक समझ लिया। महात्मा का दयावान हृदय कवित्व की कातरता से पिघल गया। उन्होंने अति शीघ्र भाषा और कवित्व के विवाह का योग जुटा दिया। तदुपरांत उस महात्मा ने कवित्व-समागम के लिए उत्सुक भाषा को लाकर, विरहातुर, मर्म्म-पीड़ित कवित्व के हाथ में शुभ समय में, समर्पण किया। भाषा आनंद से प्रफुल्लित हो गई। अपनी मनोकामना पूरी होने की प्रसन्नता से कवित्व कृत-कृत्य हो गया। महात्मा वाल्मीकि उस भाग्यशाली मधुर मनोहरवेशी दंपति को लेकर सबके सामने उपस्थित हुए। सब लोग आश्चर्य से उन्हें देखने लगे। महात्मा ने कहा—

> मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
> यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

दिग्दिगंत में कोलाहल हो उठा। स्वयं ब्रह्मा उस स्थान पर आए; और वाल्मीकिजी की, इस काम के लिये, उन्होंने सधन्यवाद प्रशंसा की।

(४)

संसार विचित्र है। एक ओर प्रकाश, दूसरी ओर अंधकार; एक ओर धूप, दूसरी ओर मेघ; एक ओर आनंद, दूसरी ओर विषाद—संसार की गति यही है; इसी से, उसी संसार में एक ओर सर्व-पूजित श्रेष्ठ कवित्व और दूसरी ओर सर्व-घृणित मिथ्या। कवित्व सुंदर, मिथ्या कुत्सित। कवित्व की प्रशंसा सब जगह; मिथ्या की निंदा सब जगह। कवित्व सर्वत्र संमानित; मिथ्या सर्वत्र असंमानित; इसी से मैं कहता हूँ—"संसार विचित्र है।"

कवित्व ने एक दिन इसी बेचारी दुःखिनी मिथ्या को दूर से देखा। दुःखिनी का दुःख देख उसको दया आ गई। मिथ्या मारी मारी फिरती है। कितने मनुष्य उसके ऊपर धूल और पत्थर फेंक रहे हैं। कितने अकथ्य भाषा में गाली बक रहे हैं। कितने कुचेष्टाएँ कर रहे हैं। मिथ्या यदि घूमते-घूमते किसी के निकट जाकर आश्रय चाहती है तो वह उससे नाक-मुँह सिकोड़ दस हाथ दूर भागता है। कोई कोई कार्यवश उसको लेता भी है, किंतु फिर भी उसका अपमान होता है। शरणार्थिनी मिथ्या के ऊपर किसी की भी कृपा-दृष्टि न हुई। जो लोग मिथ्या का पक्ष करते हैं, मनुष्य-समाज में वे ही निंदित होते हैं।

यही सब देख-सुनकर कवित्व कहने लगा—अहा! जगत् में इस मिथ्या के समान और कोई हतभागिनी स्त्री न होगी। सब के पैरों से कुचली हुई, अनेक दोषों से दूषित इस रमणी के लिये कोई भूलकर भी दया-प्रकाश नहीं करता। भगवन्! इस पतिता का क्या किसी प्रकार उद्धार नहीं हो सकता?

बहुत चिंता कर अंत में कवित्व ने मिथ्या का पाणिग्रहण करना ही स्थिर किया। उसके साथ विवाह करने से मिथ्या के दोष सब प्रकार से परिशोधित हो जायँगे, यही विश्वास करके वह मिथ्या के साथ विवाह करने को उद्यत हुआ। इस बार कवित्व को विवाह करने के लिये उतनी उत्कंठा नहीं सहनी पड़ी।

मिथ्या के साथ कवित्व का विवाह हो गया। इस विवाह के भी आचार्य्य वही महात्मा वाल्मीकि हुए। समाज में अनेक प्रकार के ऐसे विवाह होते हैं; इसी से इस काम के लिये, किसी

को दोष नहीं दिया गया। कवित्व ने यथार्थ में बेचारी मिथ्या का उद्धार किया। कवित्व-सहचारिणी मिथ्या जन-समाज में अच्छे प्रकार समादृत होने लगी। कुत्सिता, घृणिता मिथ्या कवित्व के संयोग से सुंदर हुई। कवित्व ने भी अधिक प्यार के साथ उसका नाम बदलकर 'कल्पना' रख दिया। कल्पना-भाषा-समन्वित कवित्वदेव की घर-घर पूजा अब भी होती है। कवि ने यथार्थ कहा है—"काचः कांचनसंसर्गाद्धत्ते मारकतीं द्युतिम्।"

कवित्व की दोनों ही पत्नियाँ कुछ चंचल हैं। कभी वे दोनों अपने पति का साथ छोड़ कहीं अलग भ्रमण करने लगती हैं। कभी पति के साथ नाना देश, नाना स्थान, देखने को चली जाती हैं।

चंद्र के बिना रात फीकी लगती है। कवित्व के बिना मिथ्या का समादर कैसे होगा? कांचन न होने से हीरे की शोभा कैसे बढ़ेगी! मिथ्या यदि अकेली रहे तो वही पूर्ववत् घृणिता। वह उज्ज्वलवेशी राजमहिषी कल्पना, और यह विकृतवेशी मिथ्या, दोनों एक ही हैं, सो कोई नहीं जान सकता।

मिथ्या जिस समय कल्पना के रूप में महात्माओं के पास से होकर निकलती है उस समय उसका तेज बहुत ही देदीप्य-मान हो जाता है। उस समय उसमें कुछ भी क्रूरबुद्धि नहीं रहती, उस समय उसका आदर भाषा से भी अधिक बढ़ जाता है। किंतु वह भाषा के भी वृद्धि-साधन के लिये सचेष्ट रहती है। स्वामी का संग छोड़ने से मिथ्या के दुःख-भाव का भी

कभी-कभी परिचय मिलता है । उस समय वह भाषा को नीचा दिखलाती है ।

हे कवित्व! हे महापुरुष! यह दुःशीला मिथ्या तुम्हारे ही संसर्ग से रमणी-रत्न कल्पना हुई है। इसी से, हे अलौकिक शक्ति-संपन्न देव! तुमको हम लोग पुनः-पुनः प्रणाम करते हैं। तुमने दीन की ओर दया करके उसका कष्ट मोचन किया है। तुमने मनुष्यों का हृदय मिथ्या की ओर से बदल दिया है। अतएव तुम्हें बारंबार नमस्कार है। तुम धन्य हो!

भाग्यवान् कवित्व की और भी दो-एक पत्नियाँ हैं। उनमें से चित्र-विद्या मुख्य है। कवित्व सब पत्नियों का प्यारा है। काव्य, आलेख्य प्रभृति उसके पुत्र हैं। कवित्व की दूसरी पत्नी कल्पना संतान के पालन करने में बड़ी चतुर है। इसी से कवित्व की कई संतान उससे ही प्रतिपालित हैं।

कवित्व किसी-न-किसी स्त्री को साथ लिये बिना बाहर नहीं निकलता। वह भाषा की अपेक्षा मिथ्या को अधिक प्यार करता है। इसी से कवित्व एक दोष से दोषी है।

—चतुर्भुज औदीच्य

(१६) "इत्यादि" की आत्म-कहानी

"शब्द-समाज" में मेरा संमान कुछ कम नहीं। मेरा इतना आदर है कि वक्ता और लेखक लोग मुझे जबरदस्ती घसीट ले जाते हैं। दिन-भर में, मेरे पास न जाने कितने बुलावे आते हैं। सभा सोसायटियों में जाते-आते मुझे नींद-भर सोने की भी छुट्टी नहीं मिलती। यदि मैं बिना बुलाए भी कहीं जा पहुँचता हूँ तो भी संमान के साथ स्थान पाता हूँ। सच पूछिए तो "शब्द-समाज" में यदि मैं, "इत्यादि" न रहता, तो लेखकों और वक्ताओं की न जाने क्या दुर्दशा होती। पर हा! इतना संमान पाने पर भी किसी ने आज तक मेरे जीवन की कहानी नहीं कही। संसार में जो जरा भी काम करता है उसके लिये लेखक लोग खूब नमक-मिर्च लगाकर पोथे-के-पोथे रँग डालते हैं, पर मेरे लिए एक सतर भी किसी की लेखनी से आज तक नहीं निकली। पाठक, इस में एक भेद है।

यदि लेखक लोग सर्व-साधारण पर मेरे गुण प्रकाशित करते तो उनकी योग्यता की कलई जरूर खुल जाती क्योंकि उनकी शब्द-दरिद्रता की दशा में मैं ही उनका एकमात्र अवलंब हूँ। अच्छा तो आज मैं चारों ओर से निराश होकर आप ही अपनी कहानी कहने और गुणावली गाने बैठा हूँ। पाठक, आप मुझे "अपने मुँह मियाँ मिट्ठू" बनने का दोष न लगावें। मैं इसके लिये क्षमा चाहता हूँ।

अपने जन्म का सन् संवत् मिति दिन मुझे कुछ भी याद नहीं। याद है इतना ही कि जिस समय "शब्द का महा

अकाल" पड़ा था उसी समय मेरा जन्म हुआ था। मेरी माता का नाम "इति" और पिता का "आदि" है। मेरी माता अविकृत "अव्यय" घराने की है। मेरे लिये यह थोड़े गौरव की बात नहीं है, क्योंकि भगवान् फणींद्र की कृपा से "अव्यय" वंशवाले, प्रतापी महाराज "प्रत्यय" के कभी अधीन नहीं हुए। वे सदा स्वाधीनता से विचरते आए हैं।

मैं जब लड़का था तब मेरे मा-बाप ने एक ज्योतिषी से मेरे अदृष्ट का फल पूछा था। उन्होंने कहा था कि यह लड़का विख्यात और परोपकारी होगा; अपने समाज में यह सबका प्यारा बनेगा; पर दोष है तो इतना है कि यह कुँवारा ही रहेगा। विवाह न होने से इसके बाल-बच्चे न होंगे। यह सुनकर मा-बाप के मन में पहले तो थोड़ा दुःख हुआ; पर क्या किया जाय? होनहार ही यह था। इसलिये सोच छोड़कर उन्हें संतोष करना पड़ा। उन दोनों ने, अपना नाम चिर-स्मरणीय करने के लिये, (मुझ से ही उनके वंश की इतिश्री थी) मेरा नाम कुछ और नहीं रक्खा। अपने ही नामों को मिलाकर वे मुझे पुकारने लगे। इससे मैं "इत्यादि" कहलाया।

पुराने जमाने में मेरा इतना नाम नहीं था। कारण यह कि एक तो लड़कपन में थोड़े लोगों से मेरी जान-पहचान थी; दूसरे उस समय बुद्धिमानों के बुद्धि-भंडार में शब्दों की दरिद्रता भी न थी। पर जैसे-जैसे शब्द-दारिद्र्य बढ़ता गया, वैसे-वैसे मेरा संमान भी बढ़ता गया। आजकल की बात मत पूछिए। आजकल मैं ही मैं हूँ। मेरे समान संमानवाला इस समय मेरे समाज में कदाचित् विरला ही कोई ठहरेगा।

आदर की मात्रा के साथ मेरे नाम की संख्या भी बढ़ चली है। आजकल मेरे अनेक नाम हैं—भिन्न-भिन्न भाषाओं के "शब्द-समाज" में मेरे नाम भी भिन्न-भिन्न हैं। मेरा पहनावा भी भिन्न-भिन्न है—जैसा देश वैसा ही भेस बनाकर मैं सर्वत्र विचरता हूँ। आप तो जानते ही होंगे कि सर्वेश्वर ने हम "शब्दों" को सर्वव्यापक बनाया है। इसी से मैं, एक ही समय, अनेक ठौर काम करता हूँ। इस घड़ी विलायत की पार्लियामेंट महासभा में डटा हूँ; और इसी घड़ी भारत की पंडित-मंडली में भी विराजमान हूँ; जहाँ देखिए वहीं मैं परोपकार के लिये उपस्थित हूँ।

मुझमें यह एक भारी गुण है; कि क्या राजा, क्या रंक, क्या पंडित, क्या मूर्ख, किसी के घर जाने-आने में मैं संकोच नहीं करता; और अपनी मानहानि नहीं समझता। अन्य "शब्दों" में यह गुण नहीं। वे बुलाने पर भी कहीं जाने-आने में बड़ा गर्व करते हैं; बहुत आदर चाहते हैं। जाने पर समान का स्थान न पाने से रूठकर उठ भागते हैं। मुझमें यह बात नहीं है, इसी से मैं सबका प्यारा हूँ।

परोपकार और दूसरे की मान-रक्षा तो मानों मेरा धंधा ही है। यह किए बिना मुझे एक पल भी कल नहीं पड़ती। संसार में ऐसा कौन है जिसके, अवसर पड़ने पर, मैं काम नहीं आता? निर्धन लोग जैसे भाड़े पर कपड़ा-लत्ता पहनकर बड़े-बड़े समाजों में बड़ाई पाते हैं, कोई उन्हें निर्धन नहीं समझता, वैसे ही मैं भी छोटे-छोटे वक्ताओं और लेखकों की दरिद्रता झटपट दूर कर देता हूँ। अब दो-एक दृष्टांत लीजिए—

वक्ता महाशय वक्तृता देने को उठ खड़े हुए हैं। अपनी पंडिताई दिखाने के लिये सब शास्त्रों की बात थोड़ी-बहुत कहनी चाहिये। पर शास्त्र का जानना तो अलग रहा, उन्हें किसी शास्त्र का पन्ना भी उलटने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। इधर-उधर से सुनकर दो-एक शास्त्रों और शास्त्रकारों का नाम-भर जान लिया है। कहने को तो खड़े हुए हैं, पर कहें क्या? अब लगे चिंता के समुद्र में डूबने-उतराने; और मुँह पर रूमाल दिए खाँसते-खूँसते इधर-उधर ताकने। दो-चार बूँद पानी भी उनके मुखमंडल पर झलकने लगा। जो मुख-कमल पहले उत्साह-सूर्य की किरणों से खिल उठा था, अब ग्लानि और संकोच का पाला पड़ने से मुरझाने लगा। उनकी ऐसी दशा देख मेरा हृदय दया से उमड़ आया। उस समय मैं, बिना बुलाए, उनकी सहायता के लिये जा खड़ा हुआ, और मैंने उनके कानों में चुपके से कहा—"महाशय, कुछ परवा नहीं, आपकी मदद के लिये मैं हूँ। आपके जी में जो आवे आरंभ कीजिए; फिर तो मैं सब कुछ निबाह लूँगा।" मेरे ढाढस बँधाने पर बेचारे वक्ताजी के जी-में जी आया। उनका मन फिर ज्यों-का-त्यों हरा-भरा हो उठा। थोड़ी देर के लिये जो उनके मुखड़े के आकाश-मंडल में चिंता-चिह्न का बादल देख पड़ा था, वह मेरे ढाढस के झकोरे से एक-बारगी फट गया, और उत्साह का सूर्य्य फिर निकल आया। अब लगे वे यों वक्तृता झाड़ने"महाशयो, मनु इत्यादि धर्म्म-शास्त्रकार, व्यास इत्यादि पुराणकार, कपिल इत्यादि दर्शन-कारों ने कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद इत्यादि जिन-जिन दार्शनिक-तत्त्व-रत्नों को भारत के भंडार में भरा है उन्हें देखकर मैक्स-

मूलर इत्यादि पाश्चात्य पंडित लोग बड़े अचंभे में आकर चुप हो जाते हैं। इत्यादि इत्यादि"।

यहाँ इतना कहने की जरूरत नहीं कि वक्ता महाशय धर्मशास्त्रकारों में केवल मनु, पुराणकारों में केवल व्यास, दर्शनकारों में केवल कपिल का नाम-भर जानते हैं; और उन्होंने कर्मवाद, पुनर्जन्मवाद का नाम-भर सुन लिया है। पर देखिये मैंने उनकी दरिद्रता दूर कर उन्हें ऊपर से कैसा पहनावा पहनाया कि भीतर के फटे-पुराने और मैले-चीथड़े को किसी ने नहीं देखा।

और सुनिए—किसी समालोचक महाशय का किसी ग्रंथकार के साथ बहुत दिनों से मनमुटाव चला आता है। जब ग्रंथकार की कोई पुस्तक समालोचना के लिये समालोचक साहबान के आगे आई, तब वे बड़े प्रसन्न हुए, क्योंकि यह दाँव तो वे बहुत दिनों से ढूँढ रहे थे। पुस्तक को बहुत कुछ ध्यान देकर, उलटकर, उन्होंने देखा। कहीं किसी प्रकार का विशेष दोष, पुस्तक में उन्हें न मिला। दो-एक साधारण छापे की भूलें निकलीं पर इससे तो सर्वसाधारण की तृप्ति नहीं होती। ऐसी दशा में बेचारे समालोचक महाशय के मन में मैं याद आ गया। वे झटपट मेरी शरण आए। फिर क्या है? पौ बारह! उन्होंने उस पुस्तक की यों समालोचना कर डाली—पुस्तक में जितने दोष हैं, उन सभों को दिखाकर, हम ग्रंथकार की अयोग्यता का परिचय देना तथा अपने पत्र का स्थान भरना, और पाठकों का समय खोना, नहीं चाहते। पर दो-एक साधारण दोष हम दिखा देते हैं; जैसे, इत्यादि इत्यादि।

पाठक, देखा! समालोचक साहब का इस समय मैंने कितना बड़ा काम किया। यदि यह अवसर उनके हाथ से निकल जाता तो वे अपने मनमुटाव का बदला क्योंकर लेते? यह तो हुई बुरी समालोचना की बात। यदि भली समालोचना करने का काम पड़े, तो मेरे ही सहारे वे बुरी पुस्तकों की भी ऐसी समालोचना भी कर डालते हैं, कि वह पुस्तक सर्वसाधारण की आँखों में भली भासने लगती है और उसकी माँग चारों ओर से आने लगती है।

कहाँ तक कहूँ। मैं मूर्ख को पंडित बनाता हूँ। जिसे युक्ति नहीं सूझती उसे युक्ति सुझाता हूँ। लेखक को यदि भाव प्रकाशित करने को भाषा नहीं जुटती तो भाषा जुटाता हूँ। कवि को जब उपमा नहीं मिलती, उपमा बताता हूँ। सच पूछिए, तो मेरे पहुँचते ही अधूरा विषय भी पूरा हो जाता है। बस, क्या इतने से मेरी महिमा प्रगट नहीं होती?

—यशोदानंदन अखौरी
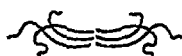
(२०) साहित्य-देवता

मैं तुम्हारी एक तसवीर खींचना चाहता हूँ।

परंतु भूल मत जाना कि मेरी तसवीर खींचते-खींचते तुम्हारी भी एक तसवीर खिंचती चली आ रही है।

अरे, मैं तो स्वयं ही अपने भावी जीवन की एक तसवीर अपने अटेची-केस में रक्खे हुए हूँ। तुम्हारी तसवीर बना चुकने के बाद मैं उसे प्रदर्शनी में रखनेवाला हूँ। किंतु, मेरे मास्टर, मैं यह पहले देख लेना चाहता हूँ कि मेरे भावी जीवन को, किस तरह चित्रित कर तुमने अपनी जेब में रख छोड़ा है।

प्रदर्शनी में रक्खो तुम अपनी बनाई हुई, और मैं अपनी बनाई हुई रख दूँ,—केवल तुम्हारी तसवीर।

ना सेनानी, मैं किसी भी आईने पर बिकने नहीं आया। मैं कैसा हूँ, यह पतित होते समय खूब देख लेता हूँ। चढ़ते समय तो तुम्हीं, केवल तुम्हीं, देख पड़ते हो।

क्या देखना है?

तुम्हें, और तुम कैसे हो यह क़लम के घाट उतरने के समय हरगिज़ नहीं भूल जाना है कि तुम किसके हो!

आज चित्र खींचने की बेचैनी क्यों है?

कल तक मैं तुम्हारा मोल-तोल कूता करता था। आज अपनी इस वेदना को लिखने के आनंद का भार मुझसे नहीं सँभलता।

सचमुच, पत्थर की क़ीमत बहुत थोड़ी होती है; वह बोझीला ही अधिक होता है।

बिना बोझ के, छोटे पत्थर भी होते हैं; जिनमें से एक-एक की क़ीमत पचासों हाथियों से नहीं कूती जाती। परंतु—

परंतु क्या?

मेरे प्रियतम, तुम वह मूल्य नहीं हो, जिसकी, अभागे ग्राहक की अड़चनों को देखकर, अधिक से अधिक माँग की जाती है।

हाँ, तो तुम्हारा, चित्र खींचना चाहता हूँ। मेरी कल्पना की जीभ को लिखने दो; क़लम की जीभ को बोल लेने दो। किंतु हृदय और मसिपात्र दोनों तो काले हैं। तब मेरा प्रयत्न, चातुर्य का अर्ध-विराम, अल्हड़ता का अभिराम, धवलता का गर्व गिरानेवाला, केवल श्याम-मात्र होगा। परंतु यह काली बूँदें, अमृत-बिंदुओं से भी मीठी, अधिक आकर्षक और मेरे लिये अधिक मूल्यवान् हैं। मैं अपने आराध्य का चित्र जो बना रहा हूँ!

× × × ×

कौन सा आकार दूँ? तुम मानव-हृदय के मुग्ध संस्कार जो हो! चित्र खींचने की सुध कहाँ से लाऊँ? तुम अनंत 'जाग्रत' आत्माओं, के ऊँचे पर गहरे 'स्वप्न' जो हो! मेरी काली क़लम का बल, समेटे नहीं सिमटता। तुम, कल्पनाओं के मंदिर में, बिजली की व्यापक चकाचौंध जो हो! मानव-सुख के फूलों के, और लड़ाके सिपाही के रक्त-बिंदुओं के संग्रह, तुम्हारी तसवीर खींचूँ मैं? तुम तो, वाणी के सरोवर में अंतरात्मा के निवासी की जगमगाहट हो। लहरों से परे, पर लहरों में खेलते हुए। रजत के बोझ और तपन से खाली, पर

पक्षियों, वृक्ष-राजियों और लताओं तक को अपने रुपहलेपन में नहलाए हुए।

वेदनाओं के विकास के संग्रहालय, तुम्हें किस नाम से पुकारूँ? मानव-जीवन की अब तक पनपी हुई महत्ता के मंदिर, ध्वनि की सीढ़ियों से उतरता हुआ, ध्येय का माखन-चोर, क्या तुम्हारी ही गोद के कोने में, 'राधे' कहकर नहीं दौड़ा आ रहा है? अहा, तब तो तुम, ज़मीन को आसमान से मिलानेवाले ज़ीने हो; गोपाल के चरण-चिह्नों को साध-साधकर चढ़ने के साधन। ध्वनि की सीढ़ियाँ जिस क्षण लचक रही हों, और कल्पना की सुकोमल रेशम-डोर जिस समय गोविंद के पादारविंद के पास पहुँचकर झूलने की मनुहार कर रही हो, उस समय यदि वह भूल पड़ता होगा?—आह तुम कितने महान् हो? इसीलिये बेचारा लाँगफेलो, तुम्हारे चरण-चिह्नों के मार्ग की कुंजी, तुम्हारे ही द्वार पर लटकाकर चला गया। चिड़ियों की चहक का संगीत, मैं, और मेरी अमृत-निस्यंदिनी गाय व्रज-लता, दोनों सुनते हैं। "सखि चलो सजन के देश, जोगन बनके धूनी डालेंगे।"—मैं और मेरा घोड़ा दोनों जहाँ थे, वहीं मेरे मित्र 'शंभु' जी ने अपनी यह तान छेड़ी थी। परंतु, वह तो तुम्हीं थे, जिसने द्विपाद और चतुष्पाद का, विश्व को निगूढ़ तत्त्व सिखाया। अरे, पर मैं तो भूल ही गया; मैं तो तुम्हारी तसवीर खींचनेवाला था न?

× × ×

हाँ, तो अब मैं तुम्हारी तसवीर खींचना चाहता हूँ। पशुओं को कच्चा खानेवाली ज़बान, और लज्जा ढँकने के

लिये लपेटी आनेवाली वृत्तों की छालें,—वे, इतिहास से भी परे खड़े हुए हैं; और यह देखो, श्रेणी-बद्ध अनाज के अंकुर और शाहज़ादे कपास के वृत्त, बाक़ायदा, अपने ऐश्वर्य को मस्तक पर रखकर, भू-पाल बनने के लिये, वायु के साथ होड़ बद रहे हैं। इन दोनों ज़मानों के बीच की जंज़ीर,—तुम्हीं तो हो। विचारों के उत्थान और पतन तथा सीधे और टेढ़ेपन को मार्ग-दर्शक बना, तुम्हीं न, कपास के तंतुओं से भी झीने तार खींचकर आचार ही की तरह, विचार के जगत् में, पांचाली की लाज बचाते आए हो? कितने दुःशासन आए, और चले गए। तुम्हारी बीन से, रात को, तड़पा देनेवाला सोरठ गाता हूँ, और सवेरे, विश्व-संहारकों से जूझने जाते समय, उसी बीन से युद्ध के नक्कारे पर, डंके की चोट लगाता हूँ। नगाधिराजों के मस्तक पर से उतरनेवाली निम्नगाओं की मस्ती-भरी दौड़ में, और उनसे निकलने वाली लहरों की क़ुरबानी से हरियाली होनेवाली भूमि में; लजीली पृथ्वी से लिपटे तरल नीलांबर महासागरों में, और उनकी लहरों को चीरकर ग़रीबों के रक्त से कीचड़ सान, साम्राज्यों का निर्माण करने के लिये दौड़नेवाले जहाज़ों के झंडों में, तुम्हीं,—केवल तुम्हीं लिखे दीखते हो। इँग्लेंड का प्रधानमंत्री, इटाली का डिक्टेटर, अफ़ग़ानिस्तान का पदच्युत, चीन का ऊँघकर जागता हुआ और रूस का सिंहासन उलटने और क्रांति से शांति का पुण्याहवाचन करनेवाला ग़रीब—यह कौन है? यह तो युग की छाती पर, तुम्हारे ही मधुर नाम के कठोर अक्षर हैं। यदि तुम स्वर्ग न उतारते, तो मंदिरों में किसकी आरती उतरती? वहाँ चमगीदड़ टँगे रहते; उलूक बोलते। मस्तिष्क के मंदिर

भी जहाँ तुमसे ख़ाली हैं, यही तो हो रहा है। कुतुबमीनारों और पिरामिडों के गुंबज़, तुम्हारे ही आदेश से, आसमान से बातें कर रहे हैं। आँखों की पुतलियों में, यदि तुम कोई तसवीर न खींच देते, तो वे बिना दाँतों के ही चींथ डालतीं; बिना जीभ के ही रक्त चूस लेतीं। वैद्य कहते हैं, धमनियों के रक्त की दौड़ का आधार हृदय है,—क्या हृदय तुम्हारे सिवा किसी और का नाम है? व्यास का कृष्ण और वाल्मीकि का राम, किसके पंखों पर चढ़कर, हज़ारों वर्षों की छाती छेदते हुए, आज लोगों के हृदयों में विराज रहे हैं? वे चाहे कागज़ के बने हों, चाहे भोजपत्रों के, वे पंख तो तुम्हारे ही थे।

रूठो नहीं, स्याही के शृंगार, मेरी इस स्मृति पर तो पत्थर ही पड़ गए कि—

मैं तुम्हारा चित्र खींच रहा था!

× × × ×

परंतु तुम सीधे कहाँ बैठते हो? तुम्हारा चित्र? बड़ी टेढ़ी खीर है! सिपहसालार, तुम, देवत्व को मानवत्व की चुनौती हो। हृदय से छनकर, धमनियों में दौड़नेवाले रक्त की दौड़ हो, और हो उन्माद के अतिरेक के रक्त-तर्पण भी। आह, कौन नहीं जानता कि तुम कितनों ही की बंसी की धुन हो; धुन वह, जो 'गोकुल' से उठकर विश्व पर अपनी मोहिनी का सेतु बनाए हुए है। काल की पीठ पर बना हुआ वह पुल, मिटाए मिटता नहीं, भुलाए भूलता नहीं। ऋषियों का राग, पैग़ंबरों का पैग़ाम, अवतारों की आन, युगों को चीरती, किस लालटेन के सहारे, हमारे पास तक आ पहुँची? वह तो तुम हो,

परम प्रकाश—स्वयं प्रकाश। और आज भी कहाँ ठहर रहे हो ? सूरज और चाँद को, अपने रथ के पहिये बना, सूझ के घोड़ों पर बैठे, बढ़े ही तो चले जा रहे हो प्यारे ! ऐसे समय हमारे संपूर्ण युग का मूल्य तो, मेल-ट्रेन में पड़नेवाले छोटे-से स्टेशन का-सा भी नहीं होता। पर इस समय तो, तुम मेरे पास बैठे हो। तुम्हारी एक मुट्ठी में, विश्व का विकसित तरुण पुरुषार्थ विराजमान है। धूलि के नंदन में, परिवर्तित स्वरूप, कुंज-विहारी, आज तो कल्पना की फुलवारियाँ भी, विश्व की स्मृतियों में, तुम्हारी तर्जनी के इशारों पर लहलहा रही हैं। तुम नाथ नहीं हो; इसीलिये कि मैं अनाथ नहीं हूँ। किंतु हे अनंत पुरुष, यदि तुम विश्व की कालिमा का बोझ सँभालते मेरे घर न आते, तो ऊपर आकाश भी होता और नीचे ज़मीन भी; नदियाँ भी बहतीं, सरोवर भी लहराते; परंतु मैं और चिड़ियाँ, दोनों, छोटे-छोटे जीव-जंतु और स्वाभाविक अन्न-कण बीनकर अपना पेट भरते होते। मैं भर वैशाख में भी वृक्षों पर शाखा-मृग बना होता। चीते-सा गुर्राता, मोर-सा कूकता और कोयल-सा गा भी देता। परंतु मेरा और विश्व के हरियालेपन का, उतना ही संबंध होता जितना, नर्मदा के तट पर, हरसिंगार की वृक्ष-राजि में लगे हुए, टेलिग्राफ के खंभे का नर्मदा से कोई संबंध हो। उस दिन, भगवान् 'समय' न जाने किसका, न जाने कब कान उमेठ कर चलते बनते ? मुझे कौन जानता ? विंध्य की जामुनों और अरावली की खिरनियों के उत्थान और पतन का भी इतिहास किसी के पास लिखा है ? इसीलिये तो मैं तुमसे कहता हूँ:—

"ऐसे ही बैठे रहो, ऐसे ही मुसकाहु"।

क्यों ?

इसलिये कि अंतरतर की तरल तूलिकाएँ समेटकर, अराजक ! मैं तुम्हारा चित्र खींचना चाहता हूँ !

× × × ×

क्या तुम अराजक नहीं हो ? कितनी गद्दियाँ तुमने चकनाचूर नहीं कीं ? कितने सिंहासन तुमने नहीं तोड़ डाले ? कितने मुकुटों को गलाकर घोड़ों की सुनहली खोगीरें नहीं बना दी गईं ? सोते हुए अखंड नर-मुंडों के जागरण, नाड़ी रोगी के ज्वर की माप बताने में चूक सकती हैं, किंतु तुम, मुग्ध होकर भी, ज़माने को, गणित के अंकों जैसा नपा-तुला और दीपक जैसा स्पष्ट निर्माण करते चले आ रहे हो। आह, राज्य पर होनेवाले आक्रमण को बरदाश्त किया जा सकता है, किंतु मनोराज्य की लूट तो दूर, उस पर पड़नेवाली ठोकर, कितने प्रलय नहीं कर डालती ? सोने के सिंहासनों पर विराजमानों की हत्याओं से, ज़माने के मनस्वियों के हाथ लाल हैं, किंतु नक़शे पर दिए जानेवाले रंग की तरह उस शक्ति की सीमा निश्चित है। परंतु मनोराज्य की मृगछाला पर बैठे हुए, बिना शस्त्र—बिना सेना के, बृहस्पति के अधिकार को चुनौती कौन दे सके ? मनोराज्य पर छूटनेवाला तीर प्रलय की प्रथम चेतावनी लेकर लौटता है। मनोराज्य के मस्तक पर फहराता हुआ विजय-ध्वज, जिस दिन धूलि-धूसरित होने लगे, उस दिन, मनुष्यत्व दूरबीन से भी ढूँढ़े कहाँ मिलेगा ? उस दिन ज्वाला-मुखी फट पड़ा होगा, वज्र टूट पड़ा होगा। प्यारे, शून्य

के अंक, गति के संकेत, और विश्व के पतन-पथ की तथा विस्मृति की गति की लाल झंडी, तुम्हीं तो हो ! तुम्हारा रंग उतरने पर, वह आत्म-तर्पण ही है जो फिर तुम पर लालिमा बरसा सके। जिस मंदिर का झंडा लिपट जाय, वह डाँवाडोल हो उठे, उसमें 'नर', 'नारायण' नहीं रहते। उस देश को पराये चरण अभी धोने हैं, अपने मांस से पराये चूल्हे अभी सौभाग्य-शील बनाए रखने हैं, पराई उतरन अभी पहिननी है। मैं, प्रियतम, तुम्हारी—

"उतरन पहनी हुई तसवीर नहीं खींचूंगा !"

× × × ×

उतरन—बुरी तरह स्मरण हो आया ! बुरे समय, बुरे दिनों। अपना कुछ न रखनेवाला ही उतरन पहने। जो क्षितिज के परे अपनी अँगुली पहुँचा पावे, जो प्रत्यक्ष के उस ओर रक्खी हुई वस्तु को छू सके, वह उतरन क्यों पहने ? फ्रेंच और जर्मन का आपस का लेन-देन, उतरन नहीं, वह तो भाईचारे की भेंट है। एक भिखारिन माँ मेरी भी है। उसने भी रत्न प्रसव किए हैं। पत्थरों से बोझीले; कंकड़ों से गिनती में अधिक; खाली अंतःकरण में मृदंग से अधिक आवाज़ करनेवाले। मातृ-मंदिर में, उतरन पर एक दूसरे से होड़ ले रहा है। उतरन-संग्रह की बहादुरी का इतिहास, उनकी पीठ पर लदा हुआ है। गत वर्ष होनेवाले विश्व-परिवर्तनों के, छपे पुराने अखबारों पर, आज हम, हवाई जहाज़ के नए आविष्कार की तरह बहस करते हैं। वीणा, वंसी और जल-तरंग का सर्वनाश ही नहीं हो चुका; हारमोनियम और पियानो

भी किस काम आएँगे ?—हमारा कोई गीत भी तो हो ? कला से नहलाया हुआ, हृदय तोड़कर निकला हुआ। वीणा में तार नहीं; दिल में गुबार नहीं। और साध तो है कि—

"मैं तुम्हारा चित्र बना डालूँ !"

× × × ×

न जाने हम तुम्हारा जन्मोत्सव मनाते हैं, या मरण-त्योहार ? बैलगाड़ी पर बैठे-बैठे हवाई जहाज़ देखा करते हैं। बिल्ली के रास्ता काट जाने पर हमारा अपशकुन होता है; किंतु बेतार का तार स्विट्ज़रलेंड की ख़बर, आस्ट्रेलिया पहुँचाकर भी, हमारी श्रुतियों को नहीं छूता ! तब, हमारी सरस्वती से तो उसका संबंध ही कैसे हो सकता है ? एंजिन के रूप में धधकते हुए ज्वाला-मुखी का एक व्यापार हमारी छाती पर हो रहा है। प्यारे, इस समय अधोगति की ज्वाल-मालाओं में से ऊँचा उठने के लिये आकर्षण चाहिए। कृषकों ने, इसी लालच से तो, तुम्हारा नाम कृष्ण रक्खा होगा। ज़रा तुम अपनी युग-संदेश-वाहिनी बाँसुरी लेकर बैठ जाओ। रामायण में जहाँ बालकांड है, वहाँ लंकाकांड भी तो है। तुम्हारी तान में भैरवी भी हो, कलिंगड़ा भी हो। ज़रा बंसी लेकर बैठ जाओ:—

मैं तुम्हारा चित्र मुरलीधर के रूप में खींचना चाहता हूँ !

× × × ×

"शिव संहार करते हैं"—कौन जाने ? किंतु मेरे सखा, तुम

ज़रूर महलों के संहारक हो। झोपड़ियों ही से तुम्हारा दिव्य गान उठता है। किंतु यह अपनी पर्ण-कुटी देखो। जाले चढ़ गए हैं, वातायन बंद हो गए हैं। सूर्य की नित्य नवीन, प्राण-प्रेरक और प्राण-पूरक किरणों की यहाँ गुज़र कहाँ? वे तो द्वार खटखटाकर लौट जाती हैं। द्वार पर चढ़ी हुई बेलें, पानी की पुकार करती हुई, बिना फलवती हुए ही, अस्तित्व खो रही हैं। पितृ-तर्पण करनेवाले अल्हड़ों को लेकर, युग, इस कुटी का कूड़ा साफ़ करने ही में लग जाना चाहता है। कितने तप हुए कि इस कुटिया में सूर्य-दर्शन नहीं होते। मेरे देवता! तुम्हारे मंदिर की जब यह अवस्था किए हुए हूँ, तब बिना प्रकाश. बिना हरियालेपन, बिना पुष्प और बिना विश्व की नवीनता को तुम्हारे द्वार पर खड़ा किए, तुम्हारा चित्र ही कहाँ उतार पाऊँगा? विस्तृत नीले आसमान का पत्रक पाकर भी, देवता! तुम्हारी तसवीर खींचने में, शायद दैवी चितेरे इसीलिये असफल हुए। उन्होंने चंद्र की रजतिमा की दावात में, क़लम डुबो-डुबोकर चित्रण की कल्पना पर चढ़ने का प्रयत्न किया, और प्रतीक्षा कीउद्विग्नता में, सारा आसमान धवीला कर चलते बने! इस बार, मैं पुष्प लेकर नहीं, कलियाँ तोड़कर आने की तैयारी करूँगा; और, ऐ विश्व के प्रथम-प्रभात के मंदिर, उषा के तपोमय प्रकाश की चादर तुम्हें ओढ़ाकर, तुम्हारे उस अंतरतर का चित्र खींचने आऊँगा, जहाँ, तुम अशेष संकटों पर अपने हृदय के टुकड़े बलि करते हुए, शेष के साथ खिलवाड़ कर रहे होगे। आज तो उदास; पराजित, और भविष्य की वेदनाओं की गठरी सिर पर लादे, अपने बाग़ में उन कलियों के आने की उम्मीद में ठहरता हूँ, जिनके कोमल

अंतस्तल को छेदकर, उस समय, जब तुम नगाधिराज का मुकुट पहने. दोनों स्कंधों से आनेवाले संदेशों पर मस्तक झुला रहे होगे; गंगी और जमुनी का हार पहने, बंग के पास तरल चुनौती पहुँचा रहे होगे, नर्मदा और ताप्ती की करधनी पहने, विंध्य को विश्व नापने का पैमाना बना रहे होगे; कृष्णा और कावेरी की कोरवाला नीलांबर पहने, विजय-नगर का संदेश, पुण्य-प्रदेश से गुज़रकर सह्याद्रि और अरावली को सेनानी बना, मेवाड़ में ज्वाला जगाते हुए, देहली से पेशावर और भूटान चीरकर, अपनी चिर कल्याणमयी वाणी से, विश्व को न्यौता पहुँचा रहे होगे; और हवा और पानी की बेड़ियाँ तोड़ने का निश्चय कर, हिंद-महासागर से अपने चरण धुलवा रहे होगे;—ठीक उसी संनिकट भविष्य में, हाँ सूची से कलियों का अंतःकरण छेद, मेरे प्रियतम, मैं तुम्हारा चित्र खींचने आऊँगा। तब तक चित्र खींचने योग्य अरुणिमा भी तो तैयार रखनी होगी। विना मस्तकों को गिने और रक्त को मापे ही मैं तुम्हारा चित्र खींचने आगया।

देवता, वह दिन आने दो, स्वर सध जाने दो।

—माखनलाल चतुर्वेदी

(२१) सूरदास

वल्लभाचार्य के शिष्यों में सर्वप्रधान, सूरसागर के रचयिता, हिंदी के अमर कवि महात्मा सूरदास हुए जिनकी सरल वाणी से देश के असंख्य सूखे हृदय हरे हो उठे और भग्नाश जनता को जीने का नवीन उत्साह मिला। इनका जन्म-संवत् लगभग १५४० था। आगरा से मथुरा जानेवाली सड़क के किनारे रुनकता नामक गाँव में इनकी जन्म-भूमि थी। चौरासी वैष्णवों की वार्ता तथा भक्तमाल के साक्ष्य से ये सारस्वत ब्राह्मण ठहरते हैं, यद्यपि कोई-कोई इन्हें महाकवि चंद बरदाई के वंशज भाट कहते हैं। इनके अंधे होने के संबंध में यह प्रवाद प्रचलित है कि वे जन्म से अंधे थे, पर एक बार जब वे कुएँ में गिर पड़े थे तब श्री कृष्ण ने उन्हें दर्शन दिये थे और वे दृष्टि-संपन्न हो गये थे। परंतु उन्होंने कृष्ण से यह कहकर अंधे बने रहने का वर माँग लिया कि जिन आँखों से भगवान् के दर्शन किये, उनसे अब किसी मनुष्य को न देखें। इस प्रवाद का आधार उनके दृष्ट-कूटों की एक टिप्पणी है। इसे असत्य न मानकर यदि एक प्रकार का रूपक मान लें तो कोई हानि नहीं। सूर वास्तव में जन्मांध नहीं थे, क्योंकि शृंगार तथा रंग-रूपादि का जो वर्णन उन्होंने किया है वैसा कोई जन्मांध नहीं कर सकता। जान पड़ता है, कुएँ में गिरने के उपरांत उन्हें कृष्ण की कृपा से ज्ञान-चक्षु मिले, पहले इस चक्षु से वे हीन थे। यही आशय उक्त कहानी से ग्रहण किया जा सकता है।

जब महात्मा वल्लभाचार्य से सूरदासजी की भेंट हुई थी तब तक वे वैरागी के वेष में रहा करते थे। तब से ये उनके शिष्य

हो गये और उनकी आज्ञा से नित्य-प्रति अपने उपास्य देव और सखा कृष्ण की स्तुति में नवीन भजन बनाने लगे। इनकी रचनाओं का बृहत् संग्रह सूरसागर है, जिसमें एक ही प्रसंग पर अनेक पदों का संकलन मिलता है। भक्ति के आवेश में वीणा के साथ गाते हुए जो सरस पद उन अंध कवि के मुख से निस्सृत हुए, उनमें पुनरुक्ति चाहे भले ही हो, पर उनकी मर्मस्पर्शिता और हृदयहारिता में किसी को कुछ भी संदेह नहीं हो सकता।

सूरसागर के संबंध में कहा जाता है कि उसमें सवा लाख पदों का संग्रह है, पर अब तक सूरसागर की जो प्रतियाँ मिली हैं उनमें छः हजार से अधिक पद नहीं मिलते। परंतु यह संख्या भी बहुत बड़ी है। इतनी ही कविता उसके रचयिता को सरस्वती का वरद महाकवि सिद्ध करने के लिये पर्याप्त है। इस ग्रंथ में कृष्ण की बाल-लीला से लेकर उनके गोकुल-त्याग और गोपिकाओं के विरह तक की कथा फुटकर पदों में कही गई है। ये पद मुक्तक के रूप में होते हुये भी एक भाव को पूर्णता तक पहुँचा देते हैं। सभी पद गेय हैं, अतः सूरसागर को हम गीत-काव्य कह सकते हैं। गीत-काव्य में जिस प्रकार छोटे-छोटे रमणीय प्रसंगों को लेकर रचना की जाती है, प्रत्येक पद जिस प्रकार स्वतः पूर्ण तथा निरपेक्ष होता है, कवि के आंतरिक हृदयोद्गार होने के कारण उसमें जैसे कवि की अंतरात्मा झलकती देख पड़ती है, विवरणात्मक कथा-प्रसंगों का बहिष्कार कर तथा क्रोध आदि कठोर और कर्कश भावों का सन्निवेश न कर उसमें जैसे सरसता और मधुरता के साथ कोमलता रहती है, उसी प्रकार सूरसागर

के गेय पदों में उपर्युक्त सभी बातें पाई जाती हैं। यद्यपि कृष्ण की पूरी जीवन-गाथा भी सूरसागर में मिलती है, पर उसमें कथा कहने की प्रवृत्ति बिलकुल नहीं देख पड़ती; केवल प्रेम, विरह आदि विभिन्न भावों की वेगपूर्ण व्यंजना उसमें बड़ी ही सुंदर बन पड़ी है।

सूरसागर में कृष्ण-जन्म से कथा का आरंभ हुआ है। यशोदा के गृह में पहुँचकर कृष्ण धीरे-धीरे बड़े होने लगे। उस काल की उनकी बाल-लीलाओं का जितना विशद वर्णन सूरदास ने किया उतना हिंदी के अन्य किसी कवि ने नहीं किया। कृष्ण अभी कुछ ही महीनों के हैं, माँ का दूध पीते हैं, माँ यह अभिलाषा करती है कि बालक कब बड़ा होगा, कब इसके दो नन्हें नन्हें दाँत जमेंगे, कब वह माँ कहकर पुकारेगा, कब घुटनों के बल घर-भर में रेंगता फिरेगा आदि आदि। माँ बालक को दूध पिलाती है, न पीने पर उसे चोटी बढ़ने का लालच दिखाती है। उसे आकाश के चंद्रमा के लिये रोते देख थाल में पानी भरकर चाँद को बालक के लिये भूमि पर ला देती है। कितना वात्सल्य स्नेह, कितना सूक्ष्म निरीक्षण और कितना वास्तविक वर्णन है। इस प्रकार के असंख्य सूक्ष्म भावों से युक्त अनेक रस-पूर्ण पद कहे गये हैं। कृष्ण कुछ बड़े होते हैं। मणि-खंभों में अपना प्रतिबिंब देखकर प्रसन्न होते और मचलते हैं। घर की देहली नहीं लाँघ पाते। सब कुछ सत्य है और आनंदप्रद है। कृष्ण और बड़े होते हैं, वे घर से बाहर जाते, गोप सखाओं के साथ खेलते-कूदते और बाल्य चापल्य प्रदर्शित करते हैं। उनके माखन-चोरी आदि प्रसंगों में गोपिकाओं के प्रेम की व्यंजना भरी पड़ी है। गोपियाँ बाहर

से यशोदा के पास उपालंभ आदि लाती हैं, पर हृदय से वे कृष्ण की लीलाओं पर मुग्ध हैं। प्रेम का यह अंकुर बड़ी ही शुद्ध परिस्थिति में देख पड़ता है। कृष्ण की यह किशोरावस्था है, कलुष या वासना का नाम भी नहीं है। शुद्ध स्नेह है। आगे चलकर कृष्ण सारे ब्रज-मंडल में सबके स्नेह भाजन बन जाते हैं। उनका गोचारण उन्हें मनुष्यों के परिमित क्षेत्र से ऊपर उठाकर पशुओं के जगत् तक पहुँचा देता है। वंशीवट और यमुना-कुंजों की रमणीक स्थली में कृष्ण की जो सुंदर मूर्ति गोप-गोपिकाओं के साथ मुरली बजाते और स्नेह-लीला करते अंकित की गई है, वैसी सुषमा का चित्रण करने का सौभाग्य संभवतः संसार के किसी अन्य कवि को नहीं मिला। ब्रज-मंडल की यह महिमा अपार है। कृष्ण का ब्रज-निवास स्वर्ग को भी ईर्षालु करने की क्षमता रखता है।

गोपिकाओं का स्नेह बढ़ता है। वे कृष्ण के साथ रास-लीला में संमिलित होती हैं, अनेक उत्सव मनाती हैं। प्रेममयी गोपिकाओं का यह आचरण बड़ा ही रमणीय है। उसमें कहीं से अस्वाभाविकता नहीं आ सकी। कोई कृष्ण की मुरली चुराती, कोई उन्हें अबीर लगाती और कोई चोली पहनाती है। कृष्ण भी किसी की वेणी गूथते, किसी की आँखें मूँद लेते और किसी को कदम के तले वंसी बजाकर सुनाते हैं। एकाध बार उन्हें लज्जित करने की इच्छा से चीर-हरण भी करते हैं। गोपी-कृष्ण की यह संयोग-लीला भक्तों का सर्वस्व है।

संयोग के उपरांत वियोग होता है। कृष्ण वृंदावन छोड़कर मथुरा चले जाते हैं। वहाँ राजकार्यों में संलग्न होजाने के

कारण प्यारी गोपियों को भूल-से जाते हैं। गोपिकाएँ विरह में व्याकुल नित्य-प्रति उनके आने की प्रीतक्षा में दिन काटती हैं। कृष्ण नहीं आते। गोपियों के भाग्य का यह व्यंग्य उन्हें कुछ देर के लिये विचलित कर देता है। पर ऊधो के ज्ञानोपदेश वे स्वीकार नहीं करतीं। कृष्ण की साकार अनंत सौंदर्यशालिनी मूर्ति उनके हृदय-पटल पर अमिट अंकित है। कृष्ण चाहे जहाँ रहें, वे उन्हें भूल नहीं सकतीं। यह अनंत प्रेम का दिव्य संदेश भक्तों के हृदय का दृढ़ अवलंब है।

इसी कथानक के बीच कृष्ण के लोक-रक्षक स्वरूप की व्यंजना करते हुए उनमें असीम शक्ति की प्रतिष्ठा की गई है। थोड़ी आयु में ही वे पूतना जैसी महाकाय राक्षसी का बध कर डालते हैं। आगे चलकर केशी, बकासुर आदि दैत्यों के वध और कालीय दमन आदि प्रसंगों को लाकर कृष्ण के बल और वीरता का प्रदर्शन किया गया है। परंतु हमको यह स्वीकार करना पड़ता है कि सूरदास ने ऐसे वर्णनों की ओर यथोचित ध्यान नहीं दिया है। सूरदास के कृष्ण महाभारत के कृष्ण की भाँति नीतिज्ञ और पराक्रमी नहीं हैं; वे केवल प्रेम के प्रतीक और सौंदर्य की मूर्ति हैं।

कृष्ण के शील का भी थोड़ा-बहुत आभास सूर ने दिया है। माता यशोदा जब उन्हें दंड देती हैं, तब वे रोते-कलपते हुए उसे स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार जब गोचारण के समय उनके लिये छाक आती है, तब वे अकेले ही नहीं खाते, सब को बाँटकर खाते हैं और कभी किसी का जूठा लेकर भी खा लेते हैं। बड़े भाई बलदेव के प्रति भी उनका संमान्य भाव

बराबर बना रहा है। यह सब होते हुए भी यह कहना पड़ता है कि सूरदास में कृष्ण की प्रेममयी मूर्ति की ही प्रधानता है, रामचरित-मानस की भाँति उसमें लोकादर्श की ओर ध्यान नहीं दिया गया।

सूरदास ने फुटकर पदों में राम-कथा भी कही है; पर वह वैसी ही बन पड़ी है, जैसे तुलसी की कृष्ण-गीतावली। इसके अतिरिक्त उनके कुछ दृष्टि-कूट और कूट पद भी हैं। जिनकी क्लिष्टता का परिहार विशेषज्ञ ही कर सकते हैं। काव्य की दृष्टि से कूटों की गणना निम्न श्रेणी में होगी। सूरदास की कीर्ति को अमर कर देने और हिंदी-कविता में उन्हें उच्चासन प्रदान करने के लिये उनका बृहदाकार ग्रंथ सूरसागर ही पर्याप्त है। सूरसागर हिंदी की अपने ढंग की अनुपम पुस्तक है। शृंगार और वात्सल्य का जैसा सरस और निर्मल स्रोत इसमें बहा है वैसा अन्यत्र नहीं देख पड़ता। सूक्ष्मातिसूक्ष्म भावों तक सूर की पहुँच है, साथ ही जीवन का सरल अकृत्रिम प्रवाह भी उनकी रचनाओं में दर्शनीय है। यह ठीक है कि लोक के संबंध में गंभीर व्याख्याएँ सूरदास ने अधिक नहीं कीं, पर मनुष्य-जीवन में कोमलता, सरलता और सरसता भी उतनी ही प्रयोजनीय है, जितनी गंभीरता। तत्कालीन स्थिति को देखते हुए तो सूरदास का उद्योग और भी स्तुत्य है। परंतु उनकी कृति तत्कालीन स्थिति से संबंध रखती हुई भी, सर्वकालीन और चिरंतन है। उनकी उत्कट कृष्ण-भक्ति ने उनकी सारी रचनाओं में जो रमणीयता भर दी है, वह अतुलनीय है। उनमें नवोन्मेषशालिनी अद्भुत प्रतिभा है। उनकी पवित्र वाणी में जो अनूठी उक्तियाँ आप

से आप आकर मिल गई हैं, अन्य कवि उनकी जूठन से ही संतोष कर सकते हैं। सूरदास हिंदी के अन्यतम कवि हैं। उनके जोड़ का कवि गोस्वामी तुलसीदास को छोड़कर दूसरा नहीं है। इन दोनों महाकवियों में कौन बड़ा है, यह निश्चय-पूर्वक कह सकना सरल काम नहीं। भाषा पर अवश्य तुलसीदास का अधिकार अधिक व्यापक था। सूरदास ने अधिकतर व्रज की चलती भाषा का ही प्रयोग किया है। तुलसी ने व्रज और अवधी दोनों का प्रयोग किया है और संस्कृत का पुट देकर उनको पूर्ण साहित्यिक भाषा बना दिया है। परंतु भाषा को हम काव्य-समीक्षा में अधिक महत्त्व नहीं देते। हमें भावों की तीव्रता और व्यापकता पर विचार करना होगा। तुलसी ने रामचरित का आश्रय लेकर जीवन की अनेक परिस्थितियों तक अपनी पहुँच दिखलाई है। सूरदास के कृष्णचरित्र में उतनी व्यापकता नहीं। इस दृष्टि से तुलसी सूर से ऊँचे ठहरते हैं, परंतु दोनों की वाणी में पूत भावनाएँ एकसी हैं। मधुरता सूर में तुलसी से अधिक है। जीवन के अपेक्षाकृत संकीर्ण क्षेत्र को लेकर उसमें अपनी प्रतिभा का पूर्ण चमत्कार दिखा देने में सूर की सफलता अद्वितीय है। सूक्ष्मदर्शिता में भी सूर अपना जोड़ नहीं रखते। तुलसी का क्षेत्र सूर की अपेक्षा विस्तृत है, लोक-कल्याण की दृष्टि से भी उनकी रचनाएँ अधिक शक्तिशालिनी और महत्त्वपूर्ण हैं, पर शुद्ध कवित्व की दृष्टि से दोनों का समान अधिकार है। हम तुलसी को हिंदी का सर्वश्रेष्ठ कवि मानते हैं, पर सूरदास के संबंध में कहे गए निम्नांकित दोहे को हम अनुचित नहीं समझते—

सूर सूर तुलसी ससी, उडगन केसवदास।
अब के कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकाश॥

—श्यामसुंदरदास

---

(२२) साहित्य की महत्ता

ज्ञान-राशि के संचित कोश ही का नाम साहित्य है। सब तरह के भावों को प्रकट करने की योग्यता रखनेवाली और निर्दोष होने पर भी यदि कोई भाषा अपना निज का साहित्य नहीं रखती तो वह, रूपवती भिखारनी की तरह, कदापि आदरणीय नहीं हो सकती। उसकी शोभा, उसकी श्रीसंपन्नता, उसकी मान-मर्यादा उसके साहित्य ही पर अवलंबित रहती है। जाति-विशेष के उत्कर्षापकर्ष का, उसके उच्च-नीच भावों का, उसके धार्मिक विचारों और सामाजिक संगठन का, उसके ऐतिहासिक घटनाचक्रों और राजनैतिक स्थितियों का, प्रतिबिंब देखने को यदि कहीं मिल सकता है तो उसके ग्रंथ-साहित्य में मिल सकता है। सामाजिक शक्ति या सजीवता, सामाजिक अशक्ति या निर्जीवता और सामाजिक सभ्यता तथा असभ्यता का निर्णायक एकमात्र साहित्य है। जिस जाति-विशेष में साहित्य का अभाव या उसकी न्यूनता आपको देख पड़े, आप निस्संदेह निश्चित समझिए कि वह जाति असभ्य किंवा अपूर्ण सभ्य है। जिस जाति की सामाजिक अवस्था जैसी होती है उसका साहित्य भी वैसा ही होता है। जातियों की क्षमता और सजीवता यदि कहीं प्रत्यक्ष देखने को मिल सकती है

तो उनके साहित्य-रूपी आईने ही में मिल सकती है। इस आईने के सामने जाते ही हमें यह तत्काल मालूम हो जाता है कि अमुक जाति की जीवनी-शक्ति इस समय कितनी या कैसी है, और भूतकाल में कितनी और कैसी थी। आप भोजन करना बंद कर दीजिए या कम कर दीजिए, आप का शरीर क्षीण हो जायगा और अचिरात् नाशोन्मुख होने लगेगा। इसी तरह आप साहित्य के रसास्वादन से अपने मस्तिष्क को वंचित कर दीजिए, वह निष्क्रिय होकर धीरे-धीरे किसी काम का न रह जायगा। बात यह है कि शरीर के जिस अंग का जो काम है वह उससे यदि न लिया जाय, तो उसकी वह काम करने की शक्ति नष्ट हुए बिना नहीं रहती। शरीर का खाद्य भोजनीय पदार्थ है और मस्तिष्क का खाद्य साहित्य। अतएव यदि हम अपने मस्तिष्क को निष्क्रिय और कालांतर में निर्जीव सा नहीं कर डालना चाहते तो हमें साहित्य का सतत सेवन करना चाहिए और उसमें नवीनता तथा पौष्टिकता लाने के लिये उसका उत्पादन भी करते जाना चाहिए। पर, याद रखिए, विकृत भोजन से जैसे शरीर रुग्ण होकर बिगड़ जाता है उसी तरह विकृत साहित्य से मस्तिष्क भी विकारग्रस्त होकर रोगी हो जाता है। मस्तिष्क का बलवान् और शक्तिसंपन्न होना अच्छे ही साहित्य पर अवलंबित है। अतएव यह बात निर्भ्रांत है कि मस्तिष्क के यथेष्ट विकास का एकमात्र साधन अच्छा साहित्य है। यदि हमें जीवित रहना है और सभ्यता की दौड़ में अन्य जातियों की बराबरी करना है तो हमें श्रमपूर्वक, बड़े उत्साह से, सत्साहित्य का उत्पादन और प्राचीन साहित्य की रक्षा करनी चाहिए। और यदि

हम अपने मानसिक जीवन की हत्या करके अपनी वर्त्तमान दयनीय दशा में पड़ा रहना ही अच्छा समझते हों तो आज ही साहित्य-निर्माण के आडंबर का विसर्जन कर डालना चाहिए।

आँख उठाकर जरा और देशों तथा और जातियों की ओर तो देखिए। आप देखेंगे कि साहित्य ने वहाँ की सामाजिक और राजकीय स्थितियों में कैसे कैसे परिवर्तन कर डाले हैं। साहित्य ने वहाँ समाज की दशा कुछ की कुछ कर दी है; शासन-प्रबंध में बड़े-बड़े उथल-पुथल कर डाले हैं; यहाँ तक कि अनुदार और धार्मिक भावों को भी जड़ से उखाड़ फेंका है। साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं पाई जाती। योरप में हानिकारिणी धार्मिक रूढ़ियों का उत्पाटन साहित्य ही ने किया है; जातीय स्वातंत्र्य के बीज उसी ने बोए हैं; व्यक्तिगत स्वातंत्र्य के भावों को भी उसी ने पाला-पोसा और बढ़ाया है, पतित देशों का पुनरुत्थान भी उसी ने किया है। पोप की प्रभुता को किसने कम किया है? फ्रांस में प्रजा की सत्ता का उत्पादन और उन्नयन किसने किया है? पादाक्रांत इटली का मस्तक किसने ऊँचा उठाया है? साहित्य ने, साहित्य ने, साहित्य ने। जिस साहित्य में इतनी शक्ति है, जो साहित्य मुर्दों को भी जिंदा करनेवाली संजीवनी औषधि का आकर है, जो साहित्य पतितों का उठानेवाला और उत्थितों के मस्तक को उन्नत करनेवाला है उसके उत्पादन और संवर्धन की चेष्टा जो जाति नहीं करती वह अज्ञानांधकार के गर्त में पड़ी रहकर किसी दिन अपना अस्तित्व ही खो बैठती है। अतएव समर्थ होकर भी जो मनुष्य इतने महत्त्वशाली साहित्य की सेवा और

अभिवृद्धि नहीं करता अथवा उससे अनुराग नहीं रखता वह समाजद्रोही है, वह देशद्रोही है, वह जातिद्रोही है, किं बहुना वह आत्मद्रोही और आत्महंता भी है।

कभी-कभी कोई समृद्ध भाषा अपने ऐश्वर्य के बल पर दूसरी भाषाओं पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेती है, जैसे जर्मनी, रूस और इटली आदि देशों की भाषाओं पर फ्रेंच भाषा ने बहुत समय तक कर लिया था। स्वयं अंगरेजी भाषा भी फ्रेंच और लैटिन भाषाओं के दबाव से नहीं बच सकी। कभी-कभी यह दशा राजनैतिक प्रभुत्व के कारण भी उपस्थित हो जाती है और विजित देशों की भाषाओं को जेता जाति की भाषा दबा लेती है। तब उनके साहित्य का उत्पादन यदि बंद नहीं हो जाता तो उसकी वृद्धि की गति मंद जरूर पड़ जाती है। यह अस्वाभाविक दबाव सदा नहीं बना रहता। इस प्रकार की दबी या अधःपतित भाषाएँ बोलनेवाले जब होश में आते हैं तब वे इस अनैसर्गिक आच्छादन को दूर फेंक देते हैं। जर्मनी, रूस, इटली और स्वयं इंगलैंड चिर काल तक फ्रेंच और लैटिन भाषाओं के मायाजाल में फँसे थे, पर बहुत समय हुआ, उस जाल को उन्होंने तोड़ डाला। अब वे अपनी ही भाषा के साहित्य की अभिवृद्धि करते हैं; कभी भूलकर भी विदेशी भाषाओं में ग्रंथ-रचना करने का विचार नहीं करते। बात यह है कि अपनी भाषा का साहित्य ही जाति और स्वदेश की उन्नति का साधक है। विदेशी भाषा का चूड़ांत ज्ञान प्राप्त कर लेने और उसमें महत्त्वपूर्ण ग्रंथ-रचना करने पर भी विशेष सफलता नहीं प्राप्त हो सकती और अपने देश को विशेष लाभ नहीं पहुँच सकता। अपनी माँ को निःसहाय, निरुपाय और

निर्धन दशा में छोड़कर जो मनुष्य दूसरे की माँ की सेवा-शुश्रूषा में रत होता है उस अधम की कृतघ्नता का क्या प्रायश्चित्त होना चाहिए, इसका निर्णय कोई मनु, याज्ञवल्क्य या आपस्तंब ही कर सकता है।

मेरा यह मतलब कदापि नहीं कि विदेशी भाषाएँ सीखनी ही न चाहिएँ। नहीं, आवश्यकता, अनुकूलता, अवसर और अवकाश होने पर हमें एक नहीं, अनेक भाषाएँ सीखकर ज्ञानार्जन करना चाहिए; द्वेष किसी भाषा से न करना चाहिए; ज्ञान कहीं भी मिलता हो उसे ग्रहण ही कर लेना चाहिए। परंतु अपनी ही भाषा और उसी के साहित्य को प्रधानता देनी चाहिए; क्योंकि अपना, अपने देश का, अपनी जाति का उपकार और कल्याण अपनी ही भाषा के साहित्य की उन्नति से हो सकता है। ज्ञान, विज्ञान, धर्म और राजनीति की भाषा सदैव लोक-भाषा ही होनी चाहिए। अतएव अपनी भाषा के साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि करना, सभी दृष्टियों से, हमारा परम धर्म्म है।

—महावीरप्रसाद द्विवेदी

(२३) तुलसीदास

हिंदी भाषा की संपूर्ण शक्ति का चमत्कार दिखानेवाले और हिंदी साहित्य को सर्वोच्च आसन पर बैठानेवाले भक्त-शिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास महात्मा रामानंद की शिष्य-परंपरा में थे। अपनी अद्‌भुत प्रतिभा और अलौकिक कवित्व-शक्ति के कारण वे देश और काल की सीमा का उल्लंघन कर सार्वदेशिक और सार्वकालिक हो गये हैं, और आज तीन सौ वर्षों में भी उनकी कीर्ति-श्री कम नहीं हुई, प्रत्युत निरंतर बढ़ती ही जाती है।

गोसाईं-चरित तथा तुलसी-चरित दोनों के अनुसार गोस्वामीजी का जन्म-संवत् १५५४ और स्वर्गवास-संवत् १६८० ठहरता है। यद्यपि गोस्वामीजी का मृत्यु-संवत् निस्संदेह १६८० था पर उनके जन्मकाल के संवत् में डाक्टर ग्रियर्सन ने शंका की है और जनश्रुतियों के आधार पर उसे १५८६ माना है। तुलसीदास युक्तप्रांत के बाँदा ज़िले में राजापुर गाँव के निवासी थे। ये सरयूपारीण ब्राह्मण थे। इनके पिता आत्माराम पत्यौजा के दूबे और इनकी माता हुलसी थीं, जिनका उल्लेख अकबर के दरबार के रहीम खानखाना ने एक प्रसिद्ध दोहे में किया है। लकड़पन में ही इनके माता पिता द्वारा परित्यक्त होने की जन-श्रुति प्रचलित है, जिससे इनके अभुक्त मूल में जन्म लेने की बात की कुछ लोगों ने कल्पना की है। पर बाबा बेणीमाधवदास ने इस घटना का पूरा विवरण देकर सब प्रकार की कल्पना और अनुमान को शांत कर दिया है। बाल्यावस्था में आश्रयहीन इधर-उधर घूमने-फिरने और उसी

समय गुरु द्वारा रामचरित सुनने का उल्लेख गोस्वामीजी की रचनाओं में मिलता है। कहा जाता है कि इनके गुरु बाबा नरहरि थे जिनका स्मरण गोस्वामीजी ने रामचरितमानस के प्रारंभ में किया है। संभवतः उनके ही साथ रहते हुए इन्होंने शास्त्रों का अध्ययन किया। गोस्वामीजी के अध्यापक शेष-सनातन नामक एक विद्वान् महात्मा कहे जाते हैं जो काशी-निवासी थे और महात्मा रामानंद के आश्रम में रहते थे। स्मार्त वैष्णवों से शिक्षा दीक्षा पाकर गोस्वामीजी भी उसी मत के अवलंबी बने। उनका अध्ययन-काल लगभग १५ वर्ष तक रहा। शिक्षा समाप्तकर गोस्वामीजी युवावस्था में घर लौटे, क्योंकि इसी समय उनके विवाह की बात कही जाती है।

गोस्वामीजी के विवाह के संबंध में कुछ शंका की जाती है। शंका का आधार उनका "ब्याह न बरेखी जाती-पाँति न चहत हौं" पद्यांश माना जाता है, परंतु उनके विवाह और विवाहित जीवन के संबंध में जो किंवदंतियाँ प्रचलित हैं और जो कुछ लिखा मिलता है उन पर सहसा अविश्वास नहीं किया जा सकता। गोस्वामीजी का स्त्री-प्रेम प्रसिद्ध है और स्त्री ही के कारण इनके विरक्त होकर भक्त बन जाने की बात भी कही जाती है। स्त्री के अपने मायके चले जाने पर तुलसी-दास का प्रेमविह्वल होकर घोर वर्षा में अपनी ससुराल जाना और वहाँ पत्नी द्वारा फटकारे जाने पर घर छोड़कर चल देना भक्तमाल की टीका और बेणीमाधवदास के चरित से अनुमोदित होता है। यही नहीं, वृद्धावस्था में भ्रमण करते हुए गोस्वामीजी का ससुराल में अपनी चिरवियुक्ता पत्नी से भेंट होने का विवरण भी मिलता है। उस समय स्त्री का साथ

चलने देने का अनुरोध निम्नांकित दोहे में बतलाया जाता है—

खरिया खरी कपूर लौं उचित न पिय तिय त्याग।
कै खरिया मोहि मेलि कै अचल करहु अनुराग॥

स्त्री से विरक्त होकर गोस्वामीजी साधु बन गए और घर छोड़कर देश के अनेक भूभागों और तीर्थों में घूमते रहे। इनका भ्रमण बड़ा विस्तृत था। उत्तर में मानसरोवर और दक्षिण में सेतुबंध रामेश्वर तक की इन्होंने यात्रा की थी। चित्रकूट की रम्य भूमि में इनकी वृत्ति अतिशय रमी थी, जैसा कि उनकी रचनाओं से स्पष्ट हो जाता है। काशी, प्रयाग और अयोध्या इनके स्थायी निवास-स्थान थे जहाँ वे वर्षों रहते और ग्रंथ-रचना करते थे। मथुरा, वृंदावन आदि कृष्ण-तीर्थों की भी इन्होंने यात्रा की थी और यहीं कहीं इनकी "कृष्ण-गीतावली" लिखी गई थी। इसी भ्रमण में गोस्वामीजी ने पचीसों वर्ष लगा दिये थे, और बड़े-बड़े महात्माओं की संगति की थी। कहते हैं कि एक बार जब ये चित्रकूट में थे, तब संवत् १६१६ में महात्मा सूरदास इनसे मिलने आए थे। कवि केशवदास और रहीम खानखाना से भी इनकी भेंट होने की बात प्रचलित है।

अंत में ये काशी में आकर रहे और संवत् १६३१ में अपना प्रसिद्ध ग्रंथ "रामचरित-मानस" लिखने बैठे। उसे इन्होंने लगभग ढाई वर्षों में समाप्त किया। रामचरितमानस का कुछ अंश काशी में लिखा गया है, कुछ अन्यत्र भी। इस ग्रंथ की रचना से इनकी बड़ी ख्याति हुई। उस काल के

प्रसिद्ध विद्वान् और संस्कृतज्ञ मधुसूदन सरस्वती ने इनकी बड़ी प्रशंसा की थी। स्मरण रखना चाहिए कि संस्कृत के विद्वान् उस समय भाषा कविता को हेय समझते थे। ऐसी अवस्था में उनकी प्रशंसा का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। गोस्वामी तुलसीदास को उनके जीवन-काल में जो प्रसिद्धि मिली, वह निरंतर बढ़ती ही गई और अब तो वह सर्वव्यापिनी हो रही है।

रामचरितमानस लिख चुकने के उपरांत गोस्वामीजी आत्मोद्धार की ओर प्रवृत्त हुए। अब तक उन्होंने राम के चरित का चित्रण कर लोक-धर्म की प्रतिष्ठा की ओर विशेष ध्यान दिया था। अब वे साधना के क्षेत्र में आकर आत्मनिवेदन की ओर खिंचे। उनकी 'विनय-पत्रिका' इसी समय की रचना है। भक्त का दैन्य और आत्मग्लानि दिखाकर, प्रभु की क्षमता और क्षमाशीलता का चित्र अपने हृदय-पटल पर अंकित कर तथा भक्त और प्रभु के अविच्छिन्न संबंध पर जोर देकर गोस्वामीजी ने विनय-पत्रिका को भक्तों का प्रिय ग्रंथ बना दिया। यद्यपि उनके उपास्य-देव राम थे, तथापि पत्रिका में गणेश और शिव आदि की वंदना कर एक ओर गोस्वामीजी ने लौकिक पद्धति का अनुसरण किया है और दूसरी ओर अपने उदार हृदय का परिचय दिया है। उत्तर भारत में कट्टरपन की शृंखला को शिथिल कर धार्मिक उदारता का प्रचार करनेवालों में गोस्वामीजी अग्रणी हैं। ऐसी जनश्रुति है कि विनय-पत्रिका की रचना गोस्वामीजी ने काशी के गोपाल-मंदिर में की थी।

गोस्वामीजी की मृत्यु काशी में संवत् १६८० में हुई थी। काशी में उस समय महामारी का प्रकोप था और तुलसीदास भी उससे आक्रांत हुए थे। प्लेग उन्हें हो गया था पर कहा जाता है कि महावीरजी की वंदना करने से उनकी बीमारी जाती रही थी। परंतु वे इसके उपरांत अधिक दिन जीवित नहीं रहे। ऐसा जान पड़ता है कि इस रोग ने उनके वृद्ध शरीर को जीर्ण-शीर्ण कर दिया था। मृत्यु-तिथि के संबंध में अब तक कुछ मतविभेद था। अनुप्रासपूरित इस दोहे के अनुसार—

संबत सोरह सौ असी, असी गंग के तीर।
सावन सुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यो शरीर॥

परंतु वेणीमाधवदास के गुसाईं-चरित में उनकी मृत्यु-तिथि संवत् १६८० की श्रावण श्यामा तीज, शनिवार लिखी हुई है। अनुसंधान करने पर यह तिथि ठीक भी ठहरी; क्योंकि एक तो तीज के दिन शनिवार का होना ज्योतिष की गणना से ठीक उतरा; और दूसरे गोस्वामीजी के घनिष्ठ मित्र टोडर के वंश में तुलसीदासजी की मृत्यु-तिथि के दिन एक सीधा देने की परिपाटी अब तक चली आती है और वह सीधा श्रावण के कृष्ण-पक्ष में तृतीया के दिन दिया जाता है "सावन सुक्ला सप्तमी" को नहीं।

महाकवि तुलसीदास का जो व्यापक-प्रभाव भारतीय जनता पर है, उसका कारण उनकी उदारता, उनकी विलक्षण प्रतिभा तथा उनके उद्गारों की सत्यता आदि तो हैं ही, साथ ही उसका सब से बड़ा कारण है कि उनका विस्तृत अध्ययन और उनकी

सारग्राहिणी प्रवृत्ति। 'नाना पुराण निगमागम संमत" राम-चरितमानस लिखने की बात अन्यथा नहीं है, सत्य है। भारतीय संस्कृति के आधारभूत तत्त्वों को गोस्वामी जी ने विविध शास्त्रों से ग्रहण किया था और समय के अनुरूप उन्हें अभिव्यंजित करके अपनी अपूर्व दूरदर्शिता का परिचय दिया था। यों तो उनके अध्ययन का विस्तार प्रायः अपरिसीम था, परंतु उन्होंने प्रधानतः वाल्मीकि रामायण का आधार लिया है। साथ ही उन पर वैष्णव महात्मा रामानंद की छाया स्पष्ट देख पड़ती है। उनके रामचरितमानस में मध्यकालीन धर्मग्रंथों विशेषतः अध्यात्म-रामायण, योगवाशिष्ठ तथा अद्भुत-रामायण का प्रभाव कम नहीं है। भुसुंडि रामायण और हनुमन्नाटक नामक ग्रंथों का ऋण भी गोस्वामीजी को स्वीकार करना पड़ेगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाल्मीकि रामायण की कथा लेकर उसमें मध्यकालीन धर्म-ग्रंथों के तत्वों का समावेश कर साथ ही अपनी उदार बुद्धि और प्रतिभा से अद्भुत चमत्कार उत्पन्न कर उन्होंने जिस अनमोल साहित्य का सृजन किया, वह उनकी सारग्राहिणी प्रवृत्ति के साथ ही उनकी प्रगाढ़ मौलिकता का भी परिचायक है।

गोस्वामीजी की समस्त रचनाओं में उनका रामचरितमानस ही सर्वश्रेष्ठ रचना है और उसका प्रचार उत्तर भारत में घर-घर है। गोस्वामीजी का स्थायित्व और गौरव इसी पर सब से अधिक अवलंबित है। रामचरितमानस करोड़ों भारतीयों का एक-मात्र धर्म-ग्रंथ है। जिस प्रकार संस्कृत साहित्य में वेद, उपनिषद् तथा गीता आदि पूज्य दृष्टि से देखे

जाते हैं, उसी प्रकार आज संस्कृत का लेशमात्र ज्ञान न रखनेवाली जनता भी करोड़ों की संख्या में रामचरितमानस को पढ़ती और वेद आदि की ही भाँति उसका संमान करती है। इस कथन का यह तात्पर्य नहीं कि गोस्वामीजी के अन्य ग्रंथ निम्नकोटि के हैं। गोस्वामीजी की प्रतिभा सब में समान रूप से लक्षित होती है, पर रामचरितमानस की प्रधानता अनिवार्य है। गोस्वामीजी ने हिंदू धर्म का सच्चा स्वरूप राम के चरित्र में अंतर्निहित कर दिया है। धर्म और समाज की कैसी व्यवस्था होनी चाहिए, राजा-प्रजा, ऊँच नीच, द्विज-शूद्र आदि सामाजिक सूत्रों के साथ माता-पिता, गुरु-भाई आदि पारिवारिक संबंधों का कैसा निर्वाह होना चाहिए आदि जीवन के सरलतम और जटिलतम प्रश्नों का बड़ा ही विशद विवेचन इस ग्रंथ में मिलता है। हिंदुओं के सब देवता, उनकी सब रीति-नीति, वर्ण-आश्रम व्यवस्था तुलसीदासजी को सब स्वीकार हैं। शिव उनके लिए उतने ही पूज्य हैं जितने स्वयं राम। वे भक्त होते हुए भी ज्ञानमार्ग के अद्वैतवाद पर आस्था रखते हैं। संक्षेप में वे व्यापक हिंदू धर्म के संकलित संस्करण हैं और उनके रामचरितमानस में उनका वह रूप बड़ी ही मार्मिकता से व्यक्त हुआ है। उनकी उत्कट रामभक्ति ने उन्हें इतने ऊँचे उठा दिया है कि क्या कवित्व की दृष्टि से और क्या धार्मिक दृष्टि से रामचरितमानस को किसी अलौकिक पुरुष की अलौकिक कृति मानकर आनंदमग्न होकर हम उसके विधि-निषेधों को चुपचाप स्वीकार करते हैं। किसी छोटे भूभाग में नहीं, सारे उत्तर भारत में, स्वल्प संख्या द्वारा नहीं, करोड़ों व्यक्तियों द्वारा आज उनका रामचरितमानस सारी

समस्याओं का समाधान करनेवाला और अनंत कल्याण-कारी माना जाता है। इन्हीं कारणों से उसकी प्रधानता है।

गोस्वामीजी के रामचरितमानस और विनय-पत्रिका के अतिरिक्त दोहावली, कवितावली, गीतावली, रामाज्ञा प्रश्न आदि बड़े ग्रंथ तथा बरवै रामायण, रामलला नहछू, कृष्ण-गीतावली, वैराग्यसंदीपनी, पार्वती मंगल और जानकी मंगल छोटी रचनाएँ प्रसिद्ध हैं। उनकी बनाई अन्य पुस्तकों का नामोल्लेख शिवसिंहसरोज में किया गया है परंतु उनमें से कुछ तो अप्राप्य हैं और कुछ उनके उपर्युक्त ग्रंथों में संमिलित हो गई हैं तथा कुछ संदिग्ध हैं। साधारणतः ये ही ग्रंथ गोस्वामीजी रचित निर्विवाद माने जाते हैं। बाबा बेणी-माधवदास ने गोस्वामीजी की "रामसतसई" का भी उल्लेख किया है। कुछ लोगों का कहना है कि उसकी रचना गोस्वामीजी की अन्य कृतियों के अनुकूल नहीं है; क्योंकि उसमें अनेक दोहे क्लिष्ट और पहेली आदि के रूप में आए हैं जो चमत्कारवादी कवियों को ही प्रिय हो सकते हैं, गोस्वामी तुलसीदास जैसे सच्चे कलामर्मज्ञों को नहीं। फिर भी बेणीमाधवदास का साक्ष्य एकदम अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता।

कहा जाता है कि गोस्वामी तुलसीदास ने नर-काव्य नहीं किया। केवल एक स्थान पर अपने काशी-वासी मित्र टोडर की प्रशंसा में दो-चार दोहे कहे हैं, अन्यत्र सर्वत्र अपने उपास्य-देव राम की ही महिमा गाई है और राम की कृपा से गौरवान्वित व्यक्तियों का रामकथा के प्रसंग में नाम लिया है।

"कीन्हे प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना" का पद इस तथ्य की ओर संकेत करता है। यद्यपि गोस्वामी जी ने किसी विशेष मनुष्य की प्रशंसा नहीं की है और अधिकतर अपनी वाणी का उपयोग राम-गुण-कीर्तन में ही किया है, पर रामचरित के भीतर मानवता के जो उदात्त आदर्श फूट निकले हैं वे मनुष्य-मात्र के लिए कल्याणकर हैं। यही नहीं, रामचरित के बाहर जाकर भी उन्होंने मानव समाज के लिए हितकर पथ का निर्देश किया है। उदाहरणार्थ दोहावली में उन्होंने सच्चे प्रेम की जो आभा चातक और घन के प्रेम में दिखलाई है, अलोकोपयोगी उच्छृंखलता का जो खंडन साखी-शब्द-दोहाकारों की निंदा करके किया है, रामचरितमानस में मर्यादावाद की जैसी सुंदर पुष्टि शिष्य की गुरु की अवहेलना को दंडित करके की है, रामराज्य का वर्णन करके जो उदात्त आदर्श रखा है उनमें और ऐसे ही अनेक प्रसंगों में गोस्वामीजी की मनुष्य-समाज के प्रति हितकामना स्पष्टतः झलकती देखी जाती है। उनके अमर काव्यों में मानवता के चिरंतन आदर्श भरे पड़े हैं।

यह सब होते हुए भी तुलसीदासजी ने जो कुछ लिखा है, स्वांतःसुखाय लिखा है। उपदेश देने की अभिलाषा से अथवा कवित्व-प्रदर्शन की कामना से जो कविता की जाती है, उसमें आत्मा की प्रेरणा न होने के कारण स्थायित्व नहीं होता। कला का जो उत्कर्ष हृदय से सीधी निकली हुई रचनाओं में होता है वह अन्यत्र मिलना असंभव है। गोस्वामीजी की यह विशेषता उन्हें हिंदी कविता के शीर्षासन पर ला रखती है। एक ओर तो वे काव्य-चमत्कार का भद्दा प्रदर्शन करनेवाले

केशव आदि से सहज में ही ऊपर आ जाते हैं और दूसरी ओर उपदेशों का सहारा लेनेवाले कबीर आदि भी उनके सामने नहीं ठहर पाते। कवित्व की दृष्टि से जायसी का क्षेत्र तुलसी की अपेक्षा अधिक संकुचित है और सूरदास के उद्गार सत्य और सबल होते हुए भी उतने व्यापक नहीं हैं। इस प्रकार केवल कविता की दृष्टि से ही तुलसी हिंदी के अद्वितीय कवि ठहरते हैं। इसके साथ ही जब हम भाषा पर उनके अधिकार तथा जनता पर उनके उपकार की तुलना अन्य कवियों से करते हैं तब गोस्वामीजी की अनुपम महत्ता का साक्षात्कार स्पष्ट रीति से हो जाता है।

गोस्वामीजी की रचनाओं का महत्त्व उनमें व्यंजित भावों की विशदता और व्यापकता से ही नहीं, उनकी मौलिक उद्भावनाओं तथा चमत्कारिक वर्णनों से भी है। यद्यपि रामायण की कथा उन्हें वाल्मीकि से बनी बनाई मिल गई थी, परंतु उसमें भी गोस्वामीजी ने यथोचित परिवर्तन किये हैं। हनुमान के सीता की खोज में लंका पहुँचने की कथा तो वाल्मीकि रामायण में भी है; परंतु सीताजी की शोकविह्वल अवस्था में उनका अशोक के ऊपर से अँगूठी गिराना और सीता का उसे अंगार समझकर उठा लेना गोस्वामीजी की उद्भावना है। ऐसे ही अन्यत्र भी अन्य चमत्कार-पूर्ण परिवर्तन हैं। गोस्वामीजी के सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की अद्भुत क्षमता रामचरितमानस की मंथरा में देख पड़ती है। भरत का आदर्श चरित्र खड़ा करने और कैकेयी की आत्मग्लानि दिखाने में गोस्वामीजी को स्वतंत्र पथ का अनुसरण करना पड़ा है। सुग्रीव और विभीषण के चरित्रों से जितनी सहानुभूति उन्हें

है, उतनी वाल्मीकि को नहीं। प्रकृति के रम्य रूपों का चित्र खड़ा करने की क्षमता हिंदी के कवियों में बहुत कम है, परंतु गोस्वामीजी ने चित्रकूट वर्णन में संस्कृत कवियों से टक्कर ली है। इतना ही नहीं, भावों के अनुरूप भाषा लिखने तथा प्रबंध में संबंध-निर्वाह और चरित्र-चित्रण का निरंतर ध्यान रखने में वे अपनी समता नहीं रखते। इस प्रकार हम देखते हैं कि वाल्मीकि रामायण के आधार पर जो ग्रंथ अन्य प्रांतीय भाषाओं में लिखे गए, उनमें और गोस्वामीजी की रचनाओं में महान् अंतर है। उत्कट राम-भक्ति के कारण उनके रामचरितमानस में उच्च सदाचार का जो एक प्रवाह-सा बहा है, वह तो वाल्मीकि रामायण से भी अधिक गंभीर और पूत है।

जायसी ने जिस प्रकार दोहा-चौपाई छंदों में अवधि भाषा का आश्रय लेकर अपनी पद्मावत लिखी है, कुछ वर्षों के उपरांत गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी उसी अवधी भाषा में उन्हीं दोहा-चौपाई छंदों में अपनी प्रसिद्ध रामायण की रचना की। यहाँ यह कह देना उचित होगा कि जायसी संस्कृतज्ञ नहीं थे; अतः उनकी भाषा ग्रामीण अवधी थी, उसमें साहित्यिकता की छाप नहीं थी। परंतु गोस्वामीजी संस्कृतज्ञ और शास्त्रज्ञ थे; अतः उन्होंने कुछ स्थानों पर ठेठ अवधी का प्रयोग करते हुए भी अधिकांश स्थलों में संस्कृत-मिश्रित अवधी का व्यवहार किया है। इससे इनके रामचरितमानस में प्रसंगानुसार उपर्युक्त दोनों प्रकार की भाषाओं का माधुर्य दिखाई देता है। यह तो हुई उनके रामचरितमानस की बात। उनकी विनय-पत्रिका, गीतावली और कवितावली आदि में व्रजभाषा व्यवहृत हुई है। शौरसेनी अपभ्रंश की उत्तराधिकारिणी यह व्रजभाषा

विकसित होकर गोस्वामीजी के समय तक पूर्णतया साहित्य की भाषा बन चुकी थी, क्योंकि सूरदास आदि भक्त कवियों की विस्तृत रचनाएँ इसमें हो रही थीं। गोस्वामीजी ने ब्रजभाषा में भी अपनी संस्कृत पदावली का संमिश्रण किया और उसे उपयुक्त प्रौढ़ता प्रदान की। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जहाँ एक ओर तो जायसी और सूर का भाषा-ज्ञान क्रमशः अवधी और ब्रजभाषा तक ही परिमित है, वहाँ गोस्वामीजी का इन दोनों भाषाओं पर समान अधिकार है और उन दोनों में संस्कृत के समावेश से नवीन चमत्कार उत्पन्न कर देने की क्षमता तो अकेले उन्हीं में है।

गोस्वामी तुलसीदास के विभिन्न ग्रंथों में जिस प्रकार भाषा-भेद है, उसी प्रकार छंद-भेद भी है। रामचरितमानस में उन्होंने जायसी की तरह दोहे-चौपाइयों का क्रम रक्खा है, परंतु साथ ही हरिगीतिका आदि लंबे तथा सोरठा आदि छोटे छंदों का भी बीच-बीच में व्यवहार कर उन्होंने छंद-परिवर्तन की ओर ध्यान रक्खा है। रामचरित के लंका-कांड में जो युद्ध-वर्णन है उसमें चंद आदि वीर कवियों के छंद भी लाए गए हैं। कवितावली में सवैया और कवित्त छंदों में कथा कही गई है जो भाटों की परंपरा के अनुसार है। कवितावली में राजा राम की राज्यश्री का जो विशद वर्णन है, उसके अनुकूल कवित्त छंद का व्यवहार उचित ही हुआ है। विनय-पत्रिका तथा गीतावली आदि में ब्रज-भाषा के सगुणोपासक संत महात्माओं के गीतों की प्रणाली स्वीकृत की गई है। गीत-काव्य का सृजन पाश्चात्य देशों में संगीत शास्त्र के अनुसार हुआ है। वहाँ की लीरिक कविता आरंभ में

वीणा के साथ गाई जाती थी। ठीक उसी प्रकार हिंदी के गीत-काव्यों में भी संगीत के राग-रागिनियों को ग्रहण किया गया है। दोहावली, बरवै रामायण आदि में तुलसीदासजी ने छोटे छंदों में नीति आदि के उपदेश दिए हैं अथवा अलंकारों की योजना के साथ फुटकर भावव्यंजना की है। सारांश यह है कि गोस्वामीजी ने अनेक शैलियों में अपने ग्रंथों की रचना की हैं और आवश्यकतानुसार उनमें विविध छंदों का प्रयोग किया है। इस कार्य में गोस्वामीजी की सफलता विस्मय-कारिणी है। हिंदी की जो व्यापक क्षमता और जो प्रचुर अभिव्यंजना शक्ति गोस्वामीजी की रचनाओं में देख पड़ती है वह अभूतपूर्व है। उनकी रचनाओं से हिंदी में पूर्ण पौढ़ता की प्रतिष्ठा हुई।

तुलसीदास के महत्त्व का ठीक ठीक अनुमान करने के लिए उनकी कृतियों की तीन प्रधान दृष्टियो से परीक्षा करनी पड़ेगी। भाषा की दृष्टि से, साहित्योत्कर्ष की दृष्टि से और संस्कृति के ग्रहण और व्यंजन की दृष्टि से। इन तीनों दृष्टियों से उन पर विचार करने का प्रयत्न ऊपर किया गया है, जिसके परिणामस्वरूप हम उपसंहार में कुछ बातों का स्पष्टतः उल्लेख कर सकते हैं। उदाहरणार्थ हम यह कह सकते हैं कि गोस्वामीजी का व्रज और अवधी दोनों भाषाओं पर समान अधिकार था और दोनों में ही संस्कृत की छटा उनकी कृतियों में दर्शनीय हुई है। छंदों और अलंकारों का समावेश भी पूरी सफलता के साथ किया गया है। साहित्यिक दृष्टि से रामचरितमानस के जोड़ का दूसरा ग्रंथ हिंदी में नहीं देख पड़ता। क्या प्रबंध कल्पना, क्या संबंध-निर्वाह, क्या वस्तु

एवं भाव-व्यंजना, सभी उच्च कोटि की हुई हैं। पात्रों के चरित्र-चित्रण में सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय मिलता है और प्रकृति-वर्णन में हिंदी के कवि उनकी बराबरी नहीं कर सकते। अंतिम प्रश्न संस्कृति का है। गोस्वामीजी ने देश के परंपरागत विचारों और आदर्शों को बहुत अध्ययन करके ग्रहण किया है और बड़ी सावधानी से उनकी रक्षा की है। उनके ग्रंथ आज जो देश की इतनी असंख्य जनता के लिए धर्म-ग्रंथ का काम दे रहे हैं, उसका कारण यही है। गोस्वामीजी हिंदू जाति, हिंदू धर्म और हिंदू संस्कृति को अक्षुण्ण रखनेवाले हमारे प्रतिनिधि कवि हैं। उनकी यशःप्रशस्ति अमिट अक्षरों में प्रत्येक हिंदी भाषा-भाषी के हृदय-पटल पर अनंत काल तक अंकित रहेगी इसमें कुछ भी संदेह नहीं।

यह एक साधारण नियम है कि साहित्य के विकास की परंपरा क्रम-बद्ध होती है। इसमें कार्य-कारण का संबंध प्रायः ढूँढा और पाया जाता है। एक कालविशेष के कवियों को यदि हम फल-स्वरूप मान लें, तो उनके उत्तरवर्ती ग्रंथकारों को फूल-स्वरूप मानना होगा। फिर ये फूल-स्वरूप ग्रंथकार समय पाकर अपने पूर्ववर्ती ग्रंथकारों के फल-स्वरूप और उत्तरवर्ती ग्रंथकारों के फूल-स्वरूप होंगे। इस प्रकार यह क्रम सर्वथा चला चलेगा और समस्त साहित्य एक लड़ी के समान होगा जिसकी भिन्न भिन्न कड़ियाँ उस साहित्य के काव्यकार होंगे। इस सिद्धांत को सामने रखकर यदि हम तुलसीदासजी के संबंध में विचार करते हैं, तो हमें पूर्ववर्ती काव्यकारों की कृतियों का क्रमशः विकसित रूप तो तुलसीदासजी में देख पड़ता है, पर उनके पश्चात् यह विकास आगे बढ़ता हुआ नहीं जान पड़ता। ऐसा

भास होने लगता है कि तुलसीदासजी में हिंदी साहित्य का पूर्ण विकास संपन्न हो गया और उनके अनंतर फिर क्रमोन्नत विकास की परंपरा बंद हो गई तथा उसकी प्रगति ह्रास की ओर उन्मुख हुई। सच बात तो यह है कि गोस्वामी तुलसीदासजी में हिंदी कविता की सर्वतोमुखी उन्नति हुई, वह उनकी कृतियों में चरम सीमा तक पहुँच गई, उसके आगे फिर कुछ करने को नहीं रह गया। इसमें गोस्वामीजी की उत्कृष्ट योग्यता और प्रतिभा देख पड़ती है। गोस्वामीजी के पीछे उनकी नकल करनेवाले तो बहुत हुए, पर ऐसा एक भी न हुआ जो उनसे बढ़कर हो या कम-से-कम उनकी समकक्षता कर सकता हो। हिंदी कविता के कीर्ति-मंदिर में गोस्वामीजी का स्थान सब से ऊँचा और सबसे विशिष्ट है। उस स्थान के बराबर का स्थान पाने का कोई अधिकारी अब तक उत्पन्न नहीं हुआ है। इस अवस्था में हम को गोस्वामीजी को हिंदी-कवियों की रत्न-माला का सुमेर मानकर ही पूर्व-कथित साहित्य-विकास के सिद्धांत की समीक्षा करनी पड़ेगी।

—श्यामसुंदरदास

(२४) बेतार का तार
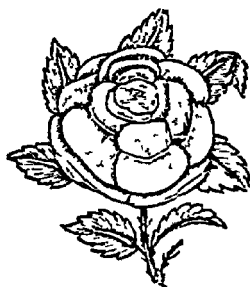
यूरोप में बिजली का सर्वप्रथम आविष्कार इटली में हुआ है। यह बात ईसा के जन्म से पूर्व की है। इस बीच में कई सदियाँ बीत गईं और बिजली की शक्ति के कई नये प्रयोग भी उद्‌भावित किये गये। बिजली की शक्ति से तार से खबर भेजना, गृह, राज-पथ और नगर आदि को आलोकित करना और कल-कारखानों का चलना आदि के कितने ही लोकोपयोगी काम किये जाते हैं। पर बीसवीं सदी के प्रारंभ में उसकी एक अभिनव शक्ति का आविष्कार हुआ है। यह बिना तार के उसकी शक्ति का अद्‌भुत उपयोग है। आधुनिक विज्ञान के इस आविष्कार ने विलक्षणता की हद कर दी है। इसमें एक खूबी यह भी है कि जिस इटली में सर्व-प्रथम बिजली की शक्ति आविष्कृत हुई थी वहीं इस नये आविष्कार का भी सूत्रपात हुआ है। विज्ञानाचार्य मार्कोनी की यह उद्‌भावना है।

मार्कोनी के पहले उन्नीसवीं सदी के शेष भाग में, हेनरी हार्ट्‌ज़ नामक एक जर्मन विज्ञानवेत्ता ने बिजली की शक्ति के कई एक नूतन गुण खोज निकाले थे। बिजली की शक्ति तार में प्रवाहित न होकर भी दूरस्थ किसी वस्तु पर प्रभाव डाल सकती है। यह बात उस समय के अनेक वैज्ञानिकों को मालूम रहने पर भी किसी ने भी उसे सिद्ध कर दिखाने का प्रयत्न न किया। हेनरी हार्ट्‌ज़ ने सबसे पहले इस शक्ति के प्रयोग करने का प्रयत्न किया था। उन्होंने पहले बिजली की धारा के पैदा करनेवाले एक यंत्र का आविष्कार कर उसे दिक्‌सूचक यंत्र से थोड़ी दूर पर तार के एक कुंडलाकृति टुकड़े को एक खंभे

में लटका दिया। इस तार के दोनों मुँह कुछ खुले रक्खे गये। इसके बाद यह दिखाई दिया कि जितनी बार उसका पूर्वोक्त यंत्र बिजली की धारा पैदा करता है उतनी ही बार इस तार के असंबद्ध मुंह के अंतराल में भी बिजली की धारा पैदा हो जाती है। इसके सिवा और भी कई परीक्षाओं से यह सिद्ध कर दिखाया गया कि बिना तार के भी बिजली शून्य में प्रवाहित हो सकती है।

यह भी प्रमाणित हुआ कि वायु से भी अधिक स्वच्छ और हलके एक प्रकार के पदार्थ का स्रोत अनंत भाव से विश्व-ब्रह्मांड में बहता रहता है परंतु वह क्या है यह बात वे निश्चित न कर सके। आधुनिक वैज्ञानिकों ने उसका नाम "ईथर" बताया है। हेनरी हार्ट्ज़ के यंत्र से उत्पन्न होनेवाली बिजली की धारा के पूर्वोक्त तार के मुंह में देने का कारण यह था कि यंत्र में स्फुलिंग के उत्पन्न होने से एक विद्युत्तरंग की सृष्टि होती है. जो ईथर में प्रवाहित हो उस तार के मुख में लटकती है। इस कारण वहाँ भी विद्युत् के स्फुलिंग दिखाई देते हैं। इन विद्युत्-तरंगों की भी गति आलोक-तरंगों की तरह वेगवती होती है। प्रति सेकंड यह एक लाख छियासी हज़ार मील दौड़ती है।

दुर्भाग्यवश शीघ्र ही हेनरी हार्ट्ज़ का देहांत हो गया। वे अपने जीवन काल में केवल यही बात निश्चित कर सके कि विद्युत्तरंग किस पर प्रवाहित होती है। इस बात की ओर उनका ध्यान ही न गया कि तार के बिना भी बिजली की शक्ति से संसार के एक प्रांत से दूसरे प्रांत को मुहूर्त भर में ख़बर

भेजी जा सकती है। मार्कोनी कहते हैं कि जिस दिन उनके मास्टर ने हेनरी हार्ट्ज़ की नूतन आविष्कृत विद्युत्तरंग-संबंधी बातें बतलाईं। उसी दिन मेरे मन में यह धारणा दृढ़ हो गई कि यदि यह आविष्कार सत्य होगा तो मैं एक दिन घर बैठे ही सारे संसार की खबरें मालूम कर लूँगा।

सन् १८९५ में मार्कोनी ने इस विषय की स्वतंत्र परीक्षा आरंभ की। उनकी परीक्षा केवल रसायन-शाला में ही आबद्ध न थी। वे समय-समय पर विद्युत्संबंधी सारी सामग्री लेकर विस्तीर्ण मैदान में चले जाते। वे वहाँ खूब ऊँचे ऊँचे खंभे गाड़ और उन खंभों के ऊपर कुंडलाकृत तार लटका और उसमें आवश्यकतानुसार छोटे बड़े धातुमय विद्युत्-यंत्रों का संनिवेश कर तडित्-प्रवाह को दूर से दूरांतर को भेजने की कोशिश किया करते। इस प्रकार वे साल भर तक परीक्षा करते रहे और उन्होंने अपने प्रयत्न में बहुत कुछ सफलता भी प्राप्त की। इसके बाद वे अपने विद्युत्-यंत्र आदि साथ लेकर इँग्लैंड गये। वहाँ उनके नेतृत्व में एक बेतार की संकेतवाही कंपनी स्थापित हुई।

उन्होंने जब इस बात की घोषणा की कि बिना तार की सहायता के विद्युत्-बल से खबरें बहुत दूर तक भेजी जा सकती हैं तब बहुतेरे लोगों ने इसे कोरी गप्प ही समझा। उन्होंने कार्नवाल के समुद्री किनारे से न्यूफ़ाउंडलैंड को खबर भेजी जिसका उत्तर तत्काल मँगाकर लोगों को दिखा दिया। लोगों ने इतने पर भी पहले विश्वास नहीं किया, किंतु बहुत ही शीघ्र लोगों का अविश्वास दूर हो गया और सारे संसार में मार्कोनी का नाम फैल गया।

२० वीं सदी के प्रारंभ ने विज्ञान के इतिहास में एक नूतन अध्याय का श्रीगणेश किया। सन् १६०१ में ही मार्कोनी की बेतार की तारवर्की अस्तित्व में आ गई थी। इसे अब उन्नतावस्था को पहुँचाने में कई एक वैज्ञानिकों ने घोर परिश्रम किया, और मार्कोनी-प्रणाली के सिवा और भी कई एक नये उपाय उद्भावित किये गये। मार्कोनी-प्रणाली के अनुसार नदी या समुद्र के किनारे खुली जगह में ऊँचे ऊँचे खंभे गाड़कर और प्रत्येक खंभे की चोटी को सूक्ष्म तार के तंतुओं से आच्छादित कर, उस तंतु-जाल को नीचे के कमरे में स्थित विद्युत्तरंगग्राही यंत्र से संयुक्त कर दिया जाता है। आकाश-मंडल में जो तडित्तरंगें प्रवाहित होती रहती हैं वे पूर्वोक्त तार के जाल के तंतु से टकराती हैं। उनके टकराते ही निम्नस्थ यंत्र उन्हें खींच लेता है और सांकेतिक भाषा के रूप में उन्हें रूपांतरित कर देता है। जो तारबाबू वहाँ बैठा रहता है वह उसे प्रचलित भाषा के रूप में लिख लेता है। यह कितनी अद्भुत और आश्चर्य की बात है।

एक बार पलक मारने में जितना समय लगता है उतने ही समय में अमेरिका से इँग्लैंड या इँग्लैंड से जापान तक ख़बर पहुँच जाती है। अमेरिका या आस्ट्रेलिया में किसी विशेष घटना के घटित होने के एक घंटे बाद ही विलायत के अख़बारों में उसकी खबर छप जाती है, यह मनुष्य के बुद्धि-बल का ही प्रताप है। उसकी प्रेरणा से ये नीरव, जड़, ऊँचे-ऊँचे लोहे के खंभे तार-तंतुरूपी अपने हाथ फैलाये हमारे लिए दिग्दिगंतर से ख़बर ला देते हैं।

बेतार-द्वारा खबर भेजने के लिए दो बातों की आवश्यकता

होती है। पहले तो आकाश-मंडल के ईथर-स्रोत में तडित्तरंग पैदा करना और दूसरे उन तरंगों के आघात को प्राप्त करना। तडित्तरंग पैदा करने के लिए बहुत-से नये उपायों के उद्भावित किये जाने पर भी हेनरी हार्ट्ज़ का आविष्कृत स्फुलिंग उद्-गमनकारी यंत्र का ही उपयोग सर्वत्र होता है। उसमें कई विशेष गुण हैं। यह बात अवश्य है कि अब उक्त मूल-यंत्र बहुत तरह से संस्कृत और शक्तिशाली बना लिया गया है। हार्ट्ज़ साहब ने तो केवल उसे कुछ या बहुत तडित्तरंग दूर भेजने के लिए बनाया था। अब तो किसी वायर्लेस स्टेशन में उत्पन्न की हुई तडित्तरंग १२००० मील तक प्रवाहित होती है।

स्थल तो स्थल ही है, अनंत समुद्र के वक्षःस्थल पर तैरनेवाले जहाज़ों में भी बेतार की बिजली से देशों का हाल-चाल नियमित रूप से पहुँचता है और जहाज़ के प्रेस में छप जाता है। सबेरे चाय पीने के साथ ही यात्रियों को उसे अख़-बार में पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हो जाता है। आजकल कई जहाज़ों में आटोमेटिक प्रेस हो गये हैं, जिनमें किसी भी सांके-तिक भाषा में भेजी गई ख़बर अपने आप छप जाती है।

बेतार की बिजली से सांकेतिक भाषा में ख़बर भेजकर मनुष्य आनंदित और विस्मित तो अवश्य हुआ, परंतु उसके विस्मय का तब ठिकाना ही न रहा जब उसने बेतार की बिजली से बात-चीत करने की भी तैयारी की। अब घर बैठे कोई व्योमबिहारी, रेलयात्री अथवा समुद्रयात्री अपने स्त्री-पुत्रादि से आलाप का सुख प्राप्त कर सकता है और इसके लिए बहुत व्यय भी नहीं करना पड़ता है। साधारण गृहस्थ

भी अपने घर में यह यंत्र लगा सकते हैं! इसके लिए कोई विशेष स्थान अथवा विशेष सामग्री की आवश्यकता नहीं पड़ती।

शहर के मकानों में लगी हुई बिजली की बत्ती केवल प्रकाश देने की ही सामर्थ्य नहीं रखती, वरन् एक और अद्भुत शक्ति उसमें संनिहित रहती है। बेतार के टेलीफ़ोन यंत्र में साधारण बिजली की बत्ती की तरह काँच के फ़ानूस से आवृत बिजली के तार-तंतु लगे रहते हैं। वह फ़ानूस देखने में साधारण बिजली-बत्ती के फ़ानूस से कुछ बड़ा रहता है। भेद इतना ही है कि उसके भीतर के तार-तंतु में धातुमय पत्र का एक और टुकड़ा लगा रहता है। इसी बत्ती के भीतर से प्रबल तडित्तरंग प्रवाहित होकर शब्द को दूर दूरांतर में पहुँचा देती है।

तार और धातु-पत्र के संयोग से बिजली की बत्ती का यह आश्चर्य रूपांतर मानव-जाति की एक अद्भुत कीर्ति है। इसे आकाश में बहती हुई बिजली को आकर्षण करने के लिए मार्कोनी के गगनचुंबी खंभों और सुदीर्घ तार-तंतुओं की आवश्यकता नहीं होती। केवल गोलाकार रूप में कई एक तारों को एक लकड़ी के खंभे पर लटका देने से आकाश में प्रवाहित होनेवाली बिजली को उस बिजली-बत्ती से संयुक्त बेतार का टेलीफ़ोन चुंबक के सदृश खींच लेता है।

लकड़ी के खंभे पर लटकते हुए गोलाकृत तारों से इस टेलीफ़ोन का संबंध होना आवश्यक है। यदि वह बिजली की बत्ती से संयुक्त बेतार के टेलीफ़ोन के साथ लकड़ी के फ्रेम में

लपेटे हुए कुछ तार का संग्रह करके मोटर-गाड़ी में रखकर भ्रमण किया जाय तो सैर करते हुए भी शहर की खबरें मालूम की जा सकती हैं। लंदन अथवा न्यूयार्क के बड़े-बड़े नामी लोग, जिनकी डाक सदैव चारों तरफ़ से आती रहती है, अपने मोटर में यह यंत्र लगवा लेते हैं।

बेतार-द्वारा ख़बर के यंत्र से एक और महोपकार सिद्ध होता है। समुद्र के किनारे से आस-पास के जहाज़ों को इस यंत्र के द्वारा यथार्थ समय भेजा जाता है और तदनुसार उनकी घड़ियाँ ठीक कर ली जाती हैं। जहाज़ों को तूफ़ान आदि की भी सूचना इसी यंत्र के द्वारा दे दी जाती है।

—संकलित

---

(२५) पानी से बिजली

वैज्ञानिक नियमानुसार हम एक प्रकार की शक्ति को दूसरे प्रकार की शक्ति में परिवर्तित कर सकते हैं। बिजली एक प्रकार की शक्ति है, इसलिए यदि हमें किसी प्रकार की अन्य शक्ति दे दी जाय तो हम उसका बिजली की शक्ति में परिवर्तन कर सकते हैं। यदि पानी का कुछ समूह किसी उँचाई से गिराया जाय तो वह शक्ति से नीचे गिरता है। उस शक्ति-द्वारा बड़े-बड़े काम हो सकते हैं। जब श्रीगंगा हिमालय की उँचाई से हरिद्वार के निकट मैदान में नीचे आती हैं तब वे अपनी शक्ति से पर्वतों के बड़े-बड़े टुकड़ों को चकनाचूर कर, बालू के रूप में बहाकर; हज़ारों मील दूर तक पहुँचा देती हैं। जितना बड़ा जल का समूह हो और जितनी ही उँचाई

से वह समूह गिरे उतनी ही अधिक उसमें शक्ति होती है। यदि समूह कम हो तो शक्ति की उत्पत्ति के लिए उँचाई अधिक होनी चाहिए अथवा उँचाई कम होने पर समूह अधिक होना चाहिए। यदि समूह और उँचाई दोनों काफ़ी हों तो बात ही क्या है। फिर तो शक्ति खूब ही अधिक होती है, जैसे अमरीका की नियागरा नदी वा मैसूर राज्य में कावेरी नदी। इन दोनों स्थानों पर पानी का समूह भी खूब है और उसके गिरने की उँचाई भी। इस कारण इन स्थानों पर इनके झरने से बड़ी शक्ति उत्पन्न होती है।

नदियों के झरनों से इस प्रकार उत्पन्न होनेवाली शक्ति से किसी न किसी रूप में काम तो आदिकाल से ही लिया जाता रहा है। पहाड़ों पर जानेवाले यात्रियों ने ऐसे झरनों की शक्ति से पनचक्की को चलते हुए देखा होगा। झरने की धारा उँचाई से लाकर एक पहिये के पंखों पर डाली जाती है जिससे पंखों पर आघात होने से पहिया चलता रहता है और इंजन की तरह आटा पीसने का या ऐसा ही कोई अन्य काम करता है। यदि इसी पहिये के धुरे में बिजली की मशीन, जिसे डाइनमो कहते हैं, लगा दी जाय तो वह मशीन तेज़ी से चलकर बिजली पैदा कर देती है। इस तरह पानी की शक्ति बिजली की शक्ति में परिवर्तित हो जाती है। फिर इस बिजली की शक्ति को, तार-द्वारा सैकड़ों मील ले जाकर और उससे बिजली की दूसरी मशीन-मोटर को चलाकर अनेक प्रकार के काम लिये जा सकते हैं।

सर्द और पहाड़ी देशों में नदी के झरनों की शक्ति को बिजली में परिवर्तित कर बड़े-बड़े काम किये जाते हैं। योरप

के नार्वे, स्विट्ज़रलैंड इत्यादि पहाड़ी देशों में इँगलैंड की तरह कोयले की खानें नहीं हैं, जिससे वहाँ कारखाने नहीं चल सकते थे। परंतु अब इन देशों की बड़ी-बड़ी झीलों से झरने नीचे गिराकर और उन झरनों की शक्ति से सस्ती बिजली उत्पन्न कर बड़े-बड़े उपयोगी पदार्थ बनाने के कारखाने चलाते हैं, जिसकी बदौलत वे देश बहुत धनवान् हो रहे हैं।

ठंढे देशों में झरने क़रीब-क़रीब वर्ष में बारह मास जारी रहते हैं, परंतु हमारे गर्म देश में हिमालय के पहाड़ी हिस्सों को छोड़कर झरने गर्मी की ऋतु में या तो बिलकुल ही बंद हो जाते हैं अथवा इतने छोटे और कमज़ोर हो जाते हैं कि उनसे बिजली की शक्ति इन दिनों नहीं उत्पन्न हो सकती। इसलिए हमारे देश में अधिकतर हिमालय के झरनों से अभी तक बिजली की शक्ति उत्पन्न की जाती थी, जहाँ गर्मी के दिनों में भी पहाड़ की चोटी पर बर्फ़ गलने से झरने चलते रहते हैं। ऐसे कारखाने काश्मीर, शिमला, मंसूरी तथा दार्जिलिंग में नगरों की रोशनी के लिए हैं। मैसूर-राज्य में भी कावेरी नदी के एक बड़े झरने से बिजली उत्पन्न करके उस राज्य की सोने की खानों में ले जाते हैं।

हमारे देश के दक्षिण प्रांतों में वर्षा बहुतायत से होती है। वर्षा-ऋतु के चार महीनों में दोसौ इंच से भी अधिक पानी बरस जाता है, जो बड़ी-बड़ी नदियों और नालों के रूप में समुद्र में बहकर चला जाता है। इस पानी से लाभ के साथ-साथ बहाव-द्वारा हानि भी होती है। बंबई के प्रसिद्ध व्यापारी जमशेदजी ताता को अचानक यह बात सूझी कि वर्षाकाल

के इस पानी को बंबई इलाक़े के पर्वतों की घाटी में बंदकर, इनके झरने बनाकर, बिजली की शक्ति पैदा करने का काम क्यों न लिया जाय। इस युक्ति को काम में लाने के विचार में उन्होंने कई वर्ष बिताये और यद्यपि स्वयं वे वर्षा के इस महान जल-समूह को बाँधकर क़ाबू में लाने के पूर्व ही मृत्यु को प्राप्त हुए, किंतु अपने योग्य पुत्रों के लिए वे ऐसा उम्दा मसौदा बनाकर छोड़ गये कि उसके द्वारा आज वास्तव में पूना के समीप पर्वतों पर वर्षा के पानी को बाँधकर और फिर उससे झरने बनाकर बिजली उत्पन्न की जाती है जो ताँबे के तार-द्वारा पचासों मील की दूरी को पार कर बंबई में लाई जाती है। वह बिजली कपड़ों के बड़े-बड़े कारखानों को चलाने के काम में आती है।

इस प्रकार के झरने से उत्पन्न होनेवाली बिजली का पहला कारख़ाना बंबई नगर से ४० मील की दूरी पर पूना की ओर खपोला नामक स्थान मे है। बंबई से पूना को रेल पर जानेवाले यात्री रास्ते में बिजली के तार से लदे हुए बड़े खंभों को देख सकते हैं। लोनावाला नामक स्थान के निकट घाटियों के बीच तीन बड़े-बड़े मज़बूत बाँध, बाँधकर उनमें पानी जमा किया जाता है। इन झीलों को नहर-द्वारा मिलाकर और फिर लोहे के बड़े-बड़े नलों-द्वारा पानी को पहाड़ के नीचे लाकर बिजली की मशीनें चलाई जाती हैं और उनसे बिजली पैदाकर बंबई को ले जाते हैं। इस प्रकार पचास हज़ार घोड़ों की शक्ति उत्पन्न कर उससे बंबई में चालीस बड़े-बड़े कारख़ाने चलाये जाते हैं। बची हुई शक्ति-द्वारा ट्राम चलती है और शहर में रोशनी भी की जाती है। बिजली की इस शक्ति के

कारण बंबई जैसे नगर में, जहाँ कोयला बंगाल की दूर की खानों से लाया जाता था, अब डेढ़ लाख टन कोयले की बचत प्रतिवर्ष होती है। कोयले को लाने के लिए रेल के आठ हज़ार वैगनों की ज़रूरत पड़ती थी, उनकी भी बचत हुई।

—संकलित

---

(२६) सृष्टि की उत्पत्ति

बहुत से लोग यह नहीं जानते होंगे कि पृथ्वी की उत्पत्ति किस प्रकार हुई है और वह किस प्रकार वर्तमान स्थिति तक पहुँची है। सबसे पहले इमैनुअल कांट ने पृथ्वी की उत्पत्ति के संबंध में एक सिद्धांत स्थिर किया था और पीछे से लप्लेस ने बहुत ही विवेचना-पूर्वक उसी सिद्धांत के आधार पर बहुत से नये और अधिक सूक्ष्म सिद्धांत स्थिर किये थे। अधिकांश वैज्ञानिक-जगत् प्रायः उन्हीं सिद्धांतों से सहमत है। अतः यहाँ पहले हम उन्हीं सिद्धांतों का संक्षेप में वर्णन करेंगे।

उन सिद्धांतों के अनुसार आजकल प्रायः यही माना जाता है कि आरंभ में केवल आकाश (Ether) था, जिसका कुछ अंश कुछ समय के उपरांत वाष्प के रूप में परिणत हो गया। इस वाष्प के अलग-अलग समूह आकाश में चक्कर लगाने लगे। उनमें से कोई समूह बड़ा था और कोई छोटा। बड़े समूहों ने कुछ समय में सूर्य का रूप धारण किया और छोटे समूहों ने ग्रहों का। सृष्टि का यह काम अभी तक बराबर जारी है। अब तक आकाश में अनेक ऐसे वाष्प-पुंज भ्रमण कर रहे हैं। उनमें हेलियम नामक पदार्थ ही अधिकता से है इसीलिये उन्हें

हेलियम तारे (Helium Stars) कहते हैं। ऐसे तारों का रंग कुछ नीलापन लिये सफेद होता है। धीरे-धीरे इन जलते हुए तारों की गरमी कम होने लगती है और ये कुछ घने और ठोस होने लगते हैं। उस समय उनका रंग कुछ पीला, जैसा कि हमारे सूर्य का है, हो जाता है। जिस समय ये और भी ठोस और ठंढे हो जाते हैं, उस समय इनका रंग कुछ लाल होने लगता है, और कुछ समय के उपरांत बहुत अधिक ठोस और ठंढे होने पर इसका रंग गहरा लाल हो जाता है।

यह तो हुई सूर्यों की उत्पत्ति। अब ग्रहों की उत्पत्ति लीजिये। पहली बात तो यह है कि सूर्यों की अपेक्षा ग्रह बहुत छोटे होते हैं, इसीलिये उनका ताप भी बहुत जल्दी घट जाता है और उसमें परिवर्तन भी बहुत शीघ्र होते हैं। दूसरी बात यह है कि ग्रह किसी सूर्य के साथ लग जाता है, जिससे उसकी दशा अन्यान्य सूर्यों से कुछ भिन्न हो जाती है। इस भिन्नता का कारण यह है कि उस पर किसी एक ही सूर्य का प्रभाव पड़ता है। हमारी पृथ्वी इसी प्रकार का एक ग्रह है। पहले यह केवल वाष्प-पुंज थी, पर पीछे यह भी ठोस होने लगी। इसकी भाफ बदलकर पानी बनने लगी, बादल बनने लगे और पानी बरसने लगा। पहले तो वह पानी गरमी के कारण भाफ बन जाता था, पर जब गरमी कम हुई, तब भाफ का बनना कम होने लगा और बरसा हुआ पानी यहीं एकत्र होने लगा। इसी एकत्र पानी से समुद्रों की सृष्टि हुई। इसके उपरांत धीरे-धीरे नदियों और पहाड़ों आदि की सृष्टि हुई। जल में जलचरों की और स्थल में वनस्पतियों की सृष्टि हुई। और तब नभचर तथा

स्थलचर जीव बने। धीरे-धीरे वह उस अवस्था को पहुँची, जिसमें उसे हम लोग इस समय पाते हैं। अभी इस दशा में भी बहुत कुछ परिवर्तन होने को बाकी है। इसका ऊपरी भाग तो ठंढा हो गया है, पर भीतरी भाग में बहुत कुछ ज्वाला भरी हुई है। अभी वह ज्वाला कम होगी, वायु कम होगी और जल भी कम होगा। उस समय उसकी दशा वैसी ही हो जायगी, जैसी इस समय मंगल की है। तदुपरांत जब जल-वायु का बिलकुल ही अभाव हो जायगा, तब वह बुध ग्रह के समान मृत हो जायगी; और बहुत संभव है कि किसी सूर्य से टकरा कर अथवा और किसी प्रकार भस्म भी हो जाय। लेकिन लाखों करोड़ों वर्षों में पृथ्वी इस दशा को पहुँची है; और अभी उसका अंत भी लाखों करोड़ों वर्षों में होगा। हाँ, हम यह बतलाना भूल गए कि ग्रहों के साथ उपग्रह भी होते हैं। उपग्रहों की सृष्टि प्रायः ग्रहों से होती है। चंद्रमा हमारी पृथ्वी का उपग्रह है। ज्योतिषियों का मत है कि हमारी पृथ्वी जिस समय वाष्प के रूप में थी, उसी समय इसमें से एक टुकड़ा निकल कर अलग हो गया। आजकल के कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि यह टुकड़ा उसी स्थान से निकला था, जहाँ आजकल प्रशांत महासागर है। वह टुकड़ा बहुत ही छोटा था। अतः उसके जीवन-नाटक के सभी अंक बहुत जल्दी-जल्दी हो गये और अब वह बिलकुल मृत है। उसमें नाम-मात्र को भी ताप नहीं रह गया।

यही कारण है कि ग्रहों और उपग्रहों की गति एक ही ओर होती है, वे प्रायः एक ही धरातल में चक्कर लगाते हैं और उनकी कक्षा या भ्रमण-मार्ग प्रायः गोलाकार होता है।

सभी सूर्यों, ग्रहों और उपग्रहों आदि में आरंभ में बहुत गरमी रहती है और धीरे धीरे वह गरमी कम होती जाती है। हमारी पृथ्वी की गरमी बहुत अधिक कम हो गई है; तो भी उसके भीतरी भाग में अभी तक बहुत अधिक ज्वाला भरी हुई है। इस गरमी का सब से सरल प्रमाण यह है कि ज्यों-ज्यों हम पृथ्वी के गर्भ में बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों हम गरमी भी अधिक अनुभव करते हैं। हिसाब लगाकर जाना गया है कि भूगर्भ में प्रति पचास या साठ फुट उतरने पर प्रायः एक डिग्री गरमी बढ़ जाती है। खानों और गहरे कूँओं की गरमी से भी यही बात सिद्ध होती है। अनुमान किया जाता है कि जमीन के अंदर तीस मील की गहराई में इतनी अधिक गरमी है कि उसमें पड़ते ही लोहा आप-से-आप गल सकता है; पृथ्वी के ठीक मध्य में तो प्रायः सवा चार लाख डिग्री की गरमी होगी! पृथ्वी के ऊपर का जो स्थल या ठोस भाग है, वह उस जले हुए भाग के मुकाबले में कुछ भी नहीं है जो पृथ्वी के अंदर है। यदि सारी पृथ्वी को मनुष्य का शरीर मान लिया जाय, तो स्थल को चमड़े की झिल्ली-मात्र ही मानना होगा; अर्थात् बहुत बड़े जलते हुए आग के गोले पर हमारे स्थल का एक बहुत ही पतला गिलाफ़ चढ़ा हुआ है।

ऊपर जो बातें बतलाई गई हैं, उन सबसे यही सिद्ध होता है कि हमारी पृथ्वी किसी समय जलती हुई आग का एक गोला थी और धीरे धीरे गरमी के कम होने के कारण उसने वर्तमान रूप धारण किया है। यह रूप धारण करने में इसे लाखों नहीं, बल्कि करोड़ों वर्ष लगे हैं। प्रोफेसर डारविन का मत है कि एक ऐसा ज़माना भी था, जब कि पृथ्वी-तल पर

भूकंप की तरंगों के समान इतनी बड़ी बड़ी तरंगें उठती थीं, जिनके कारण उसका टुकड़ा 'चंद्रमा' उससे अलग हो गया था। वह टुकड़ा जब समुद्र पर तैरता होगा, उस समय उसमें बहुत ऊँची ऊँची तरंगें उठती होंगी। आँधियाँ भी उस समय बहुत ही तेज़ चलती होंगी, जिनके कारण सारा जल और स्थल सदा बहुत ही क्षुब्ध रहता होगा। इन बातों से सिद्ध होता है कि केवल हमारी पृथ्वी का ताप ही दिन पर दिन नहीं घटता जा रहा है, बल्कि उसमें होनेवाले अनेक दूसरे उपद्रव भी (जैसे भूकंप, समुद्र-कंप, आँधियाँ आदि) बराबर कम होते जा रहे हैं। इन सभी उपद्रवों का जोर दिन पर दिन घटता जा रहा है। लेकिन यहाँ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बहुत पुराने जमाने में जितनी तेज़ी से हमारी पृथ्वी का ताप घटता था, उतनी तेज़ी से अब नहीं घटता। इसी प्रकार बहुत दिनों पहले पृथ्वी का बहुत बड़ा भाग बहुत जल्दी-जल्दी उभरता और धँसता था। पर अब उसके उभरने और धँसने में भी अपेक्षाकृत बहुत कमी हो गई है। इसी प्रकार भूकंपों और ज्वालामुखी के प्रकोपों में भी पहले की अपेक्षा अब बहुत कमी हो गई है। हम पहले बता चुके हैं कि हमारी पृथ्वी के भीतरी भाग में बहुत अधिक मान मे बहुत ही जलता हुआ तरल पदार्थ है। पर कुछ वैज्ञानिकों का मत इसके विरुद्ध भी है। वे कहते हैं कि पृथ्वी का भीतरी भाग ठोस और ठंढा है। एक वैज्ञानिक का तो यहाँ तक मत है कि पृथ्वी के भीतरी भाग का घनत्व लोहे से भी अधिक है। एक जर्मन भूगर्भ-शास्त्री ने बहुत से ज्वालामुखी पर्वतों आदि का भली भाँति निरीक्षण करके निश्चित किया था कि पृथ्वी का भीतरी भाग बिलकुल ठंढा और

ठोस है, और पृथ्वी-तल से साठ मील की गहराई पर उसमें स्थान-स्थान पर अग्नि के समुद्र और झीलें हैं; अर्थात् पृथ्वी के भीतरी भाग में तरल अग्नि उसी प्रकार है, जिस प्रकार मधु-मक्खियों के छत्ते के कोषों में शहद भरा रहता है। ज्वालामुखी पर्वतों का उसी अग्नि से संबंध रहता है, जिसके कारण ज्वालामुखी का भी स्फोट होता है, और भूकंप भी आता है। ज्वालामुखी पर्वतों आदि के कारण जो दशा आज-कल जापान की है, प्रायः वही दशा किसी पुराने ज़माने में स्काटलैंड की भी रही होगी। संभव है, इसका कारण यह हो कि समय पाकर किसी एक स्थान की तरल-अग्नि का समुद्र शांत हो जाता हो और कभी दूसरे स्थान पर उसकी सृष्टि हो जाती हो। कुछ आधुनिक भूगर्भ-शास्त्रियों का मत है कि पृथ्वी के भीतरी भाग में गरमी तो बहुत अधिक है, पर चारों ओर से उस पर जो दबाव पड़ता है, उस दबाव के कारण वह तरल नहीं रह सकती।

पृथ्वी की केतुनाभि चाहे तरल हो चाहे ठोस, पर यह बात सभी लोग मानते हैं कि पृथ्वी के भीतरी भाग में बहुत अधिक ज्वाला, जलती हुई गैसें और गली हुई चट्टानें तथा धातुएँ आदि भरी हुई हैं, और उन्हीं के कारण समय-समय पर ज्वालामुखी पर्वतों का स्फोट होता है, भूकंप आता है, तप्त कुंडों में से खौलता हुआ पानी निकलता है तथा इसी प्रकार की अन्याय अनेक बातें होती हैं। बहुत बड़े-बड़े वैज्ञानिकों और भूगर्भ-शास्त्रियों ने तो भूगर्भ के संबंध में बहुत-सी युक्तियाँ लड़ाईं और बहुत-सी बातें बतलाई हैं, पर साधारणतः विचार करने पर यही बात ठीक ज्ञान पड़ती है कि उसके

भीतर कहीं तरल अग्नि और कहीं ठोस चट्टानें आदि हैं। यदि पृथ्वी का सारा भीतरी भाग एक दम से तरल अग्नि ही होता, तो उसमें बहुत ही साधारण क्षोभ होने पर भी स्थान स्थान पर पृथ्वी आप से आप फट जाती और टुकड़े टुकड़े हो जाती।

अग्नि सर्व-व्यापिनी है और साथ ही वह सारे विश्व का जीवन है। हम चाहे यह न कह सकते हों कि भूगर्भ में कहाँ, कितनी और कैसी अग्नि है, पर इतना अवश्य कह सकते हैं कि उसमें बहुत अधिक अग्नि है। यही अग्नि भूगर्भ में अनेक प्रकार के उपद्रव और परिवर्तन आदि करती है, यही अग्नि ज्वालामुखी पर्वतों का स्फोट करती है, यही पृथ्वी को धँसाती है, यही पृथ्वी को उभारती है और यही प्रत्यक्ष रूप से भूकंप भी लाती है। पृथ्वी के भीतरी ताप के दिन-पर-दिन घट जाने के कारण हम कह सकते हैं कि पृथ्वी पर के भौतिक उपद्रव भी आज तक उसी मान में घटते आये हैं और भविष्य में उसी मान में सदा घटते रहेंगे। पर पृथ्वी की आयु करोड़ों वर्षों की है; इसलिये इस ह्रास का पता एक, दो या चार पीढ़ियों को नहीं लग सकता। ह्रास होता अवश्य है; पर उस ह्रास का स्थूल मान जानने के लिये लाखों वर्ष के अनुभव की आवश्यकता है। अल्प-जीवी मनुष्य उस ह्रास का केवल अनुमान कर सकता है, उसका प्रत्यक्ष अनुभव करना उसके लिये नितांत असंभव है।

—रामचंद्र वर्मा

(२७) आकाश-गंगा

अद्भुत दृश्य

तारों भरी रात के स्वच्छ नीले आकाश की शोभा किसने नहीं देखी है। यह नित्य का एक ही प्रकार का मनमोहक दृश्य जगत् के जन्म से आज तक मनुष्य देखता आया है, परंतु उसका जी उससे कभी नहीं ऊबा। इस दृश्य को देख देखकर परम मूर्ख से लेकर उद्भट विद्वान् तक आश्चर्य-चकित होते रहे हैं। ज्योतिषी अपनी दूर-गामिनी दृष्टि से बहुत कुछ थाह लगाने की कोशिश करते आये। वर्तमान युग में बड़े-से-बड़े और सूक्ष्म-से-सूक्ष्म यंत्रों से काम लेकर भी उन्हें एक ही बात मालूम हुई कि विश्व अनादि और अनंत है, उसकी सब बातों को जानना हमारी शक्ति के बाहर है। इसमें शक नहीं कि उन्होंने यंत्रों के सहारे अधिकाधिक जाना, पर साथ ही साथ उनके अज्ञान की परिधि उनकी जानकारी की अपेक्षा अधिकाधिक विस्तीर्ण होती गई। उन्होंने विशेष रूप से यह जान पाया कि हमने जो कुछ जाना है, वह हमारी अनंत बेजानी हुई बातों के सामने शून्य की बराबरी भी नहीं रखता।

इसी अनंत आकाश-मंडल के दृश्यों में से सब से अद्भुत और विस्मयकारी दृश्य 'आकाश-गंगा' है। इसे बहुत से लोग 'डहर' कहते हैं। अंग्रेजी में इसका नाम क्षीरायण (मिल्की वे) है। देखने में यह गिरा हुआ दूध-सा लगता है, जिसमें असंख्य तारे प्राचुर्य से पड़े हुए हैं और धारा के किनारे-किनारे छिटके हैं। धारा से तारे जितनी ही दूर होते हैं, उतने ही विरल

दिखाई देते हैं। यह आकाश-गंगा टेढ़ी-मेढ़ी होकर बही है। इसका प्रवाह उत्तर की ओर से लेकर दक्खिन की ओर गया है। परंतु आकाश-गंगा देखने में दो धाराओं में गई हुई जान पड़ती है। एक तो रात्रि के प्रथम पहर में और दूसरी अंतिम प्रहर में। दूसरी धारा ईशान से नैर्ऋत्य कोण की ओर जाती है। उसकी दिशा पहली से नहीं मिलती। परंतु ज्योतिषियों ने इसका पूरा विचार करके निर्णय किया है कि वास्तव में आकाश-गंगा एक ही है, दक्षिण-उत्तर होकर आकाश के दोनों कटाह में प्रायः गोलाकार घूम गई है और पृथ्वी के घूमते रहने से उसका एक खंड एक बार और दूसरा खंड दूसरी बार दिखाई पड़ता है। इन्हीं खंडों में आकाश-मंडल में हमको दिखाई देनेवाले अधिकांश तारे स्थित हैं।

अनंत दूरी

देखने में तो अनंत तारे परस्पर सटे-से जान पड़ते हैं, परंतु यह दृष्टि-भ्रम है। आधुनिक पाश्चात्य ज्योतिर्विदों ने पता लगाया है कि इनमें एक दूसरे की दूरी अरबों मीलों की हो सकती है, और हमारी तो इनसे इतने मीलों की दूरी है कि उतनी संख्या लिखने में भी नहीं आ सकती। जिन तारों की दूरी ऐसी संख्यातीत है, फिर शब्दों में उसे व्यक्त करने का भी कुछ उपाय है? हाँ; वैज्ञानिकों ने उसके लिए एक युक्ति निकाली है। भौतिक विज्ञान वालों ने रश्मि-मापक यंत्र के द्वारा यह पता लगाया है कि प्रकाश का वेग एक सेकंड में एक लाख छियासी हजार मील है; अर्थात् सूर्य से जो प्रकाश हमारे पास लग-भग सवा नौ करोड़ मील चलकर आता है, वह प्रति

सेकंड १ लाख ८६ हजार मील के वेग से चलकर आता है। इस यात्रा में इसीलिये उसे आठ मिनटों से कुछ अधिक लगते हैं। अब हम सूर्य्य की दूरी सवा नौ करोड़ मील न कह कर सवा आठ प्रकाश मिनट कहें, तो भी कुछ समझ में आने का आधार मिल जाता है। कहने में लाघव भी होता है। अब मान लीजिए कि किसी तारे की दूरी ऐसी हो कि उससे प्रकाश के आने में आठ मिनटों के बदले आठ घंटे लगते हों या आठ दिन लगते हों या आठ महीने लगते हों या आठ वर्ष ही लगते हों, तो हम सहज में उनकी दूरी के परिमाण को प्रकाश के आठ घटों, दिनों, मासों या वर्षों में व्यक्त कर सकते हैं। आठ वर्षों में जिस तारे से प्रकाश आता है, उसकी दूरी हमसे पौने पाँच नील मीलों के लग-भग होगी। परंतु जहाँ से आठ हज़ार वर्षों में प्रकाश आता होगा, वहाँ की दूरी हमसे पौने सैंतालीस पद्म मीलों के लगभग होगी! परंतु तारे तो इतनी इतनी दूरी पर हैं कि उनसे प्रकाश के आने में लाखों बरसों का समय लग सकता है। ऐसी अवस्था में न तो मीलों की गिनती में उसे ला सकते हैं और न कुछ समझ में ही आ सकता है।

अनंत देश, अनंत काल, अनंत विश्व

जिस आकाश के भीतर अनंत दूरी है, वह अनंत देश है। जिस विश्व में नित्य ब्रह्मांडों की उत्पत्ति स्थिति-प्रलय की कहानी दुहराई जाती है, उसके महाप्रलय या महोत्पत्ति का काल क्या है, यह अचिंत्य है, अनंत है। फिर विश्व भी एक दो हों, तो कुछ कहा जाय। विश्व भी तो अनंत हैं। उनका आदि न जानने से हम उसे अनादि कह सकते हैं।

फिर मध्य का निर्णय किस परिमाण से हो? अर्थात् यह विश्व-विराट् अवश्य ही देश और काल से अतीत और अपरिमित है। अब विश्वों और ब्रह्मांडों की पुराण-वत् नई कथा सुनिए।

आकाश-गंगा के तारे इतनी दूरी पर हैं कि उनकी दूरी प्रकाश-वर्षों में भी गिनना कठिन है। उनकी आपस की दूरी भी ऐसी ही भयानक है। जब सटे हुए तारों की यह दशा है, तब उन तारों की चर्चा ही क्या है, जो आकाश-गंगा के बाहर दूर दूर पर स्थित हैं। आधुनिक ज्योतिर्विद् कहते हैं कि आकाश-गंगा एक विश्व है, जिसमें असंख्य ब्रह्मांड हैं; और हर एक टिमटिमाता तारा अपने अपने ब्रह्मांड का नायक सूर्य्य है। हम जो छोटे छोटे तारे देखते हैं, वे वास्तव में बड़े सूर्य्य हैं जिनमें से अनेकानेक इतने बड़े हैं कि जिनके सामने हमारे सूर्य्य का महापिंड एक रेणु के बराबर भी नहीं ठहरता। हम इस तरह असंख्य ब्रह्मांडों के नायकों के दर्शन करते हैं। हमारे ब्रह्मांड की स्थिति इसी आकाश-गंगा के मध्य आकाश में है।

देखने में हमारा सूर्य्य लुब्धक है; अगस्त्य, अग्नि आदि अनेक तारे आकाश-गंगा से दूर जान पड़ते हैं; परंतु कोई आश्चर्य की बात न होगी, यदि ये सभी स्वतंत्र तारे आकाश-गंगा के ही अंतर्गत हों; परंतु हमारी स्थिति के कारण ही यह आकाश-गंगा से पृथक् से लगते हैं। हमारा ब्रह्मांड तो आकाश-गंगा के मध्ये में ही कहीं अनुमित होता है।

नीहारिकाएँ—विश्वदर्शन

बिल्कुल स्वच्छ नीले आकाश में जैसे दूध-सी फैली हुई

सफेदी आकाश-गंगा में है, वैसे ही दूध से धब्बे कहीं कहीं और दिखाई देते हैं। दूरबीन से देखने पर तो इस अनंत आकाश मे ऐसे हजारों लाखों दूधिया तारा-मंडल मिलते हैं, जिनका आकार कुंडली-सा फिरा हुआ लगता है। ज्योतिषियों ने इनका नाम "नीहारिका" रक्खा है। ये नीहारिकाएँ अनंत और कल्पनातीत दूरी पर हैं। कहा जाता है कि हमारी आकाश-गंगा भी ऐसी ही एक नीहारिका है। नीहारिकाएँ कुंडली के आकार की होती हैं। यह आकाश-गंगा कुंडली के आकार की है। हमारा ब्रह्मांड किसी ऐसे देश में है, जहाँ से कुंडली के दोनों ओर का भाग घूमा हुआ है, इसीलिये हमें दो आकाश-गंगाएँ दिखाई देती हैं। जिन नीहारिकाओं को हम आकाश-गंगा से दूर, बहुत छोटे आकार में देखते हैं, बहुत संभव है कि उनका विस्तार और आयतन हमारी आकाश-गंगा से भी अधिक हो। वर्तमान ज्योतिर्विदों का अनुमान है कि एक एक नीहारिका एक एक विश्व है, जिसके अंतर्गत अनंत ब्रह्मांड हैं। दूरवीक्षण यंत्र से इस तरह की अनेक नीहारिकाएँ देखने में आई हैं, जो एक दूसरी की आड़ में छिपी हैं। अतः दूरबीन के सहारे हम हजारों लाखों विश्वों के दर्शन कर सकते हैं। परंतु दूरबीन की शक्ति भी परिमित है। ऐसा अनुमान हो सकता है कि इन विश्वों के सिवा असंख्य विश्व होंगे! और हर एक में असंख्य ब्रह्मांड!! हम आकाश-मंडल में जो इतनी नीहारिकाएँ दूर दूर पर देखते हैं, वे वास्तव में आकाश-गंगा वाले विश्व के भीतर से, अनंत देश के असीम झरोखों से, अपने विश्व की सीमा के बाहर अनंत असीम आकाश-देश में स्थित और विश्वों के

दर्शन करते हैं। इसी से हमें ये थोड़े से विश्व, थोड़ी सी नीहारिकाएँ दिखाई देती हैं। यदि इस विश्व के महामंदिर से बाहर निकल कर अपरिच्छिन्न दृष्टि से देखने का साधन उपलब्ध होता, तो हम अनंत विश्वों के दर्शन कर सकते, और तब हमारी आकाश-गंगा, जो समस्त व्योम-मंडल को घेरे हुए जान पड़ती है, एक मेघ-बिंदु के समान दिखाई पड़ती। और यदि ऐसा संभव होता कि हम दो नीहारिकाओं या विश्वों के अनंत अंतराल-देश में अपने को स्थित पाते, तो उस समय आकाश का दृश्य हमारे लिए नितांत भिन्न होता। आकाश में एक भी आकाश-गंगा न दिखाई देती। जो नक्षत्र जिस प्रकार आज हम देखते हैं, वह तो शायद कहीं देख न पड़ते या असंख्य नीहारिकाओं के नीहार में छिप जाते। साथ ही अनेक नये जाज्वल्यमान नक्षत्र और तारे नये-नये स्थानों में दिखाई पड़ते। उनमें हमें अपना सूर्य्य और चंद्रमा ढूँढे न मिलते।

ऐसी अद्भुत अनंतता, विचित्र अनादिता और विस्मयकारी अमध्यता जिस विराट् पुरुष के अंदर है, उसके "पादोऽस्य विश्वा भूतानि"—एक चौथाई में ही सारे विश्वों की सृष्टि है !!!

उपसंहार

हमारी आकाश-गंगा भी ऐसी ही एक नीहारिका है, जिस में हमारे जैसे असंख्य ब्रह्मांड हैं। अनेक बन चुके हैं; अनेक बन रहे; अनेक भविष्य के गर्भ में निहित हैं। हमारे ब्रह्मांड में भी अनेक ग्रह हैं, जो हमारी पृथ्वी सरीखे बड़े-बड़े पिंड हैं। कई संसार-रचना की तैयारी में हैं, कई के संसार

संसरण कर रहे हैं, कई के संसार अपनी पूर्णायु भोग कर अपनी यात्रा की सीमा की ओर चल रहे हैं और कई उसी सीमा पर पहुँच कर यात्रा पूरी कर चुके हैं। हमारी धरती ने अभी अपना जीवन आरंभ किया है। अनेक वैज्ञानिकों के मत से इसके जीवनमय जीवन के कुछ ऊपर दो करोड़ बरस हुए होंगे। हिंदुओं का भी ऐसा ही मत है। वे कहते हैं कि श्वेत वाराह कल्प का अट्ठाईसवाँ कलियुग है, जिसके केवल पाँच हजार इकतीस बरस बीते हैं। इस हिसाब से भी दो करोड़ से कुछ ऊपर बरस बीत चुके हैं।

हमारी गणना केवल यहीं नहीं मेल खाती। सभी जगह हमारी पौराणिक संख्याएँ वैज्ञानिक संख्याओं से मेल खाती हैं। इतना ही नहीं, विश्व की सृष्टि के सिद्धांत भी मिलते हैं। कथाओं पर विचार करने से अद्भुत मेल मिलता है। क्षीर-सागर, शेष-शय्या, महालक्ष्मी, नारायण का शयन, कमल का उद्भव, ब्रह्मा की उत्पत्ति, मधुकैटभ का युद्ध, मेदिनी-निर्माण, मंगल की उत्पत्ति इत्यादि कथाओं का एक बहुत ही विचित्र समन्वय होता है।

—रामदास गौड़

---

(२८) हिमालय-दर्शन

प्रकृति-दर्शन के विषय में जो एक बात स्मरण रखने के योग्य है, वह यह है कि हम भ्रांति से समझ बैठते हैं कि किसी देश में भ्रमण करना और उसको देखना एक ही बात है, परंतु यह ठीक नहीं है। दोनों में बड़ा अंतर है। जिस दृष्टि से स्वामी रामतीर्थ परमहंस ने हिमालय को देखा अथवा रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अमेरिका को देखा उसी दृष्टि से देखना वास्तविक देखना है। ऐसा देखना सब नहीं देखते, ऐसे महानुभाव अपने देखे हुए स्थानों का जो वर्णन लिखते हैं वह इस कारण मनोहर, सुंदर और भावपूर्ण नहीं होता कि उनको बढ़िया भाषा में लिखना आता है, बल्कि वह इसलिए होता है कि उन्होंने उन स्थानों को एक सहृदय की दृष्टि से देखा था।

उन महापुरुषों के किये हुए प्राकृतिक दृश्यों के वर्णन, जिनको हम बहुत बड़े अनुभवी और प्रकृति के प्रेमी समझते हैं, बड़े आनंददायक और चित्ताकर्षक होते हैं। उनके पढ़ने से हमें स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि उनका कैसा रँगीला हृदय था। यहाँ पर कतिपय महानुभावों के किये हुए वर्णनों के कुछ अंश उद्धृत किये जाते हैं। स्वामी रामतीर्थ परमहंस गंगा और हिमालय का वर्णन करते हुए कहते हैं—

पवित्र गंगा राम के विरह को न सह सकी; मास भर भी न होने पाया था कि उसने राम को फिर अपने पास बुला लिया। सारी स्वाभाविक सभ्यता को भूलकर वह उसके ऊपर हर्ष के अश्रु-कण बरसाने लगी। प्यारी गंगे! गंगोत्तरी में तुम्हारी

दिन-दिन बढ़ती छवि की छटा और पलपल चंचल कलबल का कौन वर्णन कर सकता है। गोरे गोरे गिरि और भोले-भोले देवदार—यही तुम्हारे साथी हैं। उनका सीधा-सच्चा स्वभाव कैसा प्रशंसनीय है। उनकी मधुर मधुर मूर्ति तो बस अपूर्व ही है। वह चित्त को उत्तेजित वा उल्लसित करती है और मन को दूना करती है। यहाँ पर यह कितना स्पष्ट मालूम होता है कि परमात्मा पत्थरों में सोता है, लताओं में श्वास लेता है, पशुओं में चलता-फिरता है, और मनुष्यों में जीता-जागता है।

फूलों की वहाँ इतनी घनी उपज है कि सारा मार्ग का मार्ग एक ज़री का खेत-सा दीख पड़ता है। नीले, पीले, बैंगनी भाँति-भाँति के फूल जंगल में भरे पड़े हैं, ढेर के ढेर कमल और बनफ़शे, गुलेलाल और गुलबहार—सौ सौ वर्ण के एक एक फूल, गुगलधूप, ममीरा, मीठा-तेलिया, सलद, मिश्री आदि अनेक रुचिर रंगीन लताएँ; केसर इन्नभू आदि अपार महामधुर सुगंधि से भरे पौदे, भेड़गद्दे, तथा तुहिनसीकरों से भरे गर्भ वाले गर्वीले ब्रह्मकमल, इन सबों ने तो गिरिराज को मानों स्वर्ग-लोक और मृत्युलोक के स्वामी का प्रमोदवन ही बना दिया है।

चारों ओर सुंदरता ही सुंदरता बरस रही है। जिधर देखो उधर मरुद्गण निडर होकर खेल रहे हैं। जगह जगह पर सुगंध के झकोरे पवन के प्रवाह पर लहरें लेते हुए राम को ऐसे लग रहे हैं जैसे मधुर, मनोहर, आनंददायक गान। इन बड़े बड़े विराट् पहाड़ों की चोटियों पर ये सुंदर सुंदर खेत ऐसे बिछे हुए-से हैं जैसे कामदार क़ालीन हों। वन-देवता! यह तुम्हारी भोजन की मेज़े हैं या नृत्य की भूमि!

कलकल करते हुए नाले, दरारों और कगारों पर धड़-धड़ाती हुई नदियाँ—ये दोनों ही दिव्य दृश्यों में उपस्थित हैं। कुछ चोटियों पर तो दृष्टि को बिलकुल स्वतंत्रता ही मिल जाती है, कुछ रोक-टोक ही नहीं। बे-खटके चारों ओर दूर तक मनमानी चली जाती है। न उसकी राह में कोई स्थूल शैल ही आकर खड़ा होता है और न उसके रास्ते को कोई दुष्ट मेघ ही रोकता है, कुछ शिखरवरों को तो गगनभेदी और घनच्छेदी होने का इतना अधिक उत्साह है कि वे रुकना भूल ही गये हैं और उच्च से उच्च गगनमंडलों में लुप्त ही से हुए जाते हैं।

अहा देखो! वह कमल-दल से लगा हुआ छोटा-सा चारु चपल ओस-कण मनुष्य के मन का कैसा अच्छा चिह्न है। छोटा है, चपल है, परंतु अहा! कितना पवित्र है! कैसा स्वच्छ और चमकीला है। सत्य के सूर्य, और अनादि दीप्ति का प्रभाव मानों उसी के हृदय में स्थित है। अरे मनुष्य! क्या तू वही छोटा-सा जल-कण, वही ज़रा-सी बूँद है या तू अनंत है। सचमुच वह तनिक-सी बूँद नहीं। तू "ज्योतिषां ज्योतिः" (ज्योतिषों की ज्योति) वा प्रकाशों का भी प्रकाश है। सब वेद यही कहते हैं। राम भी यही कहता है। इसमें कुछ संदेह नहीं कि यह तेरा ही तेज और तेरा ही प्रकाश है जो ऐसे ऐसे दिव्य-देशों को ज्योति और जीवन से भर देता है। ऊपर-नीचे, इधर उधर तेरा ही प्रकाश और तेरी ही प्रतिभावान् मूर्ति विराजमान है। तू ही वह शक्ति है जो किसी परिमाण की परवा नहीं करती, परंतु छोटे और बड़े सबसे काम निकालती है। तू ही उषःकाल को उसकी मुस्कान देता है और तू ही पाटल-पुष्प को प्रभा प्रदान करता है।

अर्ध-रात्रि के छटा-भरे तारे चमकीले।
प्रात-समय के ओस-बिंदु-समुदाय छबीले॥

जो कुछ सुंदर और स्वच्छ है अंश कहीं पर।
है तेरा ही नाथ! सभी प्रतिबिंब मनोहर॥

तारा-पति शुभ चंद्र रात में स्वामी तू है।
संध्या की द्युति ओस प्रात में स्वामी तू है॥

शोभा और प्रकाश यहाँ है जो कुछ माया।
तू ने ही निर्माण किया औ, जगत सजाया॥

है व्यापक तव तेज, वस्तुएँ जग की सारी।
कहती हैं चुपचाप यहाँ हैं विश्व-विहारी॥

राम का वर्त्तमान निवास-स्थान एक सुघर आनंददायक पहाड़ी कुटी में है। उसके आस-पास एक हरी-भरी और सुनसान प्राकृतिक वाटिका है। एक ओर परमप्रमोदप्रद सुंदर झरना अपने झर्झर-गान से समस्त शांत प्रांत को मुखरित-सा करता रहता है। दूसरी ओर गंगा का एक सुरम्य दृश्य दिखाई देता है। यहाँ पर रामबूटी बहुत उत्पन्न होती है, गौरैया और इतर पक्षी दिनभर मनमाना गान करते हैं। यहाँ की वायु स्वास्थ्यकर है। गंगा का गायन और पक्षियों का गूँजना यहाँ पर सर्वदा स्वर्गीय उत्सव-सा बनाये रखते हैं। यहाँ पर गंगा की घाटी बहुत विस्तीर्ण है, मानो गंगा एक बड़े मैदान में बहती है।

प्रवाह बहुत ज़ोर का है, तथापि राम ने कई बार तैरकर उसे पार ही किया है। केदार और बदरी ने बड़े प्रेम से अनेक बार राम-बादशाह को आमंत्रित किया है, परंतु प्यारी गंगा

के विरह की कल्पना-मात्र से उसे बहुत दुःख होता है और उसका मुख-चंद्र म्लान पड़ जाता है। राम उसे अप्रसन्न नहीं करना चाहता और न उसे उदास होते हुए ही देख सकता है।

श्रीमान् हैमरटन, जिनका अनुभव और सौंदर्य्य-प्रेम माननीय है, अपनी संमति इस प्रकार देते हैं:—"हिम से आच्छादित पर्वत, जिसका प्रतिबिंब निम्नस्थित सरोवर में पड़ रहा हो, तड़क-भड़क और पवित्रता के मिश्रण का इस दृष्ट संसार में एक ऐसा उदाहरण है, जिसके बराबर का कोई दूसरा उदाहरण मिल ही नहीं सकता। जब सूर्य ढलता है, इसकी सहस्रों छायाएँ लंबी होती हैं, पानी में तैरती हुई बर्फ़ की चट्टानों में वे प्रतिबिंब हरे, नीले और पवित्र दिखाई देते हैं, सूर्य के ढलते हुए प्रकाश में हिम पहले तो श्वेत गुलाब का-सा हलका रंग धारण करता है, फिर गुलाबी और तब लाल दिखाई देता है। आकाश पीला और हरा दिखाई देने लगता है और फिर यह विचित्र दृश्य भयंकर भूरेपन में परिवर्त्तित हो जाता है। परंतु ये सब दृश्य दर्शकों के हृदय-पटल पर अस्थिर सौंदर्य्य का एक स्थायी स्मरण छोड़ जाते हैं।"

गगन की नीलिमा, सूर्य्यास्त की लालिमा, हिमाच्छादित पर्वतों की पवित्र श्वेतता, पृथ्वी पर लगे हुए वृक्षों और पौधों की हरियाली, पुष्पों के अनेकानेक रंग प्रकृति के उन उपासकों के लिए, जो अपने नेत्रों का सदुपयोग करते है, अनंत हर्ष देनेवाले हैं। परंतु एक निर्निमेष बदलते हुए अद्भुत चित्र के ये सब हाशिये और पृष्ठ दृश्य हैं। उनके बराबर के या इनसे भी बढ़िया रंग पशुओं और पक्षियों में पाये जाते हैं। सुवर्ण, रजत, हिंगलू, हीरे, पन्ने आदि खनिज पदार्थों के रंग और उनकी

चमक-दमक और भी चित्ताकर्षक होती है। इस रंग-वैभव का हमारे मस्तिष्क और अध्यात्म से विशाल और गंभीर संबंध है।

शिशु तथा जंगली मनुष्य दोनों ही पुष्पों, परिंदों और कीट-पतंगों के रंगों की प्रशंसा करते हैं। हममें से बहुतों के लिए इनके विचार और स्मरण मानसिक और आध्यात्मिक आनंद तथा शांति प्रदान करते हैं। इसलिए इस बात के जानने से हमें कुछ भी आश्चर्य न होगा कि प्राचीन काल मे बहुत पहले ही अध्यात्म और प्राकृतिक रंग-व्यवस्था का संबंध विचार लिया गया था, और यद्यपि इसमें संदेह नहीं कि मनुष्य के सहस्रों वर्षों के गहन विचारों के पश्चात् भी प्रकृति के कई एक सुंदर और हर्षदायक रहस्य जानने को बच रहे हैं, परंतु वे शनैः-शनैः मनुष्य को ज्ञात ही हो जायँगे और उसके आनंद के बढ़ाने में पूर्ण भाग लेंगे।

---

(२६) गढ़ रणथंभौर

भारतवर्ष के विख्यात बड़े-बड़े दुर्गों में से राजपूताने में तीन क़िले बहुत प्राचीन और विख्यात हैं—पहला चित्तौड़गढ़, दूसरा रणथंभौर, तीसरा ब्याना (बयाना)। ये तीनों ही क़िले पहाड़ों पर बने हुए हैं और तीनों ही यदि युद्ध के लिऐ सजाये जायँ तो प्रत्येक क़िले में लाखों आदमियों के रखने की आवश्यकता हो सकती है। यद्यपि राजपूताने के विख्यात दुर्गों में से तारा-गढ़ (अजमेर का) भी कुछ कम विख्यात नहीं है जिस पर अनेक भारी-भारी युद्ध हो चुके हैं पर तो भी वह उपर्युक्त तीनों

क़िलों में से एक की भी समानता नहीं कर सकता। यद्यपि चित्तौड़ के क़िले को अभी तक हमको देखने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ है तो भी उसके बड़े और मज़बूत होने की चरचा बहुत सुनी जाती है। बयाने के क़िले को देखने का तीन-चार बार अवसर मिला है। वह एक बड़ा और मज़बूत पहाड़ी क़िला है। एक ओर उसका परकोटा ज़मीन के साथ मिला हुआ है; परकोटा बहुत चौड़ा, ऊँचा और मज़बूत बनाया गया है। यह क़िला भरतपुर राज्य में है।

रणथंभौर का क़िला जयपुर राज्य में, जयपुर से कोई ४५ कोस दक्षिण की ओर, सघन पहाड़ियों में, सघन झाड़ियों के भीतर बना हुआ है। नागदा-मथुरा रेलवे लाइन पर मथुरा से कोई ७० कोस बंबई की ओर जाने पर सवाई-माधोपुर स्टेशन पड़ता है। यहाँ से कोई सवा कोस पर पहाड़ों के बीच सवाई-माधोपुर नगर है जिसे जयपुर के महाराज सवाई माधोसिंहजी ने रणथंभौर हाथ आने पर बसाया होगा, ऐसा प्रतीत होता है। यहाँ जयपुर राज्य की निज़ामत है। राज्य की ओर से एक नाज़िम (डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट), तहसीलदार, थानेदार और डाक्टर रहते हैं। यह नगर भी पुराना, कहीं-कहीं टूटा-फूटा और बेमरम्मत बड़े विस्तार में बसा हुआ है। आबादी छः सात हज़ार से अधिक नहीं है। यहाँ से ही रणथंभौर को जाना पड़ता है। कोई ४॥ कोस सघन झाड़ियों और ऊँची-ऊँची पहाड़ियों के बीच एक पगडंडी की राह से चलना पड़ता है जिसमें शेर, बघेरे, चीते, रीछ आदि हिंसक जीवों की बहुतायत है। मार्ग में जगह-जगह ओदियाँ लगी हुई हैं और कठहरे बँधे हुए हैं जिनमें पाड़े (भैंसे) बाँधे जाते हैं। दिन में ही

रास्ता चलता है रात को नहीं। मार्ग में पहाड़ियों का चढ़ाव-उतार यात्री को थका देता है। जगह-जगह पानी के चश्मे बहते मिलते हैं। झाड़ियों में एक नाले के किनारे एक छोटा-सा कुंड पानी का है जिसे मोरकुंड कहते हैं। और भी कई बावलियाँ पड़ती हैं। मोरकुंड से पहाड़ी का चढ़ाव है। कुछ चढ़ने के बाद एक पक्का परकोटा और मोर-दरवाज़ा नाम की पौली (गोपुर) है। यह परकोटा दोनों ओर पहाड़ों पर चला गया है। दरवाज़े से रास्ता फिर नीचे को उतरता है और कुछ पहाड़ी उतार-चढ़ाव के पीछे फिर एक उसी प्रकार का दरवाज़ा आता है जो बड़ा दरवाज़ा कहलाता है। यहाँ भी पहले की तरह पक्का परकोटा दोनों ओर की पहाड़ियों पर चला गया है। इस दरवाज़े से नीचे उतरकर एक बड़ा मैदान है जो तीन तरफ़ पहाड़ियों से घिरा हुआ है। उसी में एक ओर दीवार की तरह खड़े पहाड़ पर रणथंभौर का दृढ़ और अभेद्य दुर्ग है। इस मैदान में एक बड़ा ताल है जो पद्मला कहलाता है, (छोटा पद्मला दुर्ग में है) और लगभग ६, ७ मील के घेरे में है। इसमें कमल फूले रहते हैं। कोई आध कोस चलने पर किले पर चढ़ने का फाटक आता है जिसका नाम नौलखा है। यह पर एक पैसा देकर एक आदमी को किले में किलेदारों के पास भेज प्रवेश करने की परवानगी मँगवानी पड़ती है जो घंटे डेढ़ घंटे मे आ जाती है। इतनी देर में पथिक पास के एक कूएँ पर स्नान ध्यान से निपटकर थकावट दूर कर सकता है। यहाँ से किले की शोभा अच्छी दिखाई पड़ती है। किले का पहाड़ ओर से छोर तक दीवार की तरह सीधा खड़ा है। उस पर मज़बूत पक्का परकोटा और बुर्ज़ (गढ़) बने

हुए हैं जिनपर तोपें चढ़ी हुई हैं। दरवाज़े से ऊपर तक पक्की सीढ़ियाँ बनाई गई हैं जिन पर तीन फाटक बीच में पड़ते हैं। एक गणेश रणधीर दरवाज़ा है जिसमें पीतल के पत्र पर संवत् १८७६ खुदा हुआ है। इसी दरवाज़े के ऊपर एक बुर्ज़ (गढ़) पर तीन मुँह की तोप रक्खी हुई है जो लगभग ४ गज़ लंबी है।

क़िले में मुख्य गणेशजी की प्रसिद्ध और भव्य मूर्ति एक सुंदर मंदिर में विराजमान है। इन्हें गढ़ रणथंभोर के विनायक कहते हैं। समस्त राजपूताने की बत्तीसों जातियों में विवाह के समय इनका आह्वान किया जाता है। यहाँ पर यह कहावत प्रसिद्ध है कि 'विनायक मनायो नाज आयो। टोडरमल जीतो नाज बीतो' अर्थात् विवाह के समय जब विनायक गणेश बैठते हैं तो घर में ऋद्धि-सिद्धि आकर विवाह को पूर्ण करा देती हैं, किसी बात की कमी नहीं रहती। विवाह होने पर गणेशजी का पट्टा उठा दिया जाता है तब प्रत्येक चीज़ की तंगी दिखाई देने लगती है। राजपूताने के बाहर भी दूर-दूर तक इन गजानन भगवान् का आह्वान होता है। क़िले में ५ बड़े-बड़े टाँके हैं। एक के सिवा सब में पानी रहता है और सब स्वाभाविक बने हुए हैं।

गढ़ रणथंभोर केवल ३॥ कोस के घेरे में है पर है सीधे खड़े पहाड़ पर। क़िले के तीन ओर प्राकृतिक पहाड़ी खाई है जिसमें जल बहता रहता है और झाड़ियों का झुरमुट है। खाई के उस तरफ़ वैसा ही खड़ा पहाड़ है जैसा क़िले का है। उस पर परकोटा खिंचा हुआ है। उत्तर की ओर को बड़ा ताल और मैदान है। उसके आगे पहाड़ है जिस पर परकोटा खिंचा हुआ है। फिर चौतरफ़ा कुछ नीची ज़मीन के बाद तीसरे

पहाड़ का परकोटा है और पक्की मज़बूत दीवारे खिंची हुई हैं। इस प्रकार कोसों के बीच में क़िला फैला हुआ है। पूर्व, पश्चिम, दक्षिण कोसों तक बड़ा लंबा चौड़ा मैदान है, जिसके चारों ओर पहाड़ियों का सिलसिला परकोटे का काम दे रहा है। कुछ दूर पर पूर्व की ओर एक गढ़ खंधार इसी पहाड़ी सिलसिले में और है जो मज़बूत गिना जाता है। यद्यपि क़िले में भी जंगल पहाड़ हैं, पर फाटकों पर पहरा रहने के कारण क़िले में जंगली जानवर नहीं हैं। दूसरे दो परकोटों के बीच अनेक प्रकार के जंगली जानवर झाड़ियों में बहुतायत से रहते हैं। क़िले से ३ कोस के फ़ासले पर दक्खिन की ओर छोटी-सी पहाड़ी पर मामा भानजे की क़बरें हैं। संभव है उस पर से किले को विजय करने का प्रयत्न किया गया होगा। इस क़िले की मज़बूती इसके देखने से ही मालूम हो सकती है। संसार के किसी देश में इस प्रकार का कोई क़िला शायद ही हो। यदि इसको सजाया जाय तो यह एक अपूर्व दुर्गम गढ़ बन जाय।

यह दुर्गम दुर्ग किसके समय में किसने बनवाया, इसका अभी तक पता नहीं। पर यह दीर्घ काल से चौहानो के अधीन चला आता था और अंत में चौहानों के हाथ से ही मुसलमानों के हाथ में गया। संभव है कि यह क़िला चौहानों के द्वारा ही बना हो, क्योंकि राजपूताने में अनेक मज़बूत किले चौहानों के द्वारा ही बनायें गये थे, जैसे अजमेर का तारागढ़, नाजोल का गढ़, घोसा मांडल गढ़, अलवर का बाला क़िला (अल्हनदेव का बनाया हुआ सुना जाता है), मोरा का गढ़, बूँदी का तारागढ़, गागरोण का गढ़, इंद्रगढ़, छायापुर का गढ़ ये सब चौहानों के बनाये हुए हैं। अतः रणथंभौर भी

चौहानों का बनाया हुआ हो तो आश्चर्य क्या? ऐसी जनश्रुति है कि इस विकट वन और दुर्गम पहाड़ियों में एक पद्मला नाम का तालाब था (जो अब भी वही नाम धारण किये है)। उसके किनारे कोई पद्म ऋषि नाम के महात्मा अपना नित्य-कर्म कर रहे थे। उस समय में दो राजकुमार, जिनमें एक का नाम जयत और दूसरे का रणधीर था, सूअर के पीछे घोड़ा दौड़ाते हुए इस वन में चले आये। सूअर भयभीत हो पद्मला तालाब में कूद पड़ा और जल में ग़ायब हो गया। राजकुमार इस दृश्य को खड़े-खड़े देखते रहे। पर सूअर इनको नज़र न आया। अचानक किनारे पर इनकी दृष्टि महात्मा पर पड़ी। वे दोनों तुरंत महात्मा के पास आये और प्रणाम कर बैठ गये। महात्मा ने आँखें खोलकर उनकी ओर देखा और प्रीति-पूर्वक कहा—"कुमार! शिकार जल में चला गया, ख़ैर, शिवजी का ध्यान करो।" शिवजी का ध्यान करते ही शिव-पार्वती के दर्शन हुए जिन्होंने उन्हें आशीर्वाद देकर क़िला निर्माण करने की आज्ञा दी। आज्ञानुसार राजकुमारों ने वहाँ पर एक क़िला बनवाया जिसका नाम शिवजी की आज्ञा से रणस्तंभर या रणस्थंभौर रक्खा। क़िले की प्रतिष्ठा धूमधाम से की गई। प्रथम गणेशजी की स्थापना हुई और राज्य-भर में विवाह के समय प्रारंभ में इन्हीं गणेशजी को निमंत्रित कर प्रजा-भर में पुजने की आज्ञा प्रचलित की गई और राजकुल में इन्हीं गणेशजी का आह्वान करना प्रधान रक्खा गया। पास ही शिवजी की स्थापना करके प्रतिष्ठा का कार्य पूर्ण किया गया।

संवत् १६२० तक इस क़िले पर मुसलमानों का अधिकार रहा। बीच में कुछ दिन मेवाड़वालों का भी अधिकार हो गया

था। इसी समय में बूँदी के सामंतसिंह हाड़ा नामक एक सर्दार ने बेदला और कोठारिया (ये मेवाड़ के १६ सर्दारों में से हैं) के चौहानों की सहायता से मुसलमानों से क़िला छीन लिया और बूँदी के अधिपति राव सुर्जनजी को सहायता के लिए बुलाया। सुर्जनजी थोड़े से वीर हाड़ाओं को ले वहाँ पहुँचे और मुसलमानों को वहाँ से निकालकर उन्होंने क़िले पर अपना अधिकार कर लिया।

संवत् १६२४ वि० मे अकबर ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की। वह बूँदी के पदच्युत राव सुरतान को शाही सेना के साथ पट्टी देकर बूँदी पर चढ़ा लाया। यहाँ राव सुर्जन के भाई रामसिंह थे। उन्होंने रात्रि के समय दो वार धावा मारकर शाही फ़ौज भगा दी और तोपे छीन लीं लेकिन अपने भाई के पीछे बादशाह से बिगाड़ करना अच्छा न समझ तोपें लौटा दीं। जब अकबर को यह मालूम हुआ तब उसका दाँत रणथंभौर पर लगा। चित्तौड़ विजय कर उसी संवत् में उसने रणथंभौर पर चढ़ाई की। राजा मानसिंह भी साथ थे।

अकबर ने भारत के राजसिंहासन पर विराजमान होकर इस प्राचीन और अभेद्य गढ़ रणथंभौर पर अधिकार करने की विशेष अभिलाषा की। उसने स्वयं सेना-सहित इस विकट क़िले को जा घेरा। वीर तेजस्वी सुर्जन ने अपने असीम और अमानुषी पराक्रम से मुग़ल बादशाह की अगणित सेना का आक्रमण तुच्छ कर दिया। यद्यपि अकबर ने इस अभेद्य क़िले की दीवारों को ध्वंस करने में कोई कसर न की, पर केवल दीवारों के ध्वंस होने से ही क़िला हाथ आजाय ऐसी बात न थी। वहाँ तो पहाड़ों के तीन परकोटों के भीतर ७, ८ सौ फ़ीट ऊँची

दीवार खड़े पहाड़ की थी। इतने पर भी वह क़िला वीर हाड़ाओं से संरक्षित था। कुछ दिनों तक चेष्टा कर अकबर हतोद्योग हो गया। तब उसने आमेर के राजा भगवानदास और उनके कुँवर मानसिंह से कहा—क्या उपाय करें? यदि एक बार क़िले को देख भी लें तो अच्छा था। तब मानसिंह ने कहा—दिखा तो हम सकते हैं, पर आपको वेष बदलकर चलना होगा। बादशाह ने इसे स्वीकार कर लिया।

कुँवर मानसिंह ने राव सुर्जन से आतिथ्य की याचना की। वह राजपूत रीत्यनुसार स्वीकृत हुई। मानसिंह गढ़ में बुलाये गये। उनके साथ अकबर एक साधारण सेवक के वेष में गया। मानसिंह ने क़िले में पहुँचकर जिस समय राव सुर्जन के साथ बातचीत की उसी समय राव के काका भीमजी ने कपट-वेष-धारी अकबर को पहचान लिया और उसके हाथ से बल्लम छीन लिया। अकबर के होश उड़ गये। उसने कुँवर से कहा—अब क्या होगा? राजा मानसिंह ने राव को समझा बुझाकर अकबर से मेल करा दिया। अकबर ने रणथंभौर लेकर उसके बदले में ५२ परगने राव सुर्जनजी को दिये—२६ परगने बूँदी के पास और २६ चुनार काशी आदि पूरब देश में। अकबर ने १० शर्तों पर हस्ताक्षर किये जिनके कारण बूँदीवालों की स्त्रियाँ नौरोज़ पर जाने तथा डोला दिये जाने आदि से बची रहीं। काशी की सूबेदारी राव सुर्जन को मिली जहाँ उन्होंने अच्छे-अच्छे धार्मिक काम किये। इस संधि-पत्र के अनुसार राव सुर्जनजी के वंश, जाति और धर्म्म की पूर्ण रक्षा रही। अकबर ने सब स्वीकार कर सुर्जनजी को राव राजा की पदवी प्रदान की। राव सुर्जन ने लोभवश क़िला दे दिया पर सामंतसिंह ने अकबर के दाँत खट्टे

कर मरकर क़िला छोड़ा। इस प्रकार फिर यह प्राचीन प्रसिद्ध दुर्ग चौहानों के हाथ से निकलकर मुसलमानों के हाथ चला गया।

संवत् १८११ विक्रमी तक यह दुर्ग मुसलमानों के अधिकार में रहा। इस दुर्ग के अधीन ८३ मुहाल थे। कई एक रजवाड़ों का भी इससे संबंध था जिनमें कोटा, बूँदी, शिवपुर आदि बड़ी-बड़ी रियासतें भी थीं। संवत् १८१२ वि० में दिल्ली की शक्ति को घटाकर मरहठों ने राजपूताने में लूटमार मचा रक्खी थी। उन्होंने और-और क़िलों की भाँति इस किले को भी जा घेरा। पर यह क़िला साधारण तो था नहीं। दुर्गाध्यक्ष ने बड़ी वीरता से मरहठों का सामना किया। बारबार उसने दिल्ली से मदद माँगी पर वहाँ कौन सुनता था? तब दुर्गाध्यक्ष ने बूँदी के महाराव राजा उमेदसिंहजी को लिखा, पर वे अपने ही राज्य के उद्धार में लगे हुए थे। दुर्गाध्यक्ष की बातों पर उन्होंने ध्यान न दिया। दुर्गाध्यक्ष के पास जब तक सामान रहा, वह बराबर मरहठों से लड़ता रहा। खाना-दाना चुक जाने पर उसने जयपुरवालों को बिना शर्त क़िला समर्पण करने को लिखा। उस समय जयपुर की गद्दी पर सवाई माधोसिंहजी थे। माधोसिंहजी ने तुरंत सहायता भेजी। इसमें मावाड़ी के रावराजा प्रतापसिंहजी की वीरता और बुद्धिमानी ने बड़ा काम किया। मरहठे जयपुर की सेना को देख घेरा उठाकर चल दिये। दुर्गाध्यक्ष ने प्रतिज्ञानुसार किला जयपुरवालों के हवाले किया और आप चला गया। तब से यह ऐतिहासिक प्रसिद्ध प्राचीन और सुदृढ़ दुर्ग जयपुर महाराज के अधिकार में चला आ रहा है।

---

(३०) त्याग और उदारता

[राजपूताने के सब राजा अकबर बादशाह के अधीन हुए, पर उदयपुर के महाराणा प्रताप ने अधीनता नहीं मानी। सं० १६३३ में बादशाही फौज ने महाराणा पर चढ़ाई की। महाराणा बड़ी वीरता से लड़े। यह लड़ाई बहुत दिनों तक चलती रही। महाराणा को बड़े-बड़े कष्ट झेलने पड़े पर वे दृढ़ बने रहे। संकट के समय उनके देशभक्त और स्वामिभक्त मंत्री ने कैसा त्याग, उच्च हृदय और अकबर ने कैसी उदारता दिखाई उसी का दृश्य अंकित है।]

स्थान—मेवाड़ का सीमाप्रांत

[आगे-आगे घोड़े पर सवार राणा प्रतापसिंह, पीछे-पीछे घोड़े पर कुछ सरदार लोग।]

राणा—मेरे विपत्ति के सहायक भाइयो ! मेरे साथ तुम लोगों ने बड़े दुःख उठाए और अंत में अब यह दिन आया कि मुझ भाग्यहीन के साथ तुम्हें भी अपनी प्यारी जन्मभूमि को छोड़ना पड़ता है। अहा, सच है—

"जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी"

एक सरदार—अन्नदाता ! यह आपके कहने की बात है ? क्या अपने लिये यह कष्ट उठा रहे हैं ? जिस जन्मभूमि की रक्षा में आप इतने दुःख सह रहे हैं वह क्या हमारी नहीं है ? उसकी रक्षा करना क्या हमारा कर्तव्य नहीं है ?

राणा—पर भाई, इस अधम प्रताप के किए जन्मभूमि की

रक्षा भी तो नहीं हुई ! अब तो जन्मभूमि को भी शत्रुओं के हाथ में छोड़कर अज्ञातवास करने चले हैं ।

सरदार—क्या हुआ पृथ्वीनाथ ! कोई यह तो न कहेगा कि राणा प्रतापसिंह ने सुख की चाह में अपनी जन्मभूमि को यवनों के हाथ बेचा ? परमेश्वर की लीला कौन जानता है ! क्या आश्चर्य है कि फिर ऐसा समय आवे कि जब श्रीहुजूर अपने देश को शत्रुओं से लौटा सकें । धर्मावतार ! उस समय कलंकित पैर से तो राजसिंहासन पर न चढ़ेंगे ।

राणा—इसमें तो संदेह नहीं; और फिर अपनी आँखों से अपने देश की यह दुर्दशा देखते हुए जीते रहने से तो अनजाने विदेश में मरना ही अच्छा; क्योंकि—

"मरनो भलो विदेस को, जहाँ न अपनो कोय ।

माटी खायँ जनावराँ, महा महोच्छव होय ॥"

एक सरदार—ठीक है ।

दुरदिन पड़े रहीम कहि, दुरथल जैये भागि ।
जैसे जैयत घूर पर, जब घर लागति आगि ॥

राणा—सच है, अच्छा चलो भाइयो ! चलो, अब इस स्थान की मोह-माया छोड़ो । (आँखों में आँसू भरकर)

जेहि रच्छी इच्वाकु सों, अब लौं रविकुल-राज ।
हाय अधम परताप तू, तजत ताहि है आज ॥
तजत ताहि है आज, प्राण-सम प्यारी जोहि ।
हे मिवार सुखसार ! कृपा करि छमियो मोहि ॥

रह्यो सदा ह्वै भार, काज आयो तुम्हरे केहि ?
विदा दीजिए हमैं, भार हलुकाय आजु जेहि ॥

[सब लोग सजल नेत्र बेर-बेर पीछे की ओर देखते-देखते घोड़ा बढ़ाते हैं और दूर से घोड़ा दौड़ाते हाथ उठाकर रोकते हुए भामाशा दिखाई पड़ते हैं ।]

भामाशा—(पुकारकर) ओ मेवाड़ के मुकुट ! ओ हिंदू नाम के आश्रयदाता ! तनिक ठहरो, इस दास की एक विनती सुनते जाओ । भामाशा को अकेले छोड़कर मत जाओ ।

राणा—(घोड़ा रोककर) भामाशा ऐसे घबराए हुए क्यों आ रहे हैं ?

[भामाशा पास आजाते हैं और घोड़े से कूदकर राणा के पैरों पर रोते हुए गिरते हैं । राणा घोड़े से उतरकर भामाशा को उठा छाती से लगाते हैं । दोनों खूब रोते हैं ।]

राणा—मंत्रिवर ! तुम ऐसे धीर-वीर होकर आज ऐसे अधीर क्यों हो रहे हो ?

भामाशा—प्रभो, मेरे अधैर्य का कारण आप पूछते हैं ?

धिक सेवक जो स्वामि-काज तजि जीवन धारै ।
धिक जीवन जो जीवन-हित जिय नाहिं विचारै ॥
धिक शरीर जो निज-कर्तव्य-विमुख ह्वै बंचै ।
धिक धन जो तजि स्वामि-काज स्वारथ हित संचै ॥
धिक देशशत्रु किरतघ्न यह भामा जीवत नहिं लजत ।
जेहि अछत वीर परताप वर असहायक देसहिं तजत ॥

राणा—परंतु इसमें तुम्हारा क्या दोष? तुमने तो अपने साध्य-भर कोई बात उठा नहीं रक्खी।

भामाशा—अन्नदाता! यह आप क्या कहते हैं? परम स्वार्थी भामाशा ने आपके लिये क्या किया? अरे आपके अन्न से पला हुआ यह शरीर सुख से कालक्षेप करे और आप वन-वन की लकड़ी चुने और पहाड़-पहाड़ टकरायँ! प्रतापसिंह स्वाधीनता-रक्षार्थ, हिंदू नाम अकलंकित-करणार्थ देश-त्यागी हों और भामाशा अपने जन्मभूमि-निवास का स्वर्गोपम सुख भोगे! जिन राणा की जूतियों के प्रसाद से भामाशा, भामाशा बना है, वे ही राणा पैसे-पैसे को मुहताज हो, सहायताहीन होने के कारण निज देशोद्धार में असमर्थ हो, प्राणोपम जन्मभूमि को छोड़ मरुभूमि की शरण लें, और भामाशा धनी-मानी बनकर, ऐसे उपकारी स्वामी की सेवा छोड़कर विदेशीय, विजातीय, हिंदुओं के गौरव को मिटानेवाले राजा की प्रजा बनकर सुख-पूर्वक काल यापन करे! धिक्कार है ऐसे सुख पर!! धिक्कार है ऐसे जीवन पर!!!

राणा—पर भामाशा! तुम इसको क्या करोगे? जो भाग्य में होना है वही होता है। अब तुम क्या चाहते हो?

भामाशा—धर्मावतार! आज मेरी एक विनती स्वीकार हो, यह मेरी अंतिम विनती है।

राणा—क्या प्रतापसिंह ने कभी तुम्हारी बात टाली है?

भामाशा—तो अन्नदाता, एक बेर फिर मेवाड़ की ओर घोड़े की बाग मोड़ी जाय। इस दास के पास जो पचीसों लाख

रुपये की संपत्ति दरबार की दी हुई है उसी से फिर एक बेर सेना एकत्र की जाय और एक बेर फिर मेवाड़ की रक्षा का उद्योग किया जाय। जो इसमें कृतकार्य हुए तो ठीक ही है, नहीं तो फिर जहाँ स्वामी वहीं सेवक, जहाँ राजा वहीं प्रजा।

[राणा सरदारों की ओर देखते हैं।]

भामाशा—आप इधर-उधर क्या देखते हैं! अरे यह धन क्या मेरा या मेरे बाप का है? यह सब इन्हीं चरणों के प्रताप से है। मैं तो अगोरदार था, अब तक अगोर दिया, अब धनी जानें और उनका धन जाने।

कविराज—धन्य मंत्रिवर, धन्य! यह तुम्हारा ही काम था—

जेहि धन हित संसार बन्यो बौरो सो डोलै।
जेहि हित बेचत लोग धर्म अपुने अनमोलै॥
जो अनर्थ को मूल, सूल हिय में उपजावै।
पिता-पुत्र, पति-पत्नि, अनुज सो अनुज छुड़ावै॥

सो सात-पुरुष-संचित धनहि तृण-समान तुम तजत हौ।
धनि! स्वामिभक्त मंत्री-प्रवर, ताहू पै तुम लजत हौ॥

[बहुत से राजपूतों और भीलों का कोलाहल करते हुए प्रवेश।]

सब—महाराज! हम लोगों को छोड़कर आप कहाँ जा रहे हैं? चलिए एक बेर और लौट चलिए। जब हम सब कट मरें तब आपका जिधर जी चाहे पधारें।

राणा—जो आप लोगों की यही इच्छा है तो और चाहिए क्या?

चलो चलो सब वीर आजु मेवार उबारैं।
अहो आज या पुण्य-भूमि तें शत्रु निकारैं।
चिर-स्वतंत्र यह भूमि यवन-कर सों उद्धारैं।
हिंदू नामहिं थापि धर्म-अरिगनहिं पछारैं॥
नभ भेदि आजु मेवार पै, उड़ै सिसोदिय-कुल-ध्वजा।
जा सीतल छाया के तरे, रहै सदा सुख सों प्रजा॥

(चारों ओर से "महाराणा की जय" "हिंदू-पति की जय" आदि पुकारते हुए लोग उमंगपूर्वक कूदते उछलते हैं।)

(पटाक्षेप)

स्थान—दिल्ली शाही महल

[अकबर और खानखाना]

अकबर—उदयपुर से तो निहायत ही मनहूस खबर आई है। राणा के वफ़ादार वजीर ने अपनी पुश्तहा-पुश्त की कमाई दौलत वेदरेग राणा को दे दी है। सुना है, उसके पास इतनी दौलत है जिससे वह पचीस हजार फौज की बारह बरस तक परवरिश कर सकता है। शाबाश है उसकी दरियादिली और वफ़ादारी को, आफरीं है उसके हुब्बेवतनी और वेदारमगजी को। क्या दुनियाँ में भी ऐसे लोग हैं?

खानखाना—और सुना है, प्रताप बड़े जोश के साथ फौज मुहय्या कर रहा है और जंगजू राजपूत व भील बराबर आते-जाते हैं।

अकबर—वाह रे प्रतापसिंह, मैंने भी बहुत सी तवारीख़

देखी हैं मगर इसकी मिसाल मुझे कोई न मिला। शाबाश, गजब का बहादुर और गजब का जफाकश है!

खानखाना—मगर खुदावंद, मेरी यही इल्तिजा है कि ऐसे शख्स को अब जियादा तकलीफ न दी जाय। हुजूर, ऐसे बहादुर शख्स को सताना नाजेबा है।

अकबर—दिल तो हमारा भी यही चाहता है कि अब प्रताप-सिंह को बाक़ी जिंदगी आराम से काटने दें। राजा पृथ्वीराज आते हैं, देखें इनके पास राणा का जवाब क्या आया है।

[पृथ्वीराज का प्रवेश]

अकबर—आइए राजा साहब! तशरीफ रखिए। कहिए उदयपुर से कुछ जवाब आया?

पृथ्वीराज—हाँ जहाँपनाह! राणाजी लिखते हैं "मैंने कभी संधि की प्रार्थना नहीं की, मेरी यदि कोई प्रार्थना है तो यही कि अकबर स्वयं युद्ध-स्थल में आवें। एक हाथ में उनके तलवार हो और एक में हमारे, तब हमारा जी भर जाय। वे क्या वहाँ से बैठे-बैठे लड़कों को तथा अपने साले-ससुरों को भेजते हैं! हम क्या इन पर शस्त्र चलावें?"

अकबर—ठीक है, बहादुर प्रतापसिंह जो कुछ कहे सब बजा है, ये कलमे उसी को जेबा हैं।

खानखाना—अब तो जहाँपनाह! मेरी इल्तिजा कबूल हो और प्रतापसिंह पर बख्शिश की निगाह मबजूल हो।

भामाशा, कविराजा आदि तथा राजपूत और भील सरदारगण श्रेणीवद्ध खड़े हैं।]

(नर्तकियाँ नाचती और गाती हैं।)

गाओ गाओ आनंद वधाइयाँ।
हिंदूपति, क्षत्रिय-कुल-गौरव राणा सुख-सरसाइयाँ॥
राखी लाज आज भारत की अपुनी टेक निवाहियाँ।
जुग जुग जीए मेरे साईं तन मन धन सब वारियाँ॥

राणा—मेरे प्यारे भाइयो ! आज श्री एकलिंगजी की कृपा और तुम लोगों के उद्योग से यह दिन देखने में आया कि इस पवित्र स्थान से हिंदू-द्वेषी यवनों का पौरा गया और फिर आज हम लोगों ने अपनी प्यारी जन्मभूमि का दर्शन पाया। जिस स्वाधीनता की रक्षा के लिये हम लोगों के अगणित पूर्व-पुरुषों ने अकुंठित हो संग्राम-स्थल में परमप्रिय जीवन विसर्जित किया था वह आज हमें जगदीश्वर की कृपा से प्राप्त हुई। इससे बढ़कर भी कोई आनंद की वात हो सकती है ? प्यारे भाइयो ! बस हमारा यही उपदेश है कि संसार में जीना तो अपने गौरव-सहित जीना, नहीं मरना तो हई है। आहा ! महाबाहु अर्जुन का कैसा आदरणीय और अनुकरणीय सिद्धांत था—

आयु रक्षति मर्माणि, आयुरन्नं प्रयच्छति।
अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे, न दैन्यं न पलायनम्॥

कविराजा—ठीक है, पृथ्वीनाथ ! आप जो आज्ञा कर रहे हैं उसे आपने प्रत्यक्ष उदाहरण-स्वरूप कर भी दिखाया। आहा !

गया और मालपुरा का बाजार लूट ले गया। मैं किसी तरह जान बचाकर हुजूर को खबर देने आया। नहीं मालूम और लोगों की क्या हालत है।

अकबर—(क्रोधपूर्वक खानखाना से) कहिए अब आप क्या फरमाते हैं ?

खानखाना—खुदावंद ! प्रताप के लिये तो यह कोई नई बात नहीं है, मगर हुजूर का हुक्म जो एक मर्तबा जुबान मुबारक से निकल चुका, क्योंकर पलट सकता है ?

अकबर—मगर इसमें सख़्त बद्नामी होगी।

पृथ्वीराज—जगत्-विजयी अकबर के उद्दंड प्रताप को कौन नहीं जानता ? प्रताप के मुकाबले अकबर को कौन बद्नामी दे सकता है ?

खानखाना—और फिर मेरी अकल-नाकिस में तो प्रताप ऐसे बहादुर से दरगुजर करना ऐन फख्र का बाइस है, बल्कि उसे सताना ही बद्नामी है।

[नेपथ्य से "अजान" का शब्द सुनाई दिया।]

अकबर—नमाज का वक्त हो गया। इस वक्त यह शूरः मुलतवी रहे, फिर गौर किया जायगा।

(सब का प्रस्थान)

स्थान—उदयपुर राज-दरबार

[परम सुसज्जित तथा आलोकमय राज-सिंहासन पर महाराणा प्रतापसिंह विराजमान हैं। दोनों ओर गुलाबसिंह,

भामाशा, कविराजा आदि तथा राजपूत और भील सरदारगण श्रेणीवद्ध खड़े हैं।]

(नर्तकियाँ नाचती और गाती हैं।)

गाओ गाओ आनंद वधाइयाँ।
हिंदूपति, क्षत्रिय-कुल-गौरव राणा सुख-सरसाइयाँ॥
राखी लाज आज भारत की अपुनी टेक निबाहियाँ।
जुग जुग जीए मेरे साईं तन मन धन सब वारियाँ॥

राणा—मेरे प्यारे भाइयो! आज श्री एकलिंगजी की कृपा और तुम लोगों के उद्योग से यह दिन देखने में आया कि इस पवित्र स्थान से हिंदू-द्वेषी यवनों का पौरा गया और फिर आज हम लोगों ने अपनी प्यारी जन्मभूमि का दर्शन पाया। जिस स्वाधीनता की रक्षा के लिये हम लोगों के अगणित पूर्व-पुरुषों ने अकुंठित हो संग्राम-स्थल में परमप्रिय जीवन विसर्जित किया था वह आज हमें जगदीश्वर की कृपा से प्राप्त हुई। इससे बढ़कर भी कोई आनंद की बात हो सकती है? प्यारे भाइयो! बस हमारा यही उपदेश है कि संसार में जीना तो अपने गौरव-सहित जीना, नहीं मरना तो हई है। आहा! महाबाहु अर्जुन का कैसा आदरणीय और अनुकरणीय सिद्धांत था—

आयु रक्षति मर्माणि, आयुरन्नं प्रयच्छति।
अर्जुनस्य प्रतिज्ञे द्वे, न दैन्यं न पलायनम्॥

कविराजा—ठीक है, पृथ्वीनाथ! आप जो आज्ञा कर रहे हैं उसे आपने प्रत्यक्ष उदाहरण-स्वरूप कर भी दिखाया। आहा!

जो न प्रगट होते प्रताप भारत-हितकारी।
को करि सकत कलंक-रहित हिंदू-व्रतधारी?
अकबर से उद्दंड शत्रु दरि निज-प्रण राखी।
को हिंदू-गौरव को सब जग करतो साखी?
या प्रबल म्लेच्छ इतिहास में, हिंदू नाम बिलावतो।
को हे प्रताप! बिनु तुव कृपा, यह अपवाद मिटावतो॥

राणा—कविराजाजी! आप मुझे व्यर्थ की बड़ाई देते हैं, मैं तो निमित्तमात्र था। जो ये सब राजपूत और भील सरदारगण सहायता न करते तो मैं अकेला क्या कर सकता था? आहा! झाला महाराज मानसिंह ने तृणवत् अपना शरीर दे दिया और मुझे बचाया, महाराज खंडेराव, राजा रामसिंह ऐसे वीर पुरुषों ने मेरे लिये क्या-क्या न किया। हाय! मैं अब इनके लिये क्या कर सकता हूँ? बड़े कविराजाजी ने अपने देश की जैसी सेवा की और जिस भाँति प्राण दिया, कौन नहीं जानता? जब तक पृथ्वी रहेगी, इन लोगों का यश स्वर्णाक्षरों में मेवाड़ के इतिहास में अंकित रहेगा। प्यारे चेतक ने पशु होकर मेरा जैसा उपकार किया उससे मैं कभी उऋण नहीं हो सकता। मंत्रिवर! जहाँ चेतक का शरीर गिरा है वहाँ एक उत्तम समाधि बनवाई जाय और प्रतिवर्ष उसके संमानार्थ मेला लगा करे। मैं स्वयं वहाँ चला करूँगा। (कविराजा से) कविराजाजी! आप एक पर्वाना लिखिए कि जब तक मेरे और भामाशा के वंश में कोई रहे, मंत्री का पद भामाशा के वंशज को ही दिया जाय। आज मैं इन्हें प्रथम-श्रेणी के सरदारों में स्थान देकर झटक-पट ताजीम, पैर में सोने का लंगर, पाग पर माँझा आदि यावत्-प्रतिष्ठा

बख्शता हूँ, जो इनकी सेवा के आगे सर्वथा तुच्छ है। (गुलाब-सिंह के प्रति) वत्स गुलाबसिंह ! तुमने अपने प्रण को जैसी दृढ़ता से निवाहा, सबको उससे शिक्षा लेनी चाहिए। आहा ! तुम्हारा और मालती का प्रेम आदर्श-स्वरूप है। तुम दोनों ने अपने-अपने प्रण को दृढ़ता-पूर्वक निबाहा, इसलिये विलंब का प्रयोजन नहीं। मंत्री ! मेरी ओर से मालती के विवाह की तैयारी की जाय। दायजे में जागीर आदि का सब प्रबंध मैं स्वयं करूँगा। आप एक शुभ मुहूर्त दिखलावें और अब इस शुभ संयोग में विलंब न करें। मैं स्वयं इन दोनों का विवाह अपने हाथ से करूँगा।

(गुलाबसिंह राणा के पैरों पर गिरता है, और राणा उठा-कर उसे हृदय से लगाते हैं।)

(राजकुमार के प्रति) देखो; कुँवरजी ! अपने धर्म और देश-रक्षार्थ मैंने जो-जो कष्ट सहे हैं, तुमने अपनी आँखों से देखा है। देखो, ऐसा न हो कि तुम हमारे पीछे विलासप्रियता में पड़ अपने पिता का नाम डुबाओ, प्रताप की कीर्त्ति पर धव्वा लगाओ, और मरने पर मेरी आत्मा को सताओ। मेरे इन वाक्यों को सदा स्मरण रखना—

जब लौं जग में मान तबहि लौं प्रान धारिए।
जब लौं तन में प्रान न तब लौं धर्म छाँड़िए॥
जब लौं राखै धर्म तबहिं लौं कीरति पावै।
जब लौं कीरति लहै जन्म सारथ कहवावै॥
हे वत्स ! सदा निज वंश की, मरजादा निरवाहियो।
या तुच्छ जगत-सुख कारनै, जनि कुल-नाम हँसाइयो॥

(सरदारों के प्रति)

मेवाड़ की शोभा, मेरे प्यारे भाइयो !

यह बालक अज्ञान, सौंपत तुमको आजु हम ।
जब लौं तन में प्रान, मान जान जनि दीजियो ॥

(सब सरदारगण सिर झुका हाथ जोड़ सजलनेत्र पृथ्वी की ओर देखते हैं ।)

(नर्तकियाँ गाती हैं ।)

यह दिन सब दिन अचल रहै ।
सदा मिवार स्वतंत्र विराजै निज गौरवहिं गहै ॥
घर-घर प्रेम एकता राजै, कलह कलेस बहै ।
बल, पौरुष, उत्साह, सुदृढ़ता आरजबंस च्रहै ॥
वीर-प्रसविनी वीर-भूमि यह वीरहिं प्रसव करै ।
इनके वीर क्रोध में परि अरि कायर क्रूर जरै ॥
राजा निज मरजाद न टारै, प्रजा न भक्ति तजै ।
परम पवित्र सुखद यह शासन, सब दिन यहाँ सजै ॥
जब लौं अचल सुमेरु विराजत, जब लौं सिंधु गँभीर ।
तब लौं हे प्रताप ! तुव कीरति गावैं सब जग वीर ॥
हे करुणामय दीनबंधु हरि ! नित तुव कृपा बसै ।
यह आरत भारत दुख तजिकै परम सुखहिं बिलसै ॥

(परम प्रकाश के साथ धीरे-धीरे पटाक्षेप ।)

—राधाकृष्णदास

(३१) महाराज हरिश्चंद्र

सूर्यवंश के क्षत्रिय राजाओं ने सब से पहले हिंदुस्तान का राज्य किया। इनमें सब से पहला राजा इक्ष्वाकु हुआ, इक्ष्वाकु से अट्ठाईसवीं पीढ़ी में प्रसिद्ध सत्यवादी और दानी राजा हरिश्चंद्र हुए। ये महाराज रामचंद्रजी से पैंतीस पीढ़ी पहले हुए थे। इनकी राजधानी सरयू नदी के तट पर अयोध्या नगरी थी।

राजा हरिश्चंद्र की दया, न्याय और उदारता से यहाँ की प्रजा सुख से दिन विताती थी, राजा अपनी प्रजा को अपने बच्चों की तरह पालते थे, इस बात का बड़ा ध्यान रहता था कि कोई प्रजा भूखी या दुखी न रह जाय, चाहे कोई हो राजा की ड्योढ़ी से विमुख न फिरता, चाहे संसार इधर का उधर हो जाय पर राजा दान और सच बोलने से मुँह न मोड़ता, राजा का यह सिद्धांत था—

"चंद टरै सूरज टरै, टरै जगत व्यौहार।
पै दृढ़ श्री हरिचंद को, टरै न सत्य विचार॥"

राजा की स्त्री का नाम रानी शैब्या था और पुत्र का कुमार रोहिताश्व। राजा अपनी स्त्री और पुत्र के साथ बड़े सुख से अपनी सुखी प्रजा को पालता हुआ, धर्म के कामों में समय विताता था। पर किसी के भी सब दिन एक से नहीं जाते। राजा के धर्म-कार्य ही उसके शत्रु हुए। उसके दान, धर्म और सचाई की बड़ाई धीरे-धीरे इंद्रलोक तक पहुँची। राजा इंद्र को बड़ी डाह हुई। वह डरा कि कहीं हरिश्चंद्र बढ़ाते-बढ़ाते एक दिन मेरे राज्य पर न हाथ फैलावे, इसे किसी तरह सत्य-

भ्रष्ट कर अधिकार से गिराना चाहिये। राजा इंद्र यह सोच विचार कर ही रहे थे कि विश्वामित्र ऋषि घूमते-फिरते वहाँ आ निकले। ऋषि का स्वभाव कुछ क्रोधी था और अपने आगे वह किसी दूसरे की बड़ाई को तुच्छ मानते थे। इंद्र उस समय उन्हें देखकर बड़ा ही प्रसन्न हुआ और उसने उनका बड़ा आदर-सत्कार कर राजा हरिश्चंद्र की बात छेड़ी। इंद्र ने हरिश्चंद्र के गुणों को ऋषि के सामने इस तरह पर कहा कि ऋषि के जी में यह भासा कि हरिश्चंद्र पाखंडी है और क्रोध में आकर ऋषि ने प्रतिज्ञा की कि मैं हरिश्चंद्र की परीक्षा लूँगा और उसको सत्य-भ्रष्ट करके तब छोड़ूँगा। ऋषि यह विचार कर हरिश्चंद्र के राज्य में आये और अपने योग-बल से राजा हरिश्चंद्र को रात के समय सपना दिया। सपने में ऋषि ने राजा से उनका सारा राजपाट दान में माँगा। दानी राजा ने बिना संकोच तुरंत सारा राज्य दान में दे दिया; इतने में राजा की नींद खुल गई। वह बड़े सोच में हुआ कि क्या करूँ, ब्राह्मण को राज्य दान दिया, पर वह सपना था, ब्राह्मण कौन था इसका पता नहीं, पर मैं दान देनेवाला तो विद्यमान हूँ, मैं कैसे दान दिए हुए राज्य को भोगूँ? और राज्य छोड़ ही दूँ तो किसको सौंपूँ। उस ब्राह्मण को कहाँ पाऊँ वह तो सपने का खेल था? राजा को इन्हीं विचारों में बाकी रात बीती, नींद न आई। सबेरा होने पर नित्य-क्रिया से निपट अपने नियम के अनुसार राजा अपने दर्बार में आया। बंदी लोग राजा के गुण इस प्रकार गाने लगे—

"प्रगटहु रविकुल-रवि निसि बीती प्रजा-कमल-गन फूले।
मंद परे रिपुगन तारा-सम जनभय-तम उनमूले॥

नसे चोर लंपट खल लखि जग तुव प्रताप प्रगटायो।
मागध वंदी सूत चिरैयन मिलि कल रोर मचायो॥
भये धरम में थित सब द्विज जन प्रजा काज निज लागे।
रिपु-जुवती मुख-कुमुद मंद जन चक्रवाक अनुरागे॥

राजा ने सभा में बैठकर रानी और मंत्रियों से रात के सपने का वृत्तांत कहा और तब वे पूछने लगे कि अब क्या करना चाहिये? सब लोग राजा को यही सलाह देने लगे कि सपने की बातों का क्या प्रमाण है? पर धर्मात्मा राजा के मन में यह बात न उतरी और अंत में उसने यह निश्चय किया कि आज से मैं इस राज्य का स्वामी नहीं हूँ, राज्य उस अनजाने ब्राह्मण का, मैं उसका मंत्री बनकर राज्य का काम चला दूँगा। इसका प्रबंध राजा कर ही रहा था कि महाक्रोधी विश्वामित्रजी पैर पटकते क्रोध में भरे राजसभा में आ पहुँचे। राजा ने तुरंत ही उन्हें पहिचान लिया कि इन्हीं को तो रात को सपने में मैंने राज्य दान दिया था। राजा ने बड़े हर्ष से उठकर विश्वामित्रजी को प्रणाम किया। उन्होंने बे-मन का आशीर्वाद देकर कहा—"बोल तैंने मुझको पहिचाना कि नहीं?" राजा ने कहा—"भला संसार में ऐसा कौन है जो आपको न पहिचानता हो?"। विश्वामित्र बोले—"तो बोल तुझे कुछ याद है? तैंने कुछ देने को कहा है?"। राजा ने हाथ जोड़कर कहा—"महाराज! मुझे खूब याद है और मैं आपके पधारने के पहले ही इसका प्रबंध कर चुका था, अब आप अपनी थाती सँभालिए और मुझे छुट्टी दीजिए।"

विश्वामित्र ने राजा की इस उदारता और सचाई से कुछ झिप-कर कहा—"स्वस्ति हो, राजन्! तेरा जैसा नाम सुनता था वैसा

ही पाया, पर अब इस बड़े भारी दान की दक्षिणा तो दे?" राजा ने हँसकर मंत्री से कहा—"अभी एक हज़ार अशर्फ़ी लाओ" यह सुनते ही विश्वामित्र उठ खड़े हुए और मारे क्रोध के काँपते हुए कहने लगे—"अरे झूठे दानी पाखंडी क्षत्रिय! रहने दे अपना दान, मुझे तेरा दान न चाहिए। इसी पर तुझे अपने धर्मात्मा-पन का अभिमान है? जब सारा राज्य तैंने हमको दे दिया तब राज्य का खजाना कहाँ से तेरा रह गया जो उसमें से लेकर दक्षिणा देगा?" राजा घबड़ाकर उनके पैरों पर गिर पड़ा और बोला—"महाराज! क्षमा कीजिए, मैं भूला, सचमुच अब मेरा कोई अधिकार नहीं है, पर महाराज! अभी मेरा शरीर बचा है मैं इसे बेचकर आपकी दक्षिणा दूँगा, मुझे एक महीने का समय दीजिये। महाराज! मैं झूठा नहीं हूँ।

"बेचि देह दारा सुअन, होइ दास हू मंद।
राख्यो निज बच सत्य करि, अभिमानी हरिचंद॥"

विश्वामित्र ने मन में कहा—"देखें यह अभिमान कब तक ठहरता है?" राजा से कहा—"अच्छा, मैं एक महीने का समय देता हूँ, जो इसके भीतर मेरी दक्षिणा न मिली तो मैं सारे संसार में दुहाई फेर दूँगा कि हरिश्चंद्र सत्य-भ्रष्ट हो गया"। राजा तुरंत अपने शृंगार उतार केवल एक धोती पहिने चलने को तैयार हुआ। राजा ने पृथ्वी की ओर देखकर कहा—

"जेहि पाली इक्ष्वाकु-सों, अब लौं रविकुल-राज।
ताहि देत हरिचंद नृप, विश्वामित्रहिं आज॥
वसुधे! तुम बहु सुख कियो, मम पुरुषन की होय।
धरम-बद्ध हरिचंद को, छमहु सु परवस जोय॥"

राजा को चलता हुआ देखकर रानी से न रहा गया, राजा का पल्ला पकड़कर बोली—"नाथ! मुझे किसके भरोसे छोड़े जाते हैं?" 'जहाँ देह तहाँ छाया' जहाँ आप रहेंगे वहीं मेरा भी ठिकाना है। राजा ने कहा—"जो यही इच्छा है तो राजवेष उतारो और हमारे साथ चलो।" निदान रानी भी एक सादी साड़ी पहिने पीछे हो ली। नादान कुमार भी माँ का आँचल पकड़ लटपट करता चला। कठोर-हृदय विश्वामित्रजी निर्दय-भाव से इस दृश्य को देखते रहे। अयोध्या की सारी प्रजा आँखों में आँसू भरे महाराज की यात्रा-समय की छवि देखती और हाहाकार करती ही रह गई। महाराज हरिश्चंद्र स्त्री पुत्र के साथ, विना दुःख और मोह के धीर भाव से अपने राज्य को छोड़कर, अत्यंत साधारण मनुष्य की भाँति चल पड़े।

राजा घर से तो निकला पर अब इस विचार ने आ घेरा कि सारी पृथ्वी तो मैंने दान देदी अब कहाँ से शरीर वेचकर धन लूँ और ब्राह्मण के ऋण से छूटूँ? उसी समय राजा के मन में आया कि शास्त्रों में लिखा है कि काशी तीनों लोक से अलग है, शिवजी की नगरी है, वहाँ शरीर वेचने से कोई दोष नहीं। यह विचार उठते ही राजा बड़ा प्रसन्न हुआ और काशी की ओर चला। राजा के पीछे रानी और उसके साथ कुमार गिरता-पड़ता, रोता हुआ चला। जिधर से ये लोग निकलते वहाँ के लोग इनकी दशा देख व्याकुल हो जाते और राजा के धर्म और सत्य की सराहना करते।

बच्चे के साथ होने से राजा को काशी पहुँचने में बहुत देर लगी। जिस दिन दक्षिणा चुकाने की बात थी उसी दिन राजा काशी पहुँचा। काशी की शोभा देख राजा का मन लुभा गया।

गंगाजी के तट पर आकर उसने कुछ सुसताना चाहा। घाटों और किनारे के मंदिर और हवेलियों की सुंदरता पर मोहित हो वह मन ही मन प्रसन्न होने लगा कि इतने में ऋषि की दक्षिणा की अवधि याद आई, वह घबड़ाकर उठ खड़ा हुआ और बोला—"हाय! ऋणी को सभी ठिकाने दुःख है। मुझे काशी में आकर दो घड़ी भी शांति के साथ बैठना नसीब न हुआ। ऋषि आते ही होंगे, जो कहीं समय पर उन्हें दक्षिणा न मिली तो मेरा सत्य भ्रष्ट हो जायगा।" राजा यह सोचकर शरीर बेचने के लिये बाजार की ओर चलना ही चाहता था कि लाल-लाल आँख निकाले विश्वामित्र ऋषि पैर पटकते आ पहुँचे और बोले—"अरे झूठों के सरदार! बोल अभी महीना पूरा हुआ कि नहीं? ला दक्षिणा कहाँ है?" राजा सब कुछ सह सकता था पर झूठा शब्द उसे सहन न था, उसके होंठ फड़कने लगे, आँखों में लाली दौड़ गई और भुजा फड़क उठी, पर क्रोध को सँभालकर राजा बोला—"महाराज! और जो जी में आवे कहिए, पर हरिश्चंद्र को झूठा न कहिए। मैं अभी यहाँ पहुँचा हूँ, आपके डर से सुसताया भी नहीं कि शरीर बेचने बाज़ार की ओर चला था इतने ही में आप आ गए। महाराज! अभी हमारे कुल-गुरु भगवान् सूर्य ने हमारा सत्य बचा रक्खा है, उनके अस्ताचल जाने तक जो मैं आपका ऋण न चुका सकूँ तो आपकी जो इच्छा हो सो कहना, तब तक कृपाकर हरिश्चंद्र को झूठा न कहिए।" विश्वामित्र लजाकर चले गए। राजा उदास मन बाज़ार में आया। घूंघट की ओट किए, बच्चे की उंगली पकड़े रानी भी पीछे लग ली। राजा उस समय की चाल के अनुसार सिर पर तृण रखकर अपने शरीर का सौदा

करने के लिए बाज़ार में घूम-घूमकर पुकारने लगा—"सुनो सुनो, भाई सेठ साहूकार धनी काशीबासी ! ब्राह्मण के ऋण में पड़कर हम अपने शरीर को हज़ार अशर्फ़ी में बेचते हैं सो जिन्हें इच्छा हो मोल लेकर हमें ऋण से छुड़ावे"। रानी ने रोकर कहा—"महाराज ! मेरे रहते आप अपना शरीर नहीं बेच सकते। मेरे बिकने पर जो पूरा न पड़ेगा तो आपके जी में जो आवे सो करना।" राजा का जी भर आया, धीरज दूर भागा। वह रो उठा। रानी राजा के उत्तर की बाट न देख, नीचा सिर किए, घूंघट की ओट से अपने भरसक ऊँचे स्वर से पुकारने लगी—"सुनो भाई नगरबासी ! यह दासी बिकती है कोई कृपाकर लेना चाहो तो लो।" माँ बाप की बातें सुन और उन्हें रोते देख बालक भी न सँभल सका और रो रोकर पुकारने लगा—"अले छुनो भाई नगल बाछी ! अमको बी कोई किलपा कलके लेव।" बालक के करुणा-वचन सह्य न हुए, राजा रानी दोनों पुकार कर रो उठे, फिर अपने को सँभालकर राजा ने बच्चे को गोद में उठाकर मुँह चूमकर कहा—"बेटा ! राजा हरिश्चंद्र के जीते ही तुम बिकने लगे ! नहीं मुन्ना नहीं ! जो हरिश्चंद्र अपना ऋण आप न चुका सकेगा तो तुम सुपूत का काम करना, उसको पूरा करना।" यह लीला देख सारे बाज़ार में हलचल मच गई। लोग सुध-बुध भूल इसी सौदे की चर्चा करने लगे। गली-गली और घर-घर यह ख़बर पहुँच गई और झुंड के झुंड नर-नारी शोक-भरी तीनों मूर्तियों को देखने के लिए आने और इनकी बेबसी पर आँसू बहाने लगे। कोई-कोई जी कड़ा करके दो चार बातें राजा से पूछता, कोई मुँह फेरकर हट जाता और कोई दो चार तानेबाज़ी भी कर देता। राजा समय का फेर समझ सब कुछ

सहता हुआ अपने काम में लगा रहा। उसके कान सच्चे गाहक की बात सुनने को अकुला रहे थे, कलेजा ऋणी का समय बीतता देख धड़क रहा था, पर धीर हरिश्चंद्र बिना घबड़ाए, भूख-प्यास की सुधि बिसराये अपने सौदे की पुकार में मग्न था। जैसे अथाह में डूबते हुए को एक लकड़ी का सहारा मिलने से प्राण आ जाता है वैसे ही एक बूढ़े ब्राह्मण की धीमी आवाज़ ने राजा को बड़ा सहारा दिया। राजा ने देखा कि भीड़ को हटाता हुआ एक विद्यार्थी के साथ एक बूढ़ा ब्राह्मण "कहाँ दासी बिकती है, कहाँ दासी बिकती है?" पूछता उसी ओर चला आ रहा है। ब्राह्मण राजा, रानी और बालक को देखकर मोह में आ गया। चक्रवर्त्तियों के लक्षणवाले महापुरुष को मुकुट के ठिकाने सिर पर तृण धरे और परम सुकुमारी रानी के ऐसी स्त्री को सिसकती हुई धरती में समा जाने का उद्योग करते हुए देखकर ब्राह्मण को साहस न हुआ कि कुछ पूछे। राजा ने आप ही आगे बढ़कर ब्राह्मण देवता से पूछा—"महाराज! क्या आप दासी लेना चाहते हैं?" ब्राह्मण लंबी साँस लेकर बोला—"हाँ इच्छा तो हमारी ऐसी ही है पर पहले यह बतलाइए कि आप कौन हैं और क्यों ऐसी दशा को प्राप्त हुए हैं?" राजा ने कहा—"देवता! मैं क्षत्रिय हूँ और ब्राह्मण के ऋण में पड़कर मेरी यह दशा हुई है, इससे बढ़कर मैं कुछ नहीं कह सकता। आप मोल लेना चाहते हों तो बड़ा उपकार हो।" ब्राह्मण ने कहा—"तो आप मुझसे रुपया लेकर ब्राह्मण का ऋण चुका दें।" राजा ने कान पर हाथ धरकर कहा—"हरे! हरे! यह कैसे हो सकता है। ब्राह्मण से लेकर ब्राह्मण का ऋण कैसे चुका सकता हूँ? महाराज! क्षमा कीजिए, क्षत्रिय का यह काम

नहीं।" ब्राह्मण ने कहा—"अच्छा तो यह पाँचसौ अशर्फ़ी लो और इस सुकुमारी को मेरे साथ कर दो"। बेटी! तू कौन-कौन काम करेगी? रानी ने धीरे से कहा—"महाराज पराए पुरुष के साथ बात और जूठा भोजन छोड़कर जो काम गृहस्थी के होंगे दासी सब करेगी।" ब्राह्मण ने पाँचसौ अशर्फ़ी राजा को गिन दीं और रानी को साथ चलने के लिए कहा। रानी ने रोते-रोते राजा के पैर पकड़कर कहा—"नाथ! दासी जन्म-भर के लिये विदा होती है, न जाने इस जन्म में फिर कभी दर्शन होंगे या नहीं, दुःख इतना ही है कि मेरे बिकने पर भी नाथ का ऋण न चुका, अब आप न जाने कैसे स्वामी के पल्ले पड़ेंगे?" राजा ने पत्थर का कलेजा करके कहा—"देवि! यह समय दुःख का नहीं, धैर्य का है, समय न खोओ ब्राह्मण देवता को कष्ट होता है, जाओ। देखो! स्वामी की सेवा में कसर न करना, स्वामी के बच्चों को अपने बच्चे से बढ़कर जानना और स्वामी की स्त्री को सदा प्रसन्न रखना। सेवक-धर्म बड़ा कड़ा है, इसे खूब याद रखना, यह बात खूब समझ रखना कि अब तुम्हें अपने शरीर पर कोई अधिकार नहीं है, अब स्वामी की नींद सोना और स्वामी की भूख खाना होगा। अच्छा जाओ! अब मोह छोड़ो।" रानी ने कहा—"महाराज! आपकी आज्ञा सिर आँखों पर है, मेरी तो क्या सामर्थ्य है कि धर्म निबाह सकूँ, पर आप भी परमेश्वर से प्रार्थना करें कि दासी का मन कभी धर्म-पथ से न फिसले। नाथ! अब मुझे विदा दीजिए। मेरे सब अपराधों को क्षमा कीजिए और अपना पहला नाता जान कभी-कभी याद कीजिएगा।" राजा अब न रोक सका, ज़ोर से रो उठा, पर रानी अपने को सँभाल ब्राह्मण के पीछे

चली। बालक माँ-बाप की दशा देख भौंचक-सा खड़ा था पर माँ को जाते देख रह न सका। एक हाथ से माँ का आँचल और दूसरे से बाप का पल्ला पकड़कर खड़ा हो गया। राजा ने रोते हुए बालक को गोद में उठाकर मुँह चूमा और कहा—"बेटा! मुझ अभागे के साथ तुम्हारा काम नहीं। तुम अपनी माँ के साथ जाओ।" निदान पत्थर का कलेजा करके राजा ने रानी और कुमार को विदा किया ही था कि क्रोध में फों-फों करते पैर पटकते विश्वामित्रजी आ पहुँचे और बोले—"बोल! अभी अवधि पूरी हुई कि नहीं"? राजा ने हाथ जोड़कर कहा—"महाराज! लीजिए, स्त्री को बेचकर पाँच-सौ अशर्फ़ी मिली हैं उन्हें लीजिए। अभी दो घड़ी दिन और है इतने में अपने को भी बेचकर पूरी दक्षिणा देता हूँ।"

अशर्फ़ियाँ लेकर विश्वामित्रजी मन ही मन राजा की बड़ाई करते हुए बोले—"अच्छा जल्दी कर, नहीं तो फिर मैं न मानूँगा।" राजा फिर अपने को बेचने के लिए "सुनो भाई सेठ साहूकार" आदि कहता हुआ बाज़ार में घूमने लगा।

दास बिकने की बात श्मशान के डोम चौधरी के कान में पहुँची, उसे एक दास का काम था। वह चट एक नौकर के हाथ अशर्फ़ी की थैली लिवाए बाज़ार में पहुँचा और लोगों की भीड़ हटाकर राजा के पास जाकर बोला—"क्या तुम्हीं बिकते हो?" राजा ने उसकी विकट मूर्ति देखकर घबड़ाकर पूछा—"तुम कौन हो?" चौधरी ने अकड़कर कहा—

"हम चौधरी डोम सरदार। अमल हमारा दोनों पार॥

सब मसान पर हमरा राज। कफ़न माँगने का है काज ॥
सो हम तुमको लेंगे मोल। देंगे दाम गाँठ से खोल ॥"

राजा का जी यह सुनते ही काँप उठा। विश्वामित्रजी से हाथ जोड़कर कहा—"महाराज! मुझे बचाइए, मुझे चांडाल होने से बचाइए, अपनी ही सेवा में रखिए, जो आज्ञा दीजिएगा वही टहल करूँगा।"

विश्वामित्र ने कहा—"अच्छा जो हम कहेंगे वह करेगा न?" राजा ने कहा—"महाराज! इसमें भी कुछ संदेह है?" विश्वामित्र ने ज़ोर से कहा—"तो अभी इस चौधरी के हाथ अपने को बेचकर बाकी की पाँच-सौ अशर्फ़ी दे।" राजा ने कहा—"जो आज्ञा" और चौधरी से कहा—सुनिए चौधरीजी! हम आपके हाथ बिकते हैं। पाँचसौ अशर्फ़ी आप ऋषि महाराज को दीजिए, पर हमारा यह नियम रहेगा सो सुन लीजिए—

"भीख असन कंमल वसन, रखि हैं दूर निवास।
जो प्रभु आज्ञा होइ है, करिहैं सब ह्वै दास ॥"

चौधरी ने पाँच-सौ अशर्फ़ी विश्वामित्र को गिन दीं। पूरी दक्षिणा पाकर विश्वामित्रजी बोले "स्वस्ति! आप मेरे ऋण से छूटे। अब अपने स्वामी को प्रसन्न कीजिए।" हरिश्चंद्र ने ऋषि को दंडवत करके लंबी साँस लेकर मन ही मन कहा—

"ऋण छूट्यो पूर्‌यो वचन, द्विजहु न दीनो साप।
सत्य पालि चंडाल हू होइ आजु मोहि दाप ॥"

राजा ने चौधरी से कहा—"स्वामिन्! मुझे जो आज्ञा हो करूँ"। चौधरी ने कहा—"हमारे साथ आओ, हम मसान पर

चलकर तुम्हारा काम तुम्हें सहेज देते हैं।" राजा चौधरी के पीछे हो लिया। यह देख सारे नगर के लोग त्राहि-त्राहि करने लगे।

राजा आज काशी के महा श्मशान पर अपने स्वामी की आज्ञा पालन कर रहा है। कंधे पर कंमल रक्खे हाथ में मोटा-सा लट्ठ लिए मुर्दों से कर लेने का काम कर रहा है। कब किसके भाग्य में क्या होना है कोई नहीं जानता। चक्रवर्ती राजा हरिश्चंद्र को आज अधम से अधम वृत्ति करनी पड़ी है। परंतु धर्मात्मा हरिश्चंद्र इसमें बड़े संतुष्ट हैं। उन्हें बड़ा हर्ष है कि ऐसी नीच वृत्ति को अवलंबन करके भी उन्होंने अपना धर्म नहीं खोया। सुख-दुःख आते जाते ही रहते हैं। राजा को जैसे सारी पृथ्वी का राज्य था वैसे ही आज इस श्मशान का राज्य जान पड़ता है। अब उन्हें अपने स्वामी की भलाई से काम है। रात-दिन यही चिंता है कि कोई बिना कर दिए मुर्दा न फूँक जाय और मेरे स्वामी की हानि न हो। रात और दिन श्मशान में घूम-घूमकर ललकारते "खबरदार! खबरदार! कोई बिना हमसे पूछे और बिना कर चुकाए संस्कार न करना।" घूमते-घूमते थककर एक स्थान पर राजा बैठ गया, श्मशान पर मुर्दों और चिता के बीभत्स दृश्य को देखकर राजा लंबी साँस लेकर कहने लगा—हाय! इसी अधम शरीर के लिये लोग धर्म को भूल अनेक कुकर्म करते हैं? अरे देखो तो बड़े साध की पाली-पोसी देह की आज क्या दशा है?

"सोई मुख जेहि चंद बखान्यो।
सोई अंग जेहि प्रिय करि जान्यो॥

सोई छविमय अंग सुहाए।
आजु जीव बिनु धरनि सुवाए॥
कहाँ गई वह सुंदर सोभा।
जीवत जेहि लखि सब मन लोभा॥
प्रानहुँ ते बढ़ि जाकहँ चाहत।
ताकहँ आजु सबै मिलि दाहत॥
फूल बोझहूँ जिन न सहारे।
तिन पै बोझ काठ बहु डारे॥
सिर-पीड़ा जिनकी नहिं हेरी।
करत कपाल-क्रिया तिन केरी॥
छिन हूँ जे न भए कहुँ न्यारे।
तेहू बंधुन छोड़ि सिधारे॥
जो दृग कोर महीप निहारत।
आजु काक तेहि खान विचारत॥
भुजबल जे नहिं भुवन समाए।
ते लखियत मुख कफन छिपाए॥
नरपति प्रजा भेद बिनु देखे।
गने काल सब एकहि लेखे॥
सुभग कुरूप अमृत बिखसाने।
आजु सबै इक भाव बिकाने॥
पुरु दधीच कोऊ अब नाहीं।
रहे नाम ही ग्रंथन माहीं" ॥

राजा के मन में योंही तरह-तरह की तरंगें उठ रही थीं कि एक मुर्दे के आने की आहट लगी, राजा तुरंत लट्ठ सँभाल कफ़न उगाहने के लिये पहुँचा। यों ही राजा अपने कर्तव्य को

पालता, अपने भाग्य पर संतोष किए जीवन के दिन पूरे करने लगा। जो कभी स्त्री-बच्चे की याद आ जाती तो तुरंत यह कहकर टाल देता कि "अब मैं कौन और मेरा कौन, अब तो जो कुछ है सब स्वामी का है।"

राजा को यहाँ तक कठिन परीक्षा में ठहरा हुआ देखकर इंद्र ने ऋद्धि-सिद्धि महाविद्या आदि को भेजा कि अब भी दुःख सहते-सहते हारकर राजा का मन चल जाय, पर धर्मवीर हरिश्चंद्र ने सबको मीठी बातों से प्रसन्न करके विदा किया और आप सुमेर की नाईं अपने व्रत में अचल बना रहा।

इधर रानी शैव्या उपाध्यायजी के यहाँ सेवा टहल में अपने दिन बिताने लगी। उसके शील स्वभाव से ब्राह्मण के घर की स्त्रियाँ उसे प्राण से भी बढ़कर चाहतीं। कुमार रोहिताश्व को ब्राह्मण देवता उचित शिक्षा देते और वह बड़ी भक्ति के साथ स्वामी के लड़कों की टहल करता। ये दोनों उस घर में ऐसे हिल-मिल गए मानो कोई घर के कुटुंब ही हैं। पर हाय दैव से यह भी न देखा गया। अभी हत-भाग्य हरिश्चंद्र के दुःख का अंत न था। अच्छा सोना ज्यों-ज्यों तपाया जाता है त्यों-त्यों उसकी कांति बढ़ती जाती है। इसी तरह राजा हरिश्चंद्र पर भी ज्यों-ज्यों विपत्ति की आँच लगती गई उनकी कीर्त्ति का रंग चोखा होता गया।

कुमार रोहिताश्व एक दिन गुरुजी के अग्निहोत्र के लिये लकड़ी लाने गया था, अचानक उसे सर्प ने डस लिया। घर आते-आते मूर्छा खाकर वह गिर पड़ा। शैव्या के दुःख का ठिकाना न रहा, वह पछाड़ खाकर गिर पड़ी, रोने और चिल्लाने

लगी। ब्राह्मण ने बहुत कुछ दौड़-धूप की, झाड़ फूक, दवा सभी कुछ किया, पर कुछ न हुआ। देखते-देखते सुकुमार बालक के शरीर से प्राण-पखेरू उड़ गया, रानी की आँखों में सारा संसार अँधेरा हो गया, वह जड़ की तरह हो गई। लोगों ने बहुत कुछ समझा बुझाकर उसे बालक के संस्कार के लिये भेजा। रानी अपने प्यारे बच्चे के मृत शरीर को लिए रोती चिल्लाती, गिरती पड़ती, महाश्मशान की ओर चली। जिधर से वह निकलती उधर के लोगों की कौन कहे, जड़ तक पसीज जाते, श्मशान पर पहुँचकर रानी घोर विलाप करने लगी। उसका विलाप सुन-कर महाकठिन व्रत धारण करने पर भी राजा हरिश्चंद्र का कलेजा फटने लगा। उन्होंने छिपकर देखा, पहले तो नहीं पहि-चाना, पर तुरंत ही अपनी प्यारी रानी और कुमार को पहि-चानकर व्याकुल हो गये। निकट था कि पागल की भाँति दौड़कर कुमार के शव से लिपट जायँ, पर धर्म ने रोका, हरिश्चंद्र ने चौंककर कहा—"हैं यह मैं क्या करता था! अब मैं कौन और मेरा कौन, मैं तो दास हूँ, मेरे लिये जैसे सब वैसे ही ये भी।" हाथ जोड़कर भगवान् से प्रार्थना करने लगे कि "भगवन्! रक्षा करो, कठिन समय उपस्थित है, प्रभो! हरिश्चंद्र का धर्म इस समय न विगड़ने पावे।" उधर शैव्या ने कुमार के बिना जीना व्यर्थ समझकर आत्म-हत्या करनी चाही। ज्यों ही वह एक पेड़ में फाँसी लगाकर लटकना चाहती थी कि राजा ने आड़ में से कहा—

"तनहिं वेचि दासी कहवाई।
भरत स्वामि आयसु विनु पाई॥

करु न अधर्म सोचु जिय माहीं।
पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं ॥"

रानी ऐसे गाढ़े समय में यह धर्म का उपदेश सुनकर चौंक उठी। उसने राजा का स्वर पहिचान लिया। "हाय नाथ! अपने बच्चे की दशा देखो" यह कहकर रानी मूर्छित हो गिर पड़ी। राजा आकर समझाने लगे। उस समय उन दोनों के विलाप से औरों की कौन कहे, श्मशान के महा-कठोर पशु-पक्षियों को भी सुध न रही।

राजा ने कहा—"देवि! देखो सवेरा हो जायगा, लोग हम लोगों को जान लेंगे, इसलिए अब पत्थर का कलेजा करके संस्कार करो और अपने स्वामी की सेवा में जाओ।" रानी कड़ा जी करके कुमार को उठाने गई। ज्यों ही उसने उठाना चाहा राजा ने कहा—"देवि! पहले कर चुका लो तो संस्कार करो, क्योंकि हमें स्वामी की आज्ञा है कि बिना आधा कफ़न लिए किसी को संस्कार न करने दो।" रानी ने रोकर कहा—"महाराज! मेरे पास तो कपड़ा भी नहीं था। अपना आंचल फाड़कर उसमें लपेट ला हूँ, जो इसमें से भी आधा ले लीजिएगा तो बच्चा खुला ही रह जायगा। हाय दैव! आज चक्रवर्ती के कुमार को कफ़न भी नसीब नहीं।" राजा ने बलपूर्वक रुलाई रोककर कहा—"देवि! सच कहती हो, पर सेवक-धर्म बड़ा कड़ा है, जिस हरिश्चंद्र ने आसमुद्रांत पृथ्वी के लिये धर्म न छोड़ा उसका धर्म आध गज़ कपड़े के लिये मत छुड़ाओ। लाओ जल्दी करो।" रानी ने कहा—"जो आज्ञा महाराज!"

रानी ने ज्यों ही कफ़न फाड़ना चाहा कि पृथ्वी काँप उठी, बड़ा शब्द होने लगा और उजाला हो गया, चारों ओर से बस बस और धन्य धन्य का शब्द होने लगा। भगवान् नारायण ने आकर हाथ पकड़ लिया। आँखों से आँसू बहते जाते हैं, उन्होंने कहा—"बस, महाराज! बस, अब बहुत हुई। देखो तुम्हारे पुण्य-भय से यह पृथ्वी काँप रही है।" कुमार से कहा—"बेटा रोहिताश्व! उठो अपने माँ-बाप की चिंता दूर करो।" कुमार अँगड़ाई लेकर उठ खड़ा हुआ, उसने भगवान् को प्रणाम किया। इतने में श्री महादेवजी, धर्म, इंद्र और विश्वामित्रजी आदि भी आ गए। सब धन्य धन्य कहने लगे।

विश्वामित्र ने कहा—"महाराज! केवल आपकी कीर्ति बढ़ाने के लिये ही मैंने यह छल किया था, मुझे क्षमा कीजिए और अपना राज्य सँभालिए।"

इंद्र ने कहा—"महाराज! आपके इस सब कष्ट का कारण मैं ही था। मुझे क्षमा कीजिए। राज्य आप ही का है इसमें संकोच न कीजिए।"

राजा भगवान् और धर्म की ओर देखने लगे। भगवान् ने कहा—"निःसंदेह राज्य तुम्हारा है। तुम निःसंकोच इसे लो। यह सब केवल तुम्हारी कीर्ति बढ़ाने के लिए थे।"

राजा ने सब को प्रणाम किया। चारों ओर से आनंद-दुंदुभी बजने और फूलों की वर्षा होने लगी।

---

(३२) दो उपवन

काश्मीर का कलेवर प्रकृति के निरुपम सौंदर्य से अलंकृत है। उस अज्ञात विश्व-स्रष्टा की कमनीय कृति नदी-नाले, गिरि-शिखर और गहन-वन के स्वरूप में वहाँ विद्यमान है। वह सौंदर्य तो अद्भुत है, वर्णनातीत है। उस प्रकृति-निर्माता कलाकार ने जहाँ हरे-भरे वन, हिम-मंडित पर्वतमाला और विस्तृत जल-राशि से पृथ्वी को अलंकृत किया है, वहीं उसी सौंदर्य के बीच उपवन का निर्माण करके मनुष्य ने भी अपनी कला का परिचय दिया है। प्रकृति की उस कला के बीच यह मानव-कला उपहासास्पद है क्या? यह तो अपनी-अपनी रुचि पर निर्भर है। परंतु उन उद्यान-प्रेमियों की कलामय अभिरुचि की परिचायिका अवश्य है। प्रकृति अगणित वृक्षों को लगाती है, उन्हें फुलाती है, फलाती है, पर मनुष्य भी अपनी शक्ति के अनुसार उद्यान-रचना करके उसमें वृक्ष लगाता है, पौधे लगाता है, लता-वितानों से उसे सुशोभित करता है। उसके उद्योग के फलस्वरूप जब उस उद्यान में कोई फूल फूलता है अथवा फल फलता है, तब उसे हर्ष होता है, गर्व होता है। उसी हर्ष और गर्व के लिए, उसी अपने-पन के अनुभव के लिए, प्रकृति के इस विशाल उद्यान के बीच में भी मनुष्य ने अपने उद्यान का निर्माण किया है।

प्रकृति के उस विशाल उद्यान में भी यदि कोई अपना-पन अनुभव करने लग जाय, वन के एकांत स्थान में पुष्पित एक सुमन से भी वही आनंद प्राप्त करने लग जाय जो अपने निजी उपवन में फूले हुए फूल से किसी को होता हो, तो उसका

आनंद सीमित नहीं रह जाता। वह समस्त संसार के सौंदर्य को अपना मानने लग जाता है। परंतु उस असीमित आनंद के भोक्ता तो दुर्लभ हैं। सभी अपने-पन की छोटी-सी सीमा में क़ैद हैं। आनंद के उस निस्सीम साम्राज्य में विचरण करने से उन प्राचीन ऋषि-मुनियों के संसर्ग से, भारतीय संस्कृति में, अपने निजी आनंद में भी धार्मिक भावों का प्राधान्य हो गया है। अपने उस आनंद की प्राप्ति के लिए मनुष्य जो प्रयत्न करता है, वह कला है। भारतीय कला धार्मिक भावों से, विहीन नहीं है। जिस प्रकार भारत की अन्य कलाओं को हमें देखना चाहिए, उसी प्रकार उद्यान-निर्माण की कला का भी अवलोकन करना चाहिए।

ऐतिहासिक घटनाओं का जैसा और जितना प्रभाव भारत की अन्य कलाओं पर पड़ा है, वैसा ही प्रभाव उद्यान-रचना की कला पर भी पड़ा है। बहुत प्राचीन काल से भारत में उद्यान-रचना का प्रेम पाया जाता है। प्राचीन भारतीय साहित्य में उद्यानों का यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। संस्कृत-नाटकों में तो उपवन के दृश्यों का प्राधान्य पाया ही जाता है। बौद्ध-साहित्य में भी भारत के तत्कालीन उद्यानों का अच्छा परिचय मिलता है। बौद्ध-स्तूपादि के बग़ीचों के जो भग्नावशेष पाये जाते हैं, वे इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। जिस प्रकार भारत की उस प्राचीन उन्नति के अन्य प्रमाण नष्ट हो गये हैं, उसी प्रकार उद्यानों के प्रमाण भी अब अवगत नहीं। हाँ, मुग़ल-शासन-काल में भारत ने इस विषय में जो उन्नति की थी, उसका ऐतिहासिक विवरण और प्रत्यक्ष प्रमाण दोनों प्राप्य हैं। मुग़ल शासकों के द्वारा निर्मित कई रमणीय उद्यान काश्मीर में देखने को मिलते हैं।

उस सर्वशक्तिमान् कलाकार की कमनीय कृति के साथ ही साथ इस मानवीय कला का अवलोकन करने के लिये कौन उत्साहित न होगा?

पूर्वीय कला के रूप को समझने के लिए और उसकी प्रशंसा करने लिए पहले उसकी अंतर्गत भावनाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेना आवश्यक है। प्राचीन भारत कला-प्रेमी था। उसने सौंदर्य का आनंद उठाया; परंतु उस सौंदर्य—उस कला—से, जो निरर्थक है, भारत का कोई संपर्क नहीं रहा। केवल धार्मिक उच्च भावनाओं के कारण ही उसको भारत की ओर से संमान मिला है। मुग़लों के ज़माने में भी कला का वह सार्थक्यवाद नष्ट तो नहीं हो गया था, पर उसके वे पवित्र भाव अक्षुण्ण नहीं रह गये थे, इसलिये यह निस्संकोचरूप से नहीं कहा जा सकता कि मुग़लों के द्वारा निर्मित काश्मीर के उद्यान धार्मिक भावों से परिपूर्ण कला के द्योतक हैं। तो भी उन उद्यानों को देखते समय हमें केवल उनके बाह्य सौंदर्य तक ही नहीं रह जाना चाहिए। हमें उस सौंदर्य की तह तक जाना चाहिए।

काश्मीर के वर्णनीय और दर्शनीय उद्यानों में शालामार और निशात बाग़ सब से पहले उल्लेखनीय हैं। श्रीनगर शहर के समीप ही विशाल डल झील के तट पर स्थित इन उपवनों की जोड़ के प्राचीन उद्यान काश्मीर में ही तो क्या, अन्य किसी भी स्थान में नहीं। शालामार बाग़ डल झील के सुदूरवर्त्ती तट पर बना है। दंतकथा के अनुसार इस उद्यान का निर्माण श्रीनगर बसानेवाले द्वितीय प्रवरसेन ने किया था। उस दंत-

कथा से मालूम होता है कि झील के पूर्वोत्तर कोण पर उसने एक उद्यान बनाया था, जिसका नामकरण उसने "शालामार" (कामदेव का स्थान) किया था। सुकर्मा स्वामी के दर्शन के लिए हरवल जाकर लौटते समय राजा उसी उद्यान में विश्राम किया करता था। काल की गति के अनुसार वह बाग़ तो नष्ट हो गया पर उसी के समीप उसके नाम से "शालामार" नाम का गाँव बस गया। इस दंतकथा में वर्णित उद्यान के स्थान पर ही संवत् १६७६ में सम्राट् जहाँगीर ने शालामार का फिर से शिलारोपण किया।

उद्यान-प्रेमी जहाँगीर और शाहजहाँ के शासन-काल में पूर्ण सौंदर्य को प्राप्त करने के बाद काश्मीर के ऐतिहासिक उत्थान-पतन के चक्र में यह बाग़ भी चढ़ ही गया। बहुत वर्षों तक शालामार अनादृत अवस्था में बिना किसी पूछ के पड़ा अपने दुःख के दिन गिनता रहा; परंतु फिर उसके दिन पलटे। वह शाही बाग़ अब फिर दूर-दूर से काश्मीर-यात्रा के लिए आने-वालों के आकर्षण का कारण बन गया है।

शालामार शाही बाग़ था। वह तीन भागों में विभक्त था। बाहरी प्रांगण आम लोगों के लिए खुला था। बीच का प्रांगण बादशाह का निजी निवास-स्थान था, और पीछे का तीसरा सब से अधिक सुंदर प्रांगण खास बेगमों का विहार-स्थल था। बाग़ की लंबाई-चौड़ाई ५६० और २६७ गज़ है। इस प्रकार यह विशाल उद्यान तीन भागों में विभक्त बहुत ही सुंदर ढंग से लगाया गया है।

मुग़लों के ज़माने के बग़ीचों की विशेषता उनके पेड़-पौधों

के सौंदर्य में ही नहीं है, पर बग़ीचों के फ़व्वारों और जल-प्रपातों में और भी अधिक आकर्षण समाया हुआ है। दिल्ली और आगरे के मुग़लों के समय के बग़ीचों में भी फ़व्वारों का प्राधान्य पाया जाता है। स्वतः चलनेवाले फ़व्वारों की पंक्ति-की-पंक्ति प्रायः सभी मुग़ल-बग़ीचों की सौंदर्य-वृद्धि का काम करती हैं। काश्मीर के शालामार में तो इन फ़व्वारों का कहना ही क्या? सैकड़ों फ़व्वारे उद्यान की शोभा बढ़ा रहे हैं। और उससे भी अधिक शोभा उन कृत्रिम जल-प्रपातों की है जो बाग़ के ऊपर की ओर से बहती हुई नहर से बने हैं। हरवल झील से एक नहर निकाली गई है। वह बाग़ के पीछे पहाड़ की ऊँचाई पर से बहकर आती है; वहीं से नहर का पानी उद्यान के बीचो-बीच बहनेवाली जल-धारा में आता है। स्थान-स्थान पर ऊँचाई से गिरने और फ़व्वारों को घेरकर बहने के कारण उद्यान की शोभा अद्वितीय हो गई है। फ़व्वारों और जल धाराओं से बग़ीचों को सजाने का ढंग मुग़लों के द्वारा भारत ने पारस्य देश से सीखा है। पारस्य देश का उद्यानप्रेम तो फ़ारसी-साहित्य में भले प्रकार वर्णित है। मुग़लों के द्वारा भारत में उनकी उद्यान-कला का बहुत कुछ प्रचार हुआ है। भारत के प्राचीन उद्यानों पर उनकी छाप स्पष्ट दिखाई देती है।

अन्य मुग़ल-उद्यानों की भाँति शालामार की इमारतों के कुछ भग्नावशेष पाये जाते हैं। सम्राट् जहाँगीर काश्मीर-यात्रा में उस उद्यान में रहता था। उसके निवास के लिये उस समय भव्य भवन बने ही होंगे। शालामार की बारहदरी इसके प्रमाण-स्वरूप अब तक मौजूद है। उद्यान के बाहरी प्रांगण के उस ओर दीवान-ए-आम है। दीवान-ए-आम के बीचो-बीच भी ऊपर

से आती हुई जलधारा बहती और भवन के इस ओर ऊँचाई पर से नीचे के कुंड में गिरती है। जलधारा के बीच में अब भी काले संगमरमर का शाही तख़्त रक्खा है। इसी बाहरी प्रांगण में एकत्र होकर जन-समुदाय सम्राट् का दर्शन किया करता था।

बीच के प्रांगण मे दीवान-ए-ख़ास बना था, पर अब वह नष्ट हो गया है। केवल उसकी नींव-मात्र रह गई है। चारों ओर फ़व्वारों से वेष्टित एक सुंदर चबूतरा भी अब तक है। आगे की दीवाल के पास शाहजहाँ की बनाई हुई काले संगमरमर की एक बहुत ही सुंदर बारहदरी है। शाहजहाँ अपनी भवन-निर्माण-कला के लिए जग-प्रसिद्ध है। इस बारहदरी मे भी उसकी यह अभिरुचि भले प्रकार व्यक्त है। हरे-भरे सुविशाल वृक्षों से आच्छादित और धवल जलधार और फ़व्वारों से वेष्टित गहरे काले चमकते हुए पत्थर की बनी हुई यह बारहदरी अद्भुत शोभा का घर हो गई है। चाँदनी रात में उद्यान के इस भाग की शोभा तो अलौकिक रहती है। पुराने ज़माने में सामने के जल-प्रपात के पीछे की दीवाल के आलों में सैकड़ों रंग-बिरंगे दीपक जला दिये जाते थे तो उसका सौंदर्य कैसा रहा होगा ? हम लोगों ने तो सूर्य के प्रखर प्रकाश में ही वह दृश्य देखा था। चाँद के शीतल अथवा दीपमाला के विविध वर्ण के प्रकाश से आलोकित दृश्य तो कल्पना का ही विषय है। अब भी थोड़े वर्ष पहले तक उन आलों में बिजली के प्रकाश की व्यवस्था थी, पर न जाने अब क्यो नहीं है ?

यह रमणीय उद्यान अपने चारों ओर के प्राकृतिक दृश्यों

के कारण और भी अधिक चित्ताकर्षक हो गया है। उद्यान के पीछे की ओर महादेवगिरि के उच्च शिखर हैं। सामने डल झील के विशाल पाट में उसके उस ओर खड़ी पीरपंजाल श्रेणी की हिममंडित गिरि-माला झाँक रही है। पहाड़ और झील के बीच का स्थान चुनकर उद्यान-निर्माताओं ने सचमुच अपने कौशल का परिचय दिया है। उद्यान की उस बारहदरी में बैठ कर, उद्यान के कोमल किसलय और मुकुलित पुष्प-राशि पर और महादेवगिरि की हिमाच्छादित उज्ज्वल धवल चोटियों पर और सामने उस विशाल झील में कमल-वन पर, खिली हुई चाँदनी को देखने में कितना आनंद है, कितना आकर्षण है? एक साथ उस सर्वशक्तिमान् की कला और मनुष्य की परिमित शक्तियों में उद्‌भूत कला का आनंद-लाभ करने का यह साधन मुग़लों के—अथवा उनसे भी पहले के उद्यान-निर्माताओं के—कला-प्रेम का द्योतक है।

मुग़ल सम्राटों के उद्यान-प्रेम के साथ ही-साथ उन शाही दंपतियों की प्रेम-क्रीड़ा भी वहाँ भले प्रकार अंकित है। मुग़ल सम्राट् जहाँगीर और उसकी जगत्प्रसिद्ध पत्नी नूरजहाँ ने अपने आमोद-प्रमोद के लिए इस उद्यान की रचना की थी। शाहजहाँ ने भी अपनी रुचि के अनुकूल इसमें वृद्धि करके इसे और भी अधिक सुंदर बना दिया था। उन्हीं जल-प्रपातों और फ़व्वारों के समीप कोमल दूब पर बैठकर शाही दंपति आमोद-प्रमोद किया करते थे। उसी दीवान-ए-आम के उस काले तख़्त पर भारत के भाग्य-विधाता बैठते थे। अब यहाँ उसी बाग़ में घूमने पर इन सब बातों को विचारने पर कितना कौतूहल होता है? जहाँगीर उठ गया, वह अलौकिक सुंदरी नूरजहाँ भी काल के

गाल में विलीन हो गई, उनके प्रेम की गाथा केवल इतिहास की बात रह गई, उनके आमोद-प्रमोद के वे स्थल भी जीर्ण-शीर्ण होने को आये, वे मनोहारी फ़व्वारे भी अब बुढ़ापा बिता रहे हैं, संगमरमर के बने उन विहार-स्थलों में से कुछ विदा ले चुके और कुछ लेने के लिये तैयार बैठे हैं, परंतु पीछे का वह गिरिशृंग, सामने की वह विशाल डल झील अब भी उसी प्रकार अपने अमर सौंदर्य पर हर्षित हो रही है, पुलकित हो रही है।

निशात भी शालामार की भाँति डल झील के तट पर स्थित एक दूसरा रमणीय और नयनाभिराम उद्यान है। शालामार सम्राज्ञी नूरमहल का क्रीड़ा-स्थल था। दूसरी ओर नूरमहल के भाई आसफ़खाँ ने अपने लिये निशात बाग़ बनाया था। निशात मुग़ल-ज़माने के बाग़ों में सबसे अधिक सुंदर है। एक निजी उद्यान होने के कारण इसके अलग-अलग प्रांगण नहीं बनाये गये हैं। पीछे के पर्वतों की चढ़ाई के अनुसार बारह चबूतरे एक के ऊपर एक बनाए गये हैं। उद्यान के बीच में से बहती हुई जल-धारा इन बारह स्थानों पर गिरती हुई बहती है। शालामार की भाँति यहाँ जल ऊपर से गिरता नहीं, पर विविध प्रकार से खोदी हुई शिलाओं पर बहता है। शालामार के जल-प्रपातों में अपना निराला आकर्षण है, तो निशात के इस प्रवाह में भी अद्‌भुत सौंदर्य है। शालामार की भाँति यहाँ भी अनेक फ़व्वारे जल-कुंडों में चलते रहते हैं। जल-स्रोत और उन फ़व्वारों के अविरल प्रवाह से उद्यान में एक नवजीवन-सा व्याप्त रहता है। उन विविध प्रकार के लता-वितानों और पुष्प-राशि की शोभा का तो कहना ही क्या?

आसफ़ख़ाँ के इस उद्यान को संवत् १६६० में शाहंशाह शाहजहाँ ने देखा था। उद्यान के भव्य सौंदर्य और पीछे की पर्वत-माला और सामने की झील के अद्भुत सौंदर्य को देखकर शाहजहाँ इस निर्णय पर आया कि ऐसे उद्यान के आनंदोपभोग का सौभाग्य केवल सम्राट् को ही होना चाहिए, किसी साधारण व्यक्ति का उस पर अधिकार नहीं हो सकता, चाहे वह उसका प्रधान मंत्री अथवा निकट का संबंधी ही क्यों न हो? बादशाह ने बहुत बार अपनी इच्छा प्रकट की कि यह उद्यान उसे भेंट कर दिया जाय, परंतु आसफ़ख़ाँ को अपना बग़ीचा इतना प्रिय था कि वह उसके लिये बादशाह की प्रसन्नता की ओर भी ध्यान नहीं देता था। शाहजहाँ ने एक दिन क्रोधित होकर निशात बाग़ का पानी बंद करवा दिया। शालामार और निशात को हरवल से आनेवाली एक ही नहर से पानी मिलता है। जल के बिना आसफ़ख़ाँ के उस प्रिय उद्यान की अवस्था ख़राब होने लगी। पानी के अभाव में वह जल-धारा और फ़व्वारे जब निर्जीव-से दिखाई दिये होंगे, तो आसफ़ख़ाँ को कितना दुःख हुआ होगा! आजकल भी केवल रविवार को ही शालामार और निशात की जल-धाराओं और फ़व्वारों में पानी छोड़ा जाता है। बाक़ी दिनों में तो वे निर्जीव-से ही दिखाई देते हैं।

बादशाह के क्रोध से जल के अभाव में बाग़ की हीन दशा देखकर आसफ़ख़ाँ बहुत दुःखी हुआ, पर एक दिन अकस्मात् सब फ़व्वारों और जल-धारा में कल-कल स्वर होने लगा। सारा उद्यान फिर से सजीव हो गया। जल-धारा में खुदे हुए पत्थरों पर विविध प्रकार की लहरें फिर दिखाई देने लगीं। आसफ़ख़ाँ के हर्ष का ठिकाना नहीं रहा।

उद्यान के सच्चे प्रेमी अपने मालिक को दुखी देखकर अपनी जान को जोखिम में डालकर बादशाह के विरुद्ध माली ने पानी खोल दिया। बादशाह इस घटना से और अधिक नाराज़ न होकर खुश ही हुआ। आसफ़ख़ाँ के उद्यान-प्रेम को वह जान गया। उसी दिन बादशाह ने आसफ़ख़ाँ को निशात बाग़ का सर्वाधिकारी मानकर एक सनद् लिखदी।

निशात बाग़ दो भागों में विभक्त है। पुराने ज़माने में बग़ीचो में आने का मार्ग झील से ही था, पर अब झील और बग़ीचों के बीच में सड़क बनाकर आगे का भाग हटा दिया गया है। बग़ीचे के प्रवेश-द्वार के पास ही पुराने ज़माने में जब झील का निर्मल जल टकराया करता था, उस समय उसकी शोभा अद्भुत रही होगी। अब भी उसका आकर्षण कुछ कम नहीं, पर उद्यान की दीवाल के सहारे ही लहरों का टकराना और उस जल-स्रोत का अविराम गति से उसमें गिरना कुछ और ही दृश्य था, जो अब नष्ट हो गया है। उद्यान की लंबाई-चौड़ाई ५९५ और ३६० गज़ है। उद्यान के दो विभागों में से ऊपर का विभाग ज़नाने उपयोग में आता था। ज़नाना-बाग़ १८ फुट ऊँचा है और दोनों विभागों के बीच में इतनी ही ऊँचाई की मज़बूत दीवाल बनी है। जल-धारा ज़नाने-बाग़ के मध्य-भाग से प्रवाहित होकर आती है और ऊपर से नक्क़ाशीदार पत्थरों पर से लुढ़कती हुई नीचे के बड़े टाँके में गिरती है। इस टाँके में सैकड़ों फ़व्वारे लगे हैं। टाँके के चारों ओर हरी-भरी दूब है, सुंदर और सुवासित पुष्पों के पौधे हैं। इन सबको और भी अधिक सुंदर बनानेवाले काश्मीर के सुप्रसिद्ध और सुविशाल चिनार-वृक्षों के समूह हैं। जल-प्रपात और फ़व्वारों से निना-

दित इस सौंदर्य-संपन्न स्थान पर बैठकर घड़ी दो घड़ी बिताने में कितना सुख और कितना आकर्षण है, यह वही अनुभव कर सकता है, जिसे वह सौभाग्य प्राप्त हुआ हो।

ऊपर ज़नाने-बाग़ में जाने के लिए सीढ़ियाँ बनी हैं ज़नाना-बाग़ समतल है। पर नीचे के मुख्य बाग़ में बहुत से उतराव-चढ़ाव हैं। ज़नाने-बाग के इस सिरे पर, जहाँ से जल-स्रोत नीचे की ओर बहता है, एक सुंदर चबूतरा बना है। उस चबूतरे पर बैठकर नीचे की ओर स्थान-स्थान पर लुढ़कती जल-धारा और उसके बीच में लगी हुई फ़व्वारों की पंक्ति को देखते-देखते जब दृष्टि सामने की झील के वक्षःस्थल का स्पर्श करती हुई सामने की गिरिमाला से टकराकर लौटती है तो कितना कौतूहल होता है? वही दृश्य सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित न होकर चंद्रालोक से आलोकित हो, तो उसका सौंदर्य न जाने कितने गुने अधिक हो जाता है।

काश्मीर में पहुँचकर वहाँ के प्राकृतिक सौंदर्य के साथ ही साथ इन उपवनों की ओर कौन आकर्षित नहीं होता? काश्मीर की सुख-स्मृतियों के साथ-ही-साथ इन बग़ीचों के अनेक रमणीय दृश्यों की याद सदा बनी रहेगी। जितने दिन हम लोग श्रीनगर में रहे, प्रत्येक रविवार इन्हीं बग़ीचों में बीतता था। रविवार को ही शालामार और निशात की शोभा देखने लायक़ होती है। उसी दिन जल-धारा और फ़व्वारे प्रवाहित होते हैं। रविवार को तो वहाँ मेला-सा लग जाता है। सड़क पर सैकड़ों मोटरें और झील के तट पर सैकड़ों शिकारों की भीड़ लग जाती है। बग़ीचों के आगे दुकानें लग जाती हैं। केवल बाहर

से आनेवाले यात्रियों का ही नहीं, पर काश्मीरवासियों का भी अच्छा जमघट वहाँ देखने को मिल जाता है।

रविवार की भीड़ में शांति-प्रिय लोगोंको उद्यान का उतना आनंद नहीं मिल सकता। जन-रव से पूर्ण वातावरण की अपेक्षा पक्षियों की कोमल स्वर-लहरियों से पूरित वातावरण कहीं अधिक आकर्षक होता है। मनुष्य के अपने आडंबरमय दिखाव की अपेक्षा प्रकृति का वह दिखाव कहीं अधिक मनोमोहक होता है। यह तो अपनी-अपनी अभिरुचि की बात है। उद्यान में खिले हुए गुलाबों के साथ-ही-साथ नव युवतियों का समूह, विविध वर्ण की पुष्प-राशि के साथ-ही-साथ रंग-विरंगे वस्त्र, और पक्षियों और जल-स्रोत के कलरव के साथ ही-साथ कल-कंठियों के श्रुति-मधुर स्वर भी लोगों के आकर्षण का कार्य करते हैं।

काश्मीर में अब भी तीन पुष्पोत्सव मनाये जाते हैं। तीनों उत्सवों पर इन उद्यानों की शोभा देखने लायक होती है। अग-णित पुष्पों के साथ-ही-साथ अगणित नर-नारियों के समुदाय से ये उपवन खिल उठते हैं। शालामार बाग़ गुलाबों का घर है। जब गुलाब पूर्ण रूप से खिलते हैं तो पुष्पोत्सव का—गुलाबों का— मेला वहाँ लगता है। सुविशाल चिनार वृक्षों की छाया में कोमल दूब के हरित आसन पर बैठकर काश्मीरी परिवार हँसी-खुशी समय बिताते रहते हैं। ऊपर वृक्षों में पक्षियों का कलरव होता रहता है, सामने झरनों और फ़व्वारों का। हुक्के और चायदान—सामावार—की आग बुझती ही नहीं। गुलाबी, लाल अथवा हरे गहरे रंग के लंबे-लंबे चोगे पहनकर, बालों की लटों

को एक सफ़ेद वस्त्र से ढककर, पुष्पों से प्रतिद्वंद्विता करनेवाले नारी-समुदाय का और नन्हें बालकों का दृश्य अनोखा होता है। पर जो उद्यानों के वास्तविक सौंदर्य का प्रेमी है, वह तो एकांत और शांत समय ही ढूंढ़ेगा। एक-एक मुकुलित पुष्प के समीप खड़े होकर उसके साथ मुस्कराने के लिये, एक फ़व्वारे की कल-कल ध्वनि के साथ अपने आनंद की मौन-ध्वनि का संमिश्रण करने के लिये तो उसे नीरव वातावरण की ही आवश्यकता होगी। उद्यान का आनंद लेने के लिए वह उसके एक कोने से दूसरे कोने तक हवा की भाँति नहीं उड़ेगा। मन भर-कर उसका अवलोकन करने से ही उसे वास्तविक आनंद आवेगा। सच्चे उद्यान-प्रेमी वहाँ अच्छी संख्या में प्रतिदिन देखे जाते हैं।

शालामार और निशात के सामने उस विशाल डल झील का वक्षःस्थल कमल के पत्तों और पुष्पों से आच्छादित हो जाता है। उपवन गुलाबों से भरे-पूरे रहते हैं। उस समय का दृश्य कितना सुंदर होता है! झील कमलवन में परिणत हो जाती है। उद्यान में गुलाब के पौधे नहीं, पर पेड़ और लताएँ फूलों से लद उठती हैं। गुलाब का एक पेड़ हम लोगों ने देखा था। उसका तना क़रीब डेढ़ फुट मोटा था। फूलों के बोझ को उठाने के लिये उसके नीचे एक लकड़ी का फ्रेम लगाना पड़ा था। हिंदुओं का प्रिय कमल और मुसलमानों का प्रिय गुलाब दोनों का अद्भुत संमिश्रण होता है। बाल-सूर्य के उदय के पहले शिकारे में बैठ-कर उस कमल-वन को पार करके उद्यान में पहुँचकर उस दृश्य की वास्तविक शोभा का आनंद-लाभ किया जा सकता है। जल से दो-तीन हाथ ऊँचे उठते हुए पत्तों और फूलों के बोझ से झुके

हुए कमल-नाल देखकर कौन आनंद-मुग्ध न होगा? सूर्य की प्रथम किरण के स्पर्श के साथ वे अगणित कमल-दल प्रस्फुटित हो उठते हैं। मुग़ल अथवा उनसे भी पहले के हिंदू राजाओं के द्वारा निर्मित इन उद्यानों में भारतीय कला के स्वरूप का अवलोकन करने का रहस्य इस बात में बहुत कुछ निहित है।

इन उद्यानों की इसी शोभा से आकर्षित होकर तो एक कवि ने कहा है—

सुबह दर बाग़े निशातो शाम दर बाग़ नसीम।
शालामारो लालाज़ारो सैरे कश्मीरस्तो बम्॥

कवि की इन पंक्तियों में इन उद्यानों का कितना महत्त्व प्रकट होता है। उसकी दृष्टि में काश्मीर में इनसे अधिक आनंदमय स्थान और कोई है ही नहीं। कवि की दृष्टि में और बहुत से लोगों की दृष्टि में ऐसा हो सकता है। पर जिन्हें इन अप्राकृतिक उद्यानों की अपेक्षा नैसर्गिक सौंदर्य से प्रेम है, वे इन दोनों उद्यानों से दूर श्रीनगर से ११ मील की दूरी पर हरवल झील के तट पर पहुँचे बिना नहीं रहेंगे। शालामार और निशात की जल-धाराओं में बहुत कुछ अप्राकृतिक सौंदर्य है, पर हरवल झील से निकाले गये उस जल-स्रोत में स्वाभाविक सौंदर्य है। तीन ओर ऊँचे गिरि-शिखरों के बीच एक सुविशाल झील है। एक ओर बाँध बनाकर झील का पानी रोक दिया गया है। इसी बाँध में से वह जल-स्रोत वहा है जो शालामार और निशात तक गया है।

समुद्र के समान फेनिल लहरें मारता हुआ और गर्जन करता हुआ यह नाला अविराम गति से वहता रहता है।

सुविशाल देवदारु और चिनार के वृक्षों से आच्छादित तट-प्रदेश पर बैठकर अथवा बाँध के ऊपर झील के तट पर बैठकर प्रकृति-सुख का उपभोग किया जा सकता है। इस जल-स्रोत के दाहिनी ओर एक दूसरा नाला भी है। वह भी उसीकी भाँति आकर्षक और दर्शनीय है। शालामार और निशात में बैठकर यदि मानव-कला की सुखानुभूति की जा सकती है, तो इस हरवल में तो उस कुशल कलाकार के कौशल का वह परिचय मिलता है जो अगम्य है। काश्मीर तो उसकी कला की प्रदर्शिनी है। उसकी कला में उसका अवलोकन करने के लिए ही शायद प्राचीन समय में साधु-संन्यासी और बौद्ध भिक्षु इस स्थान में वास किया करते थे।

—श्रीगोपाल नेवटिया

---

(३३) वीरवर दुर्गादास

राजपूताने के वीरों की जीवन-कहानी बड़े ही गौरव, वीरत्व और स्वार्थ-त्याग से भरी हुई है। इन वीरों की शूरता और उदारता ही के कारण राजपूताने का नाम चिर-विश्रुत है। एक ऐसे ही वीर का संक्षिप्त चरित यहाँ दिया जाता है।

पश्चिमी राजपूताने में मारवाड़ की अनुर्वरा भूमि पर शासन करनेवाले वीर राठौर-वंश का बसाया हुआ जोधपुर नामक एक नगर है। जोधपुर ही इस वंश की राजधानी है। जोधपुर का राज्य मारवाड़ की प्रायः सारी भूमि पर है। मारवाड़ के इधर-उधर भी जोधपुर ही के राठौर-वंश के राजघराने शासन करते हैं।

वीरवर दुर्गादास इसी राठौर-वंश के करणोत नामक प्रसिद्ध कुल में पैदा हुए थे। इनके बाप आसकरण जोधपुर राज्य के किसी महकमे में कर्मचारी थे। बचपन ही से दुर्गादास बहुत बुद्धिमान् और वीरता-प्रिय थे। थोड़ी ही उम्र में इन्होंने जोधपुर राज्य का एक बड़ा भारी काम किया। राज्य के कुछ लोगों ने एक दल बाँधकर वहाँ की प्रजा से राजाज्ञा का बहाना करके भूमि-कर वसूल करना शुरू किया था। इनको दमन करने की आज्ञा दुर्गादास के पिता को मिली। पिता ने अपने अल्प-वयस्क, किंतु सुयोग्य पुत्र को इसका भार सौंपा। पुत्र ने वह काम कर दिखाया जिसकी उससे कभी किसी को आशा न थी। उसने उन विद्रोहियों का अच्छी तरह दमन किया।

आगे चलकर दुर्गादास ने जो काम किये, वे राजपूताने के ही नहीं, किंतु समस्त भारत के इतिहास में स्वर्णाक्षरों से लिखने लायक हैं। मारवाड़ में उनके विषय में यह कहावत प्रसिद्ध है—"माता एहा पूत जन जेहा दुर्गादास।" अर्थात् माता ऐसा पुत्र उत्पन्न करे जैसा दुर्गादास।

शाहजहाँ को सिंहासन से उतारकर औरंगजेब बादशाह हुआ। दारा और शुजा के सहायक बनकर जोधपुर के महाराज यशवंतसिंह ने औरंगजेब के सम्राट् होने में बड़ी बाधा पहुँचाई थी। बादशाह होते ही औरंगजेब ने उनसे बदला लेना चाहा। इसका कारण एक तो यशवंतसिंह से पुरानी दुश्मनी; और दूसरा यह कि मारवाड़ की भूमि फारस की खाड़ी के समीप थी, और देहली से वहाँ जाने के मार्ग पर पड़ती थी। मारवाड़ की सारी भूमि हस्तगत कर लेने से औरंगजेब ने और कई फायदे सोचे थे।

अपने कार्य की सिद्धि के लिए औरंगजेब ने बहादुर राजपूतों की एक दम प्रतिकूलता करना उचित न समझा। उसने कुटिल नीति से काम लेने की ठानी। महाराज यशवंतसिंह को उसने अपनी ओर मिला लिया। उन्हें उसने दक्षिण की सूबेदारी दे दी। दक्षिण में मराठे बागी हो रहे थे। वे मुसलमानों के शासन की जड़ काट देना चाहते थे।

यशवंतसिंह दक्षिण के सूबेदार होकर वहाँ का शासन करने लगे। कुछ दिन बाद औरंगजेब को यह शंका हुई कि वे वहाँ के मराठों से मिल गये हैं। इसलिये उसने अफ़गानों का उपद्रव शांत करने के लिए उन्हें काबुल भेज दिया। काबुल को जीतने पर वे वहीं के सूबेदार बना दिये गये और पेशावर में रहकर शासन करने लगे।

काबुल के युद्ध में अन्यान्य सरदारों के साथ यशवंतसिंह के दो लड़के भी मारे गये थे। यशवंतसिंह की अनुपस्थिति में जोधपुर-राज्य का संचालन-सूत्र उसके लड़के पृथ्वीसिंह के हाथ में था। पर उसको बादशाह ने षड्यंत्र रचाकर मरवा डाला।

महाराज यशवंतसिंह बुड्ढे हो चुके थे। पेशावर में ही वे सख्त बीमार पड़े। उनके बचने की कोई आशा न रही। अंत में दो चार दिन बीमार रहकर वे परलोक सिधार गये। महाराज यशवंतसिंह के मरने पर उनकी एक रानी तो वहीं सती होगई, दूसरी गर्भवती होने के कारण सती न होने पाई।

यशवंतसिंह की मृत्यु का समाचार पाकर औरंगजेब बहुत खुश हुआ। उसने देखा कि अब जोधपुर का हक़दार कोई नहीं

रहा। इस कारण वहाँ का बंदोबस्त करने के लिये उसने एक कर्मचारी भेज दिया। जोधपुर में मुसलमानों का झंडा फहराने लगा।

पेशावर में यशवंतसिंह के साथ दुर्गादास भी थे। यशवंतसिंह के मरने पर वे और अन्य सरदार राजधानी की ओर चल पड़े। औरंगजेब ने उन सब को रानी समेत दिल्ली में ही रखना चाहा। वह नहीं चाहता था कि जोधपुर के स्वतंत्र शासन में अब किसी प्रकार की बाधा पहुँचे।

राजपूत सरदार दुर्गादास का ही मुँह देखते थे। औरंगजेब के इरादे का हाल मालूम होते ही सबने मिलकर दुर्गादास से सलाह की। सलाह में यह निश्चय हुआ कि रानी को संतान होने तक रास्ते में ही कहीं ठहरे रहना चाहिये। साथ ही बादशाह को सूचित कर देना चाहिये कि हम लोग धीरे-धीरे दिल्ली आ रहे हैं। उन्होंने यही किया।

थोड़े ही दिनों बाद रानी के गर्भ से एक कुमार पैदा हुआ। राजपूत सरदारों को इससे बड़ी खुशी हुई। बच्चे का नाम रक्खा गया अजीतसिंह। कुछ दिन और ठहरकर ये लोग दिल्ली को रवाना हुए और वहाँ पहुँच गये।

बादशाह अजीतसिंह को जीता रखना नहीं चाहता था। उसके दिल में जोधपुर का राठौर वंश काँटे की तरह चुभ रहा था। जब दुर्गादास आदि दिल्ली पहुँचे, तब बादशाह ने ऊपरी मन से उनका खूब आदर सत्कार किया। पर अंदर से वह यही चाहता था कि राजकुमार को लेकर राजपूत सरदार जोधपुर न जायँ। उसे विश्वास था कि ये लोग वहाँ जाकर ज़रूर उत्पात मचावेंगे।

औरंगजेब का आंतरिक अभिप्राय राजपूत सरदारों को मालूम हो गया। वे इस आपत्ति से छुटकारा पाने का उपाय सोचने लगे। इसी बीच में एक दिन औरंगजेब ने दुर्गादास से कहा कि अजीतसिंह को तुम मुझे सौंप दो। मैं ही उसकी शिक्षा आदि का सब प्रबंध कर दूंगा। बड़े होने पर उसे जोधपुर की गद्दी पर बैठा दूंगा। दुर्गादास औरंगजेब की सारी चालाकियों से वाक़िफ़ थे। अतएव उन्होंने वैसा करने से साफ इंकार कर दिया। इस पर औरंगजेब को गुस्सा आ गया। उसने अपने एक अफ़सर को हुक्म दिया कि अजीतसिंह को जबरदस्ती पकड़ लाओ। परंतु दुर्गादास दो और सरदारों के साथ, अजीतसिंह को लेकर दिल्ली से रातों-रात बाहर निकल गये। शेष राजपूत बादशाही फौज से लड़कर वहीं दिल्ली में कट गये।

इतिहास-लेखक कहते हैं कि औरंगजेब ने बीस हज़ार फौज राजपूतों का डेरा घेरने के लिए भेजी थी। उससे घिर जाने पर राजपूत केसरिया बाना पहनकर बाहर निकले और उन्होंने हज़ारों मुसलमानों को मारकर ढेर कर दिया। साथ ही आप भी मर मिटे। सिर्फ छः सात आदमी बचे।

दुर्गादास के साथ रानी और अजीतसिंह पहले ही दिल्ली से बाहर हो गये थे। रानी ने उदयपुर के महाराज राजसिंह की शरण ली। महाराणा ने रानी को प्रसन्नतापूर्वक आश्रय दिया। वे बड़े वीर पुरुष थे। फौज लेकर वे दुर्गादास के साथ स्वयं कई बार बादशाही सेना से लड़े भी थे।

राजकुमार अजीतसिंह को महाराणा और रानी ने दुर्गादास को सौंप दिया। इसके कई कारण थे। पहले तो दुर्गादास

की जन्म-भूमि, कल्याणगढ़, अरावली पर्वत के बीच ऐसे स्थान पर थी, जहाँ बाहरी शत्रु की पहुँच न थी । दूसरे राजकुमार को राजसिंह खुल्लमखुल्ला अपने पास रखना न चाहते थे। दुर्गादास ने अजीतसिंह को खुशी से अपनी रक्षा में ले लिया और उन्हें शस्त्र चलाने में निपुण कर दिया।

कुछ दिन बाद दुर्गादास ने जोधपुर आकर देखा कि वहाँ की स्थिति कुछ और ही हो रही है। सारी प्रजा में अशांति फैल रही है। शासक प्रजा पर अत्याचार कर रहे हैं । हिंदुओं को तरह-तरह के कष्ट मिल रहे हैं। ये बातें दुर्गादास के कलेजे को छेदने लगीं। वे मारवाड़ में गुप्त रूप से चारों ओर फिरने लगे। धीरे-धीरे उन्होंने बहुत से सरदारों और भू स्वामियों को अपनी ओर कर लिया।

राजपूतों की बहुत बड़ी सेना तैयार की गई। वीरवर दुर्गादास ने मुसलमानों के विरुद्ध तलवार उठाई । महाराणा राजसिंह ने भी उनकी सहायता के लिए अपनी फौज भेजी। स्थान-स्थान पर मुसलमानी सेना के साथ राजपूतों की घमासान लड़ाइयाँ होती रहीं । कभी राजपूतों की जीत होती और कभी मुसलमानों की। मारवाड़ के ९ किलों में से सभी क़िले बादशाह के अधिकार में थे। दुर्गादास ने शाही फौज को हराकर ८ क़िले छीन लिये। इन किलों को अपने अधिकार में रखते समय दुर्गादास को अनेक विपत्तियाँ उठानी पड़ीं। उनके सहोदर भाई, प्यारे पुत्र और परम मित्र इन युद्धों में काम आए। इतने पर भी उस वीर ने हिम्मत न हारी। अंत में उन्होंने जोधपुर का क़िला भी ले लिया।

दुर्गादास ने औरंगजेब के शाहज़ादे अकबर को अपनी ओर मिला लिया था। वह अपने पिता की आज्ञा से फौज लेकर दुर्गादास पर चढ़ाई करने आया था। दुर्गादास ने उसकी फौज को तितर-बितर कर दिया। अंत में असहाय होकर शाहज़ादे ने दुर्गादास के हाथ आत्म-समर्पण किया। दुर्गादास ने उसे यह लालच दिया कि जीतकर दिल्ली का राज्य तुम्हीं को दिलाऊँगा। केवल अकबर ही नहीं, औरंगजेब के एक दो सेनापति भी दुर्गादास से मिल गये थे।

यह दशा देखकर औरंगजेब दुर्गादास पर स्वयं ही चढ़ आया। दुर्गादास ने अरावली पहाड़ की दो घाटियों के बीच बादशाही सेना के नाश का विचार किया। पहाड़ों की ये घाटियाँ ऐसी थीं कि नीचे पड़ी हुई बादशाही सेना उनके ऊपर न चढ़ सकती थी। बादशाही फौज रात को पड़ी हुई थी। इतने ही में राजपूतों ने उसे चारों ओर से घेर लिया। घमासान लड़ाई हुई। अंत में बादशाही फौज हारकर भागी। कहते हैं कि औरंगजेब वहाँ से अकेला ही भाग निकला और दो दिन में भूखा-प्यासा अजमेर पहुँचा।

इस प्रकार दुर्गादास ने मारवाड़ का सारा राज्य पुनः प्राप्त किया और राजकुमार अजीतसिंह को गद्दी पर बैठा दिया। बादशाह ने कई बार दुर्गादास को पकड़ने और मारवाड़ को जीतने की चेष्टा की, पर वह निरंतर विफल ही होता रहा। अंत में कई राजाओं ने बीच में पड़कर महाराज अजीतसिंह के साथ उसकी संधि करादी।

स्वामि-भक्त दुर्गादास जोधपुर ही में महाराजा अजीतसिंह

के पास रहे। अजीतसिंह भी उनका खूब आदर-संमान करते थे। लोग राज्य का कर्ता-धर्ता दुर्गादास को ही समझते थे। पर दुर्गादास महाराज अजीतसिंह को राज्य का स्वतंत्र अधिकारी बना चुके थे। राज्य के काम-काज में वे अनुचित हस्तक्षेप न करते थे। तथापि उनके कारण राज्य के प्रबंध में अजीतसिंह स्वतंत्रतापूर्वक काम न कर सकते थे। इसी से उनको यह बात खटकती थी। अतएव वे दुर्गादास को जोधपुर से कहीं अन्यत्र रखने का विचार करने लगे। यह बात दुर्गादास को मालूम होते ही वे अन्यत्र जाने के लिये तैयार हो गये। उन्होंने महाराज अजीतसिंह को सलाम किया और कहा—लो, अपना राज-पाट। अब मैं जाता हूँ। अजीतसिंह पहले तो यही चाहते थे, पर जब उन्होंने दुर्गादास की स्वामि-भक्ति का स्मरण किया, तब उन्हें बड़ा दुःख हुआ। वे बहुत आग्रह करने लगे, पर दुर्गादास नहीं रुके।

दुर्गादास जोधपुर से उदयपुर पहुँचे। वहाँ महाराणा राजसिंह के लड़के जयसिंह ने उनका बड़ा संमान किया। बड़े सुख और आराम के साथ वे वहाँ रक्खे गये। अंत समय तक दुर्गादास महाराणा जयसिंह के ही पास रहे।

दुर्गादास के वंशजों को जोधपुर राज्य से अच्छी जागीरें मिली हुई हैं। जोधपुर राज्य में उनका वंश बड़ा प्रतिष्ठित समझा जाता है।

मारवाड़ में दुर्गादास की कीर्ति का खूब ही गान होता है। ऐसे वीर स्वामि-भक्त का कीर्त्ति-गान क्यों न हो?

—अज्ञात

---

(३४) इंगलैंड में बड़ा दिन

एक दिन मेरे अंग्रेज़ मित्र ने मुझे लिखा कि लंदन से कुछ दूर, एनफ़ील्ड के निकट, वुशाइल-पार्क के श्रीयुत ब्राउन कुछ नवयुवकों को क्रिस्मस की दावत दे रहे हैं, और यदि मैं भी आसकूं, तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता होगी। यह सोचकर कि इन लोगों के त्यौहार मनाने का ढंग देखने का यह अच्छा मौका है, मैंने निमंत्रण स्वीकार कर लिया। मेरे मित्र विलफ़िड पोल ने मुझे लिखा कि कुल मंडली ठीक तीन बजे लिवरपूल-स्ट्रीट स्टेशन पर ट्रेन-इंडिकेटर के नीचे मेरा इंतज़ार करेगी। यदि मैं उस समय तक न पहुँच सकूं, तो वे लोग चले जायँगे, और मैं अकेला श्रीयुत ब्राउन के मकान पर चला आऊँ। हुआ भी यही, मेरे यहाँ जिनेवा से एक मित्र आगये थे। उनके कारण मैं तीन बजे लिवरपूल-स्ट्रीट नहीं पहुँच सका। ठीक सवा तीन बजे अपने घर से निकला। आज चूंकि एक पारिवारिक निमंत्रण में जा रहा था, मैंने हैट के बजाय साफा बाँधा।

लिवरपूल-स्ट्रीट तक तो अंडर-ग्राउंड रेल से गया। वहाँ पहुँचकर ऐनफ़ील्ड की गाड़ी पकड़ी। कोई आध घंटे में वुशाइल पार्क पहुँच गया। श्रीयुत ब्राउन का मकान रेल के इसी पार था किंतु मैं दूसरी ओर निकल गया। आगे चलकर एक स्थान पर दर्याफ़्त किया, तब भूल मालूम हुई। इस मामले में अंग्रेज़ बड़े भले होते हैं। अजनबी लोगों की सहायता करने में सदा तत्पर रहते हैं। एक महाशय थोड़ी दूर तक आकर मुझे श्रीयुत ब्राउन के घर का रास्ता बतला गये।

श्रीयुत ब्राउन का मकान दुमंज़िला है। बिलकुल सड़क के ऊपर ही है। सामने छोटा-सा बाग़ है। मैंने दरवाज़े पर पहुँचकर कुंडे को एकबार खटखटाया। कोई आधे मिनट में एक महाशय ने दरवाज़ा खोला। मैंने कहा—मैं श्रीयुत ब्राउन से मिलना चाहता हूँ। उन्होंने सिर झुकाकर मेरा स्वागत करते हुए कहा—मैं ही ब्राउन हूँ। मैंने हाथ मिलाते हुए कहा कि मैं चतुर्वेदी हूँ। ब्राउन साहब ने मुझे अंदर बुला लिया। एक कोने में खूब आग जल रही थी। बाहर कड़ाके की सरदी पड़ रही थी। इस आग को देखकर मेरा चित्त प्रसन्न हो गया। श्रीयुत ब्राउन ने ओवर-कोट उतारने में मेरी सहायता की। ओवर-कोट वहीं रखकर वह मुझे ड्राइंग-रूम में ले चले।

ड्राइंग-रूम में जैसे ही मैं पहुँचा, वैसे ही प्रायः १९-२० कंठो ने ज़ोर से Hail कहकर मेरा स्वागत किया। मैंने सिर झुकाकर सबको एक साथ अभिवादन किया। इतने ही में श्रीमती ब्राउन आगे बढ़ आईं। श्रीयुत ब्राउन ने यह कहकर कि यह मेरी स्त्री हैं, उनसे मेरा परिचय कराया। श्रीमती ब्राउन ने हाथ मिलाकर मेरी मिजाज़-पुर्सी की।

श्रीयुत ब्राउन कोई छः फुट लंबे हैं, उनकी अवस्था प्रायः ५० के लगभग होगी। बड़े हँस-मुख और उदार स्वभाव के अँग्रेज़ हैं। श्रीमती ब्राउन की अवस्था भी ४५-४६ के लगभग होगी। वह पुराने ढंग की अंग्रेज़ महिला हैं। बड़ी विदुषी और स्वभाव की सरल हैं। उनको देखकर सहसा श्रद्धा के भाव उत्पन्न हो उठते हैं। दोनों ही पति-पत्नी बड़े प्रसन्न थे। हम लोग जितना अधिक ऊधम करते, वे उतने ही प्रसन्न होते।

कमरे में जगह कम थी इसलिये कुछ लोग आग के पास फ़र्श पर बैठे थे। कमरे में प्राय: १६-२० युवक और लड़कियाँ थीं। मेरी भी इच्छा फ़र्श पर ही बैठने की हुई; किंतु सामने ही मेरी एक परिचित युवती बैठी हुई थी। उसके पास एक कुर्सी खाली थी। अतएव मैं वहीं जाकर बैठ गया।

जिस समय मैं पहुँचा, लोग चाय पी रहे थे। प्राय: सवा चार बजे थे। किंतु आजकल इंगलैंड में इस समय रात हो जाती है। श्रीयुत ब्राउन ने स्वयं एक प्याले में चाय लाकर दी। रोटी और मिठाई भी दिखाई दी, किंतु मैंने केवल चाय पर ही संतोष किया। लोग तरह-तरह की गप्पें लड़ा रहे थे। मेरे पास दो नवयुवक और मेरी पूर्व-परिचिता युवती बैठी हुई थी। मैं भी उनसे बातें करता रहा। यह युवती लंदन-विश्वविद्यालय की ग्रेजुएट हैं, और अब इन्होंने अपना समय मादकद्रव्य निषेधक-संस्था के काम में लगा रक्खा है। पक्की शाकाहारी हैं। चाय तक नहीं पीतीं। जिस समय श्रीयुत ब्राउन चाय लाये तो उन्होंने मुझसे कहा—"Oh! Chaturvedi, don't drink tea" किंतु मुझे और तो खाना नहीं था, यदि चाय भी न लेता तो क्या करता? वह मुझसे चाय छोड़ने के लिये कई बार कह चुकी हैं। किंतु उपर्युक्त कारण से मुझे कभी-कभी चाय पीनी ही पड़ती है। वह स्वयं आग में पका हुआ भोजन बहुत दिनों से नहीं खातीं। गाजर, अखरोट, सलाद, फल, मेवा आदि खाकर रहती हैं। उन्होंने अंडे खाना भी छोड़ रक्खा है। इसी से मेरा उनका मत खूब मिल जाता है।

प्राय: पौन घंटे तक गप्प लड़ती रही। लोग धीरे-धीरे एक-

एक घूँट चाय पीते, मक्खन रोटी, बिस्कुट आदि के एक-एक कौर को पचासों दफ़े चबाते हुए गप्प कर रहे थे। यह मालूम होता था कि इन लोगों में धीरे-धीरे भोजन करने की बाज़ी लगी हुई है। खैर, थोड़ी देर बाद श्रीमती ब्राउन एक कुर्सी पर आकर बैठ गईं और उन्होंने कहा—"Now children be attentive" उनके "Children" कहते ही एक बार अट्टहास से कमरा गूँज उठा। कुल युवक और युवतियाँ २४-२५ से लेकर ३० वर्ष की अवस्था तक की होंगी। सभी यूनिवर्सिटी-शिक्षा-प्राप्त, किंतु इस समय ये सब सचमुच बच्चे ही होने का उद्योग कर रहे थे। श्रीमती ब्राउन ने कहा—"बच्चो! १५ मिनट बाद तुम्हें ऊपर कमरे में जाना होगा। जिस कमरे में तुम्हें जाना है उसके दरवाज़े पर लिखा है—Nursery"। यह सुनते ही फिर एक बार हँसी का ठहाका हुआ। प्रश्न होने लगे—"वहाँ क्या है?" "वहाँ क्या होगा?" "वहाँ नर्स मारेगी तो नहीं?" किंतु श्रीमती ब्राउन केवल मुसकराती रहीं। उनके पीछे खड़े हुए ब्राउन साहब भी चुपचाप खड़े मुसकराते रहे। जब प्रश्न बंद हो गये तो वह फिर बोलीं—"वहाँ बहुत सोच-समझकर और सावधानी से जाना। वहाँ पहले कौन जायगा? क्योंकि शायद उस कमरे में रोशनी न हो।" यह सुनते ही सब लोगों ने बच्चों का भय-प्रदर्शक 'ऊँ-ऊँ' शब्द किया। उसी समय ब्राउन साहब ने बत्ती का स्विच घुमा दिया। प्रायः दो सेकिंड के लिये कमरे में अंधेरा हो गया। हम लोगों ने भय-प्रदर्शक शब्द को और ऊँचा उठा दिया। मुसकराती हुई श्रीमती ब्राउन हम लोगों का बाल-आचरण देखती रहीं। जब हम लोग शांत हुए, तो फिर बोलीं—"और बच्चो! यदि तुम लोग अच्छे सीधे

बच्चों की तरह रहोगे, तो तुम्हें इनाम भी मिलेगा" । यह सुनते ही चारों ओर से "अहा-हा-हा" की आनंद-सूचक ध्वनि आने लगी । श्रीमती ब्राउन उठकर चली गईं, हम लोग फिर गप्प लड़ाने लगे ।

थोड़ी देर बाद श्रीमती ब्राउन ने ऊपर जाने के लिए कहा । हम सब लोग उठ खड़े हुए । एक दूसरे से आगे बढ़ने के लिए कुछ लखनवी तक़ल्लुफ़ होने लगा । अंत में एक ने आगे क़दम रक्खा । हम लोग धीरे-धीरे मानो डरते-डरते ऊपर पहुँचे । एक दरवाज़े पर "Nursery" लिखा हुआ था । उसे खोलकर उसमें घुस गए । श्रीयुत और श्रीमती ब्राउन भी साथ थे ।

इस कमरे के बीचो-बीच में एक क्रिस्मस-पेड़ (Christmas tree) रक्खा था । उसकी बग़ल में लाल पोशाक पहने, लंबी बर्फ़ के समान श्वेत दाढ़ी-वाली एक मूर्ति बैठी हुई थी । हम लोग उस क्रिस्मस-पेड़ के चारों ओर गोलाकार एक दूसरे के हाथ में हाथ देकर खड़े हो गए । कुछ लोग कहने लगे—यह मूर्ति ज़िंदा है या मुर्दा ? और इसको जाँचने के लिये कुछ लोगों ने मूर्ति को कोंचना शुरू किया । किंतु थोड़ी ही देर में मूर्ति से आवाज़ आने लगी । यह थे "फ़ादर-क्रिस्मस" ।

बड़ा दिन ईसाइयों का बड़ा भारी त्यौहार है । उसके उपलक्ष में हर घर में एक "क्रिस्मस-ट्री" बनाया जाता है, और फ़ादर-क्रिस्मस आकर बच्चों को उपहार दिया करते हैं । बाज़-बाज़ 'क्रिस्मस-पेड़' बहुत बड़े होते हैं । किंतु यह क्रिस्मस-पेड़ कोई छः फुट ही ऊँचा था । मोरपंखी की जाति के किसी वृक्ष की डालियाँ काटकर उसका पेड़ बनाया गया था । उसमें तरह-

तरह की चीज़ें—खिलौने आदि लटक रहे थे। उसे सजाने के लिए उसमें काँच के रंग-बिरंगे चमकीले गोले और रबड़ के रंग-बिरंगे गुब्बारे भी लटक रहे थे। काग़ज़ के फूलों की मालाओं से कमरा सजा हुआ था।

श्रीमती ब्राउन की कुमारी लाल पोशाक पहनकर और दाढ़ीदार चेहरा लगाकर "बाबा-क्रिसमस" बनी थीं। यह चेहरा बहुत अच्छा बना था। यहाँ के लोगों की कल्पना में फ़ादर-क्रिसमस (जिन्हें Santa Claus भी कहते हैं) ८० वर्ष के हँसमुख वृद्ध महाशय हैं, जिनके सिर, भौंह और मूँछ-दाढ़ी के बाल हिम के समान श्वेत हैं। न मालूम क्यों, बच्चों को उपहार के लिये सारी मनुष्य-जाति में बूढ़े ही व्यक्ति की कल्पना की जाती है!

अस्तु, फ़ादर-क्रिसमस ने धीरे-धीरे हम लोगों को बड़े दिन की बधाई देकर नव-वर्ष की शुभ-कामना की। इसके बाद हम लोगों को उपहार (Presents) देने के लिए नंबर पड़ी हुई चिट्ठियाँ दीं। जब सबको चिट्ठियाँ बाँट दी गईं, तब जिस नंबर की चिट्ठी जिसके पास आई, उसी नंबर की चीज़ 'क्रिसमस-ट्री' से निकाल कर उसे दी जाने लगी। प्रायः सभी चीज़ें ऐसी थीं, जिनको देखकर हँसी आजाती थी। एक कुमारी को एक छोटा-सा 'गुड्डा' मिला। एक युवक को एक दुम उठाए घोड़ा मिला। मेरे टिकट में लेडीज़ की हेअर-पिन निकली। उसे देखकर हम सब बेतहाशा हँस पड़े। किंतु उसके बाद ही एक लड़की को मर्दानी कमीज़ के बटन मिले, जिसे देखकर फिर अट्टहास हो उठा।

इसके बाद हम लोग पेड़ के चारों ओर बैठ गये। कुछ गाने गाए गए। तदुपरांत हम लोगों के हाथ में एक प्रकार के पड़ाके (Crackers) दे दिए गए। ये पड़ाके किश्ती-नुमा होते हैं, और जब इनके सिरे दोनों ओर से खींचे जाते हैं, तब ये फूटते हैं। हम लोगों ने अपना दाहिना हाथ अपने बाएँ ओर के व्यक्ति के बाएँ हाथ से और बायाँ हाथ दाहिनी ओर के व्यक्ति के दाहिने हाथ से मिलाया। दोनों हाथों में पड़ाकों के सिरे थे। इस प्रकार हमारे दाहिने हाथ के पड़ाके का दूसरा सिरा बाईं ओर के व्यक्ति के हाथ में था। इसी प्रकार हम लोगों ने एक प्रकार की जंजीर बना ली। श्रीमती ब्राउन के इशारा देते ही हम लोगों ने पड़ाकों के सिरे खींचे और पट-पट करके पड़ाके फूट उठे। अब लोगों ने पड़ाकों को खोला। उनके अंदर से छुपे हुए कुछ काग़ज़ और अत्यंत छोटे कुछ खिलौने निकले। मेरे पड़ाकों में एक बिगुल और एक लाल नग निकला। पड़ाकों में निकले काग़ज़ों में तरह-तरह की कविता और लेख थे।

प्रत्येक व्यक्ति एक-एक करके अपने क्रेकर से निकली हुई कविता पढ़कर औरों को सुनाता था। इसके बाद मिठाई—अंग्रेज़ी मिठाई—चाकलेट आदि बाँटी गईं। इतने ही में श्रीयुत ब्राउन ने एक गुब्बारे का डोरा काट दिया। अब हम लोग उसको 'रग़्बी' की तरह हाथ से कमरे में खेलने लगे। थोड़ी ही देर में वह 'क्रिस्मस-ट्री' की शाख़ से टकराकर पटाख़े की तरह आवाज़ करके फट गया। श्रीयुत ब्राउन ने दूसरा गुब्बारा हम लोगों के बीच फेंक दिया। इसी प्रकार थोड़ी देर तक हम लोग यही खेल करते रहे।

इसके बाद हम लोग नीचे आकर श्रीयुत ब्राउन की स्टडी

में बैठे। यहाँ उन्होंने एक बड़ी मेज़ पर अपने चित्रों का संग्रह रख दिया था। हम लोग उन्हें देखते रहे। श्रीयुत ब्राउन की मेज़ पर मद्रास की गनेश-कंपनी की प्रकाशित Current Thought पुस्तक रक्खी थी, मैं उसे देखता रहा।

प्रायः साढ़े आठ बज चुके थे। भोजन का समय हो चुका था। इतने ही में श्रीमती ब्राउन ने आकर हमसे भोजनालय में चलने के लिए कहा। एक लंबी मेज़ पर हम २०-२२ लोगों के लिये भोजन तैयार था। हम लोगों में अधिकांश शाकाहारी थे। श्रीयुत ब्राउन भी शाकाहारी हैं। अतएव मद्य-मांस का कहीं नाम भी न था। कई तरह की मिठाइयाँ, एक प्रकार की सिंवई, मक्खन, रोटी आदि सभी पदार्थ मौजूद थे। मेरे मित्र ने मुझे फल, आलू, ब्रुसैल्सस्प्राउट (एक प्रकार की गोबी) आदि दिये। यहाँ हमने बहुत सुंदर हरे छुहारे (खजूर) खाए। हरे छुहारों को चीरकर उनकी गुठली निकाल ली गई थी; गुठली की जगह उसमें भीगा और छिला हुआ बादाम रख दिया गया था, और ऊपर से उस पर गरी के वर्क छिड़क दिये गये थे। मुझे तो ये इतने पसंद आए कि मैंने इन्हीं से अपना पेट भरा। पीछे से एक प्याला काफ़ी और दूध पिया।

भोजन करने के बाद सिगरेटें लाई गईं। किंतु मुझे यह देखकर हर्ष हुआ कि उस समाज में केवल दो व्यक्ति सिगरेट पीनेवाले थे। उनमें एक तो स्वयं श्रीयुत ब्राउन ही थे। कुछ देर तक साधारण बातें होती रहीं। कुछ लोगों ने हाथ के कुछ कर्तब दिखाए। इसके बाद हम लोग आकर आग के पास बैठ गए। वहाँ तरह-तरह के गाने होने लगे। कुछ किस्से भी कहे

गए। एक युवती ने एक साधारण क़िस्सा इस ढंग से कहा कि मैं दंग रह गया। इन लोगों को इन सब बातों की बड़ी अच्छी शिक्षा दी जाती है। मुझसे भी कुछ गाने के लिए कहा गया; किंतु यहाँ तो अपने संगीत से भी विहीन हैं—यूरोपियन संगीत की बात ही क्या? पर बहुत आग्रह करने पर मैंने श्रीमती सरोजिनी नायडू की एक अंग्रेज़ी-कविता recite कर दी।

इसके थोड़ी ही देर बाद एक युवक ने आकर मुझ से कहा— Well! Mr. Chaturvedi, it is my great ambition to wear a turban. मैंने हँसकर अपना साफ़ा उतारकर उसके सिर पर रख दिया। पर उसके सिर पर वह ठीक न आया। इससे मैंने उसे उसी के सिर पर बाँधा। सब लोग कुतूहल के साथ इस कृत्य को देखते रहे। उसके चेहरे पर साफ़ा बहुत अच्छा मालूम पड़ता था। साफ़े के बारे में उसकी लंबाई, उसका बाँधना, कब बाँधा जाता है, एक बार का बँधा हुआ कितने दिन काम देता है, इत्यादि बहुत से प्रश्नों का उत्तर देना पड़ा।

हम लोग यह बातचीत कर ही रहे थे कि श्रीमती ब्राउन ने लाकर एक चिट्ठी का काग़ज़ दिया। उनकी एक लड़की इस समय वीयना में है। उसके पास इस 'क्रिसमस-पार्टी' के समाचार के साथ हम लोगों की greetings (अभिवादन) भी जायगी। अतएव उस पत्र पर हम सब लोगों के हस्ताक्षर कराए गए। मैंने उनसे पूछा कि मैं अँग्रेज़ी में दस्तख़त करूँ या हिंदी में। इस पर वह बड़ी प्रसन्न हुई, और मुझसे दोनों हस्ताक्षर करने को कहा। मैंने दोनों लिपियों में अपना नाम

लिख दिया। नागरी अक्षर देखकर उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। कुछ लोग कह उठे—This script is very artistic.

इस प्रकार साढ़े दस बज गए। अब हम लोग चलने की तैयारी करने लगे। श्रीयुत और श्रीमती ब्राउन दरवाज़े पर आकर खड़ी हो गईं। हम लोग उन्हें धन्यवाद देकर और उनसे हाथ मिलाकर विदा हुए।

बाहर निकलते ही सरदी का ज्ञान हुआ। बर्फ़ पड़ रही थी। थोड़ी ही देर में हमारे कोट पर सफ़ेदी छा गई। स्टेशन पर कोई २० मिनट गाड़ी की प्रतीक्षा करनी पड़ी। लिवरपूल-स्ट्रीट तक हम सब लोग साथ आए। वहाँ से हमारे साथ केवल एक देवी रह गईं। कुछ स्टेशनो के बाद वह भी उतर गईं। मुझे दो जगह गाड़ी बदलनी पड़ी। इसमें बड़ा समय लगा। घर पहुँचा तो प्रायः एक बजा था। लैच-की से दर्वाज़ा खोलकर अपने कमरे में गया, और कपड़े बदलकर बिस्तर की शरण ली।

इस क्रिस्मस-पार्टी से मुझे अंगरेज़ों के घरेलू जीवन और त्यौहार मनाने के ढंग के साथ-ही-साथ उनके चरित्र को भी बहुत ही निकट से जानने का अवसर मिला। इन लोगों के हृदय की सरलता और इनके जीवन के सौंदर्य का मुझे एक नया अनुभव हुआ। मुझे जो आनंद हुआ, उसका यदि शतांश भी आपको मेरे इस वर्णन से अनुभव हो, तो मैं अपने पत्र लिखने के घोर परिश्रम को सफल समझूँगा।

—श्रीनारायण चतुर्वेदी

———

(३५) महाराणा प्रतापसिंह

प्रातःस्मरणीय हिंदूपति वीरशिरोमणि महाराणा प्रतापसिंह का नाम राजपूताने के इतिहास में सब से अधिक महत्वपूर्ण और गौरवास्पद है। राजपूताने के इतिहास को इतना उज्ज्वल और गौरवमय बनाने का अधिक श्रेय उसी को है। वह स्वदेशाभिमानी, स्वतंत्रता का पुजारी, रण-कुशल, स्वार्थ-त्यागी, नीतिज्ञ, दृढ़-प्रतिज्ञ, सच्चा वीर और उदार क्षत्रिय तथा कवि था। उसका आदेश था कि बापा रावल का वंशज किसी के आगे सिर नहीं झुकाएगा। स्वदेश-प्रेम, स्वतंत्रता और स्वदेशाभिमान उसके मूल-मंत्र थे। उसको अपने वीर पूर्वजों के गौरव का गर्व था। वह कहा करता था कि यदि महाराणा साँगा और मेरे बीच कोई और न होता तो चित्तौड़ कभी मुसलमानों के हाथ न जाता। वह ऐसे समय मेवाड़ की गद्दी पर बैठा जब कि उसकी राजधानी चित्तौड़ और प्रायः सारी समान भूमि पर मुसलमानों का अधिकार हो गया था। मेवाड़ के बड़े-बड़े सरदार भी पहले की लड़ाइयों में मारे जा चुके थे। ऐसी स्थिति में उसके विरुद्ध बादशाह अकबर ने उसका विध्वंस करने के लिये अपने संपूर्ण साम्राज्य का बुद्धिबल, बाहुबल और धनबल लगा दिया था। बहुत-से राजपूत राजा भी अकबर के ही सहायक बने हुए थे। यदि महाराणा चाहता तो वह भी उनकी तरह अकबर की अधीनता स्वीकार कर लेता तथा अपने वंश की पुत्री उसे देकर साम्राज्य में एक प्रतिष्ठित पद पर आराम से रह सकता था, परंतु वह स्वतंत्रता का पुजारी केवल थोड़े से स्वदेश-भक्त और कर्तव्य-परायण राजपूतों और भीलों की सहायता से अपने

देश की स्वतंत्रता की रक्षा के लिये कटिबद्ध हो गया। उसकी वीरता, रणकुशलता, कष्टसहिष्णुता और नीतिमत्ता अत्यंत प्रशंसनीय और अनुकरणीय थी। इन्हीं गुणों के कारण वह अकबर को, जो उस समय संसार का सब से अधिक शक्ति-शाली तथा ऐश्वर्य-संपन्न सम्राट् था, अपने छोटे से राज्य के बल पर वर्षों तक हैरान करता रहा और फिर भी अधीन न हुआ। अकबर ने उसे अधीन करने के लिये बहुत से प्रयत्न किए, अपने योग्य सेनापतियों को कई बार उस पर भेजा, एक बार स्वयं भी चढ़ आया, परंतु राणा के आगे एक भी चढ़ाई में उसका मनोरथ पूर्ण न हुआ। राणा ने बादशाह के आगे सिर न झुकाया और न उसे बादशाह ही कहा। उसने मेवाड़ के उपजाऊ प्रदेश को उजाड़ दिया, खेती नष्ट करवा दी और शाही फौज की रसद तथा व्यापार का मार्ग रोककर नीतिज्ञता का परिचय दिया। वह केवल वीर और रणकुशल ही नहीं, किंतु धर्म को समझनेवाला सच्चा क्षत्रिय था। केवल शिकार के लिये कुछ सिपाहियों के साथ आते हुए मानसिंह पर धोखे और छल से हमला न कर और अमरसिंह द्वारा पकड़ी गई बेगमों को संमानपूर्वक लौटाकर उसने अपनी विशाल-हृदयता का परिचय दिया। प्रलोभन देकर राजपूत राजाओं और सरदारों को सेवक बनानेवाली अकबर की कूटनीति का यदि कोई उत्तर देनेवाला था तो महाराणा प्रताप ही।

उक्त महाराणा के विषय में कर्नल टाड का कथन है—अकबर की उच्च महत्त्वाकाँक्षा, शासन-निपुणता और असीम साधन, ये सब बातें दृढ़चित्त महाराणा प्रताप की अदम्य वीरता, कीर्ति को उज्ज्वल रखनेवाला दृढ़ साहस और किसी अन्य

जाति में न पाया जावे ऐसे निष्कपट अध्यवसाय को दबाने में पर्याप्त न थीं। आल्प पर्वत के समान अर्वली में कोई भी ऐसी घाटी नहीं, जो प्रताप के किसी-न-किसी वीर-कार्य, उज्ज्वल विजय या उससे अधिक कीर्त्तियुक्त पराजय से पवित्र न हुई हो। हल्दी घाटी मेवाड़ की थर्मोपिली और दिवेर मेवाड़ का मरेथान है।

वीर-श्रेष्ठ महाराणा के कार्य आज भी मेवाड़ की एक-एक उपत्यका मे वर्त्तमान समय के-से जान पड़ते हैं। आज भी उसके वीर-कार्यों की कथाएँ और गीत प्रत्येक वीर राजपूत के हृदय में उत्तेजना पैदा करते हैं। महाराणा का नाम न केवल राजपूताने में किंतु संपूर्ण भारतवर्ष में अत्यंत आदर और श्रद्धा से लिया जाता है। अँगरेजी तथा भारतवर्ष की प्रायः सभी भाषाओं में प्रताप के वीरत्व और यशोगान के अनेक ग्रंथ बन चुके हैं और बनते जा रहे हैं। भारत के भिन्न-भिन्न विभागों में महाराणा की जयंती भी मनाई जाने लगी है। जब तक संसार में वीरों की पूजा रहेगी, तब तक महाराणा का उज्ज्वल और अमर नाम लोगों को स्वतंत्रता और देशाभिमान का पाठ पढ़ाता रहेगा। खेद है कि ऐसे वीर महाराणा का मेवाड़ में अब तक कोई स्मारक नहीं बना।

महाराणा का कद लंबा, आँखें बड़ी, चेहरा भरा हुआ और प्रभावशाली, मूछें बड़ी, छाती चौड़ी, बाहु विशाल और रंग गेहुँआ था। वह पुराने रिवाज के अनुसार दाढ़ी नहीं रखता था।

—गौरीशंकर हीराचंद ओझा

---

(३६) मंत्रणा

पात्र—

[राक्षस—नंद का ब्राह्मण मंत्री, चंद्रगुप्त का पहले तो विरोधी, पर अंत में चाणक्य की कूटनीति से परास्त होने पर, उसका भी मंत्री।

मलयकेतु—पर्वतक का पुत्र, नाटक का प्रतिनायक।

करभक—राक्षस का भेदिया।

भागुरायण—चाणक्य का भेदिया, मलयकेतु का बना हुआ मित्र।

शकटदास—राक्षस का मित्र, चंद्रगुप्त का विरोधी।

क्षपणक—वेश बदले हुए चाणक्य का जीवसिद्धि नामक भेदिया, जो राक्षस के पास रहता था।

प्रियंवदक—राक्षस का सेवक।

दौवारिक, कंचुकी, एक पुरुष आदि]

स्थान—मंत्री राक्षस के घर के बाहर का प्रांत

[करभक घबड़ाया हुआ आता है।]

करभक—अहाहा हा ! अहाहा हा !

अतिसय दुरगम ठाम में, सत जोजन सो दूर।
कौन जात है धाइ बिनु, प्रभु-निदेस भरपूर॥

अब राक्षस मंत्री के घर चलूँ। (थका-सा घूमकर) अरे कोई चौकीदार है? स्वामी राक्षस मंत्री से

जाकर कहो कि करभक काम पूरा करके पटने से दौड़ा आता है।

(दौवारिक आता है।)

दौवारिक—अजी चिल्लाओ मत। स्वामी राक्षस मंत्री को राज-काज सोचते-सोचते सिर में ऐसी विथा हो गई है कि अब तक सोने के बिछौने से नहीं उठे, इससे एक घड़ी-भर ठहरो। अवसर मिलता है तो मैं निवेदन किए देता हूँ।

(परदा उठता है और सोने के बिछौने पर चिंता में भरा राक्षस और शकटदास दिखाई पड़ते हैं।)

राक्षस—(आप ही आप)

कारज उलटो होत है, कुटिल नीति के जोर।
का कीजै, सोचत यही, जागि होयहै भोर॥

और भी वह दुष्ट ब्राह्मण चाणक्य—

दौवारिक—(प्रवेश कर) जय जय।

राक्षस—किसी भाँति मिलाया या पकड़ा जा सकता है ?

दौवारिक—अमात्य—

राक्षस—(बाँए नेत्र के फड़कने का अपशकुन देखकर आप ही आप) 'ब्राह्मण चाणक्य जय जय' और 'पकड़ा जा सकता है अमात्य' यह उल्टी बात हुई और उसी समय असगुन भी हुआ। तो भी क्या हुआ ? उद्यम नहीं छोड़ेंगे। (प्रकाश) भद्र ! क्या कहता है ?

दौवारिक—अमात्य ! पटने से करभक आया है सो आप से मिला चाहता है।

राक्षस—अभी लाओ।

दौवारिक—जो आज्ञा। (बाहर करभक के पास जाकर, उसको संग ले आकर) भद्र ! मंत्रीजी वह बैठे हैं, उधर जाओ।

(जाता है।)

करभक—(मंत्री को देखकर) जय हो, जय हो।

राक्षस—अजी करभक ! आओ आओ, अच्छे हो ? बैठो।

करभक—जो आज्ञा। (पृथ्वी पर बैठ जाता है।)

राक्षस—(आप ही आप) अरे ! मैंने इसको किस काम का भेद लेने को भेजा था, यह कार्य के आधिक्य के कारण भूला जाता है। (चिंता करता है।)

[बेंत हाथ में लेकर एक पुरुष आता है।]

पुरुष—हटे रहना—बचे रहना—अजी दूर रहो—दूर रहो, क्या नहीं देखते ?

नृप द्विजादि, जिन नरन को, मंगल-रूप-प्रकास।
ते न नीच मुखहू लखहिं, कैसो पास निवास॥

(आकाश की ओर देखकर) अजी क्या कहा कि क्यों हटाते हो ? अमात्य राक्षस के सिर में पीड़ा सुनकर कुमार मलयकेतु उनको देखने को इधर ही आते हैं।

(जाता है।)

[भागुरायण और कंचुकी के साथ मलयकेतु आता है ।]

मलयकेतु—(लंबी साँस लेकर आप ही आप) हा ! देखो, पिता के मरे आज दस महीने हुए और व्यर्थ वीरता का अभिमान करके अब तक हम लोगों ने कुछ भी नहीं किया, वरन तर्पण करना भी छोड़ दिया । या क्या हुआ मैंने तो पहले यही प्रतिज्ञा ही की है—

करवलय उर ताड़त गिरे आँचरहु की सुधि नहिं परी ।
किमि करहिं आरतनाद हाहा अलक खुलि रज सों भरी ॥
जो शोक सों भइ मातुगन की दशा सो उलटाइहैं ।
करि रिपु-जुवतिगन की सोई गति पितहि तृप्त कराइहैं ॥

(प्रकाश) अजी जाजले ! सब राजा लोगों से कहो कि मैं बिना कहे सुने राक्षस मंत्री के पास अकेले जाकर उनको प्रसन्न करूँगा, इससे वे सब लोग उधर ही ठहरें ।

कंचुकी—जो आज्ञा । (घूमते-घूमते नेपथ्य की ओर देखकर) अजी राजा लोग ! सुनो । कुमार की आज्ञा है कि मेरे साथ कोई न चले । (देखकर आनंद से) महाराज-कुमार ! देखिए आपकी आज्ञा सुनते ही सब राजा रुक गए ।

मलयकेतु—अजी जाजले ! तुम भी सब लोगों को लेकर जाओ । एक केवल भागुरायण मेरे संग रहे ।

कंचुकी—जो आज्ञा । (सबको लेकर जाता है ।)

मलयकेतु—मित्र भागुरायण ! जब मैं यहाँ आता था तो भद्रभट प्रभृति लोगों ने मुझ से निवेदन किया कि 'हम राक्षस मंत्री के द्वारा कुमार के पास नहीं रहा

चाहते, कुमार के सेनापति शिखरसेन के द्वारा रहेंगे। दुष्ट मंत्री ही के डर से तो चंद्रगुप्त को छोड़ कर यहाँ सब बात का सुभीता जानकर हम लोगों ने कुमार का आश्रय लिया है।' सो उन लोगों की बात का मैंने आशय नहीं समझा।

भागुरायण—कुमार ! यह तो ठीक ही है, क्योंकि अपने कल्याण के हेतु सब लोग स्वामी का आश्रय हित और प्रिय के द्वारा करते हैं।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण ! तो फिर राक्षस मंत्री तो हम लोगों का परम प्रिय और बड़ा हित है।

भागुरायण—ठीक है, पर बात यह है कि अमात्य राक्षस का वैर चाणक्य से है, कुछ चंद्रगुप्त से नहीं है। इससे जो चाणक्य की बातों से रूठकर चंद्रगुप्त उससे मंत्री का काम ले ले और नंदकुल की भक्ति से 'यह नंद ही के वंश का है' यह सोचकर राक्षस चंद्रगुप्त से मिल जाय और चंद्रगुप्त भी अपने बड़े लोगों का पुराना मंत्री समझकर उसको मिला ले, तो ऐसा न हो कि कुमार हम लोगों पर भी विश्वास न करें।

मलयकेतु—ठीक है, मित्र भागुरायण ! राक्षस मंत्री का घर कहाँ है?

भागुरायण—इधर कुमार ! इधर। (दोनों घूमते हैं।) कुमार ! यही राक्षस मंत्री का घर है। चलिए।

मलयकेतु—चलें। (दोनों भीतर जाते हैं।)

राक्षस—अहा ! स्मरण आया; (प्रकाश) कहो जी, तुमने कुसुमपुर में स्तनकलस वैतालिक को देखा था ?

करभक—क्यों नहीं ?

मलयकेतु—मित्र भागुरायण ! जब तक कुसुमपुर की बातें हों तब तक हम लोग इधर ठहरकर सुनें कि क्या बात होती हैं, क्योंकि—

भेद न कछु जामैं खुलै, याही भय सब ठौर ।
नृप सों मंत्रीजन कहहिं, बात और की और ॥

भागुरायण—जो आज्ञा । (दोनों ठहर जाते हैं ।)

राक्षस—क्यों जी, काम सिद्ध हुआ ?

करभक—अमात्य की कृपा से सब काम सिद्ध ही है ।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण ! वह कौन-सा काम है ?

भागुरायण—कुमार ! मंत्री के जी की बातें बड़ी गुप्त हैं । कौन जाने ? इससे देखिए अभी सुन लेते हैं कि क्या कहते हैं ।

राक्षस—अजी, भली भाँति कहो ।

करभक—सुनिए, जिस समय आपने आज्ञा दी कि करभक ! तुम जाकर वैतालिक स्तनकलस से कह दो कि जब-जब चाणक्य चंद्रगुप्त की आज्ञा भंग करे तब-तब तुम ऐसे श्लोक पढ़ो जिससे उसका जी और फिर जाय ।

राक्षस—हाँ, तब ?

करभक—तब मैंने पटने में जाकर स्तनकलस से आपका सँदेसा कह दिया।

राक्षस—तब ?

करभक—इसके पीछे नंदकुल के विनाश से दुखी लोगों का जी बहलाने के हेतु चंद्रगुप्त ने कुसुमपुर में कौमुदी-महोत्सव होने की डौंडी पिटा दी, और उसको बहुत दिन से बिछुड़े हुए मित्रों के मिलाप की भाँति पुर के निवासियों ने बड़े प्रसन्नता-पूर्वक स्नेह से मान लिया। तब चाणक्य दुष्ट ने सब लोगों के नेत्र के परमानंद-दायक उस उत्सव को रोक दिया और उसी समय स्तनकलस ने ऐसे-ऐसे श्लोक पढ़े कि राजा का भी मन फिर जाय।

राक्षस—वाह मित्र स्तनकलस ! वाह, क्यों न हो ! अच्छे समय में भेद-बीज बोया है, फल अवश्य होगा। क्योंकि—

नृप रूठे अचरज कहा, सकल लोग जा संग।
छोटे हू मानैं बुरो, परे रंग में भंग॥

मलयकेतु—ठीक है। ('नृप रूठे' यह दोहा फिर पढ़ता है।)

राक्षस—हाँ, फिर क्या हुआ ?

करभक—तब आज्ञा-भंग से रुष्ट होकर चंद्रगुप्त ने आपकी बड़ी प्रशंसा की और दुष्ट चाणक्य से अधिकार ले लिया।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण ! देखो, प्रशंसा करके राक्षस में चंद्रगुप्त ने अपनी भक्ति दिखाई।

भागुरायण—गुण-प्रशंसा से बढ़कर चाणक्य का अधिकार लेने से।

राक्षस—क्योंजी, एक कौमुदी-महोत्सव के निषेध ही से चाणक्य-चंद्रगुप्त में बिगाड़ हुआ कि कोई और कारण भी है?

मलयकेतु—क्यों मित्र भागुरायण! अब और वैर में यह क्या फल निकालेंगे?

भागुरायण—यह फल निकाला है कि चाणक्य बड़ा बुद्धिमान् है वह व्यर्थ चंद्रगुप्त को क्रोधित न करावेगा और चंद्रगुप्त भी उसकी बातें जानता है, वह भी बिना बात चाणक्य का ऐसा अपमान न करेगा, इससे उन लोगों में बहुत झगड़े से जो बिगाड़ होगा तो पक्का होगा।

करभक—आर्य! और भी कई कारण हैं।

राक्षस—कौन?

करभक—कि जब पहले यहाँ से राक्षस और कुमार मलयकेतु भागे तब उसने क्यों नहीं पकड़ा?

राक्षस—(हर्ष से) मित्र शकटदास! अब तो चंद्रगुप्त हाथ में आ जायगा।

शकटदास—अब चंदनदास छूटेगा, और आप कुटुंब से मिलेंगे, वैसे ही जीवसिद्धि इत्यादि लोग क्लेश से छूटेंगे।

भागुरायण—(आप ही आप) हाँ, अवश्य जीवसिद्धि का क्लेश छूटा।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण! अब मेरे हाथ चंद्रगुप्त आवेगा—इसमें इनका क्या अभिप्राय है?

भागुरायण—और क्या होगा? यही होगा कि यह चाणक्य से छूटे चंद्रगुप्त के उद्धार का समय देखते हैं।

राक्षस—अजी, अब अधिकार छिन जाने पर वह ब्राह्मण कहाँ है?

करभक—अभी तो पटने ही में है।

राक्षस—(घबड़ाकर) हैं! अभी वहीं है? तपोवन नहीं चला गया? या फिर कोई प्रतिज्ञा नहीं की?

करभक—अब तपोवन जायगा—ऐसा सुनते हैं।

राक्षस—(घबड़ाकर) शकटदास! यह बात तो काम की नहीं,

देव नंद को नहिं सह्यो, जिन भोजन-अपमान।
सो निज-कृत नृप चंद्र की, बात न सहिहै, जान॥

मलयकेतु—मित्र भागुरायण! चाणक्य के तपोवन जाने वा फिर प्रतिज्ञा करने में कौन कार्य-सिद्धि निकाली है?

भागुरायण—कुमार! यह तो कोई कठिन बात नहीं है। इसका आशय तो स्पष्ट ही है कि चंद्रगुप्त से जितनी दूर चाणक्य रहेगा उतनी ही कार्य-सिद्धि होगी।

शकटदास—अमात्य! आप व्यर्थ सोच न करें क्योंकि स्वच्छंद राज्य पाकर आत्माभिमानी चंद्रगुप्त अपना अपमान न सह सकेगा और चाणक्य भी अब दूसरी प्रतिज्ञा नहीं करेगा, क्योंकि पहली ही उसकी बड़ी कठिनता से पूरी हुई है।

राक्षस—ऐसा ही होगा। मित्र शकटदास ! जाकर करभक को डेरा इत्यादि दो।

शकटदास—जो आज्ञा।

[करभक को लेकर जाता है।]

राक्षस—इस समय कुमार से मिलने की इच्छा है।

मलयकेतु—(आगे बढ़कर) मैं आप ही से मिलने को आया हूँ।

राक्षस—(आसन से उठकर) अरे कुमार ! आप ही आ गए। आइए, इस आसन पर बैठिए।

मलयकेतु—मैं बैठता हूँ, आप विराजिए।

[दोनों बैठते हैं।]

मलयकेतु—इस समय सिर की पीड़ा कैसी है ?

राक्षस—जब तक कुमार के बदले महाराज कहकर आपको नहीं पुकार सकते तब तक यह पीड़ा कैसे छूटेगी ?

मलयकेतु—आपने जो प्रतिज्ञा की है तो सब कुछ होईगा परंतु सब सेना-सामंत के होते भी आप किस बात का आसरा देखते हैं ?

राक्षस—किसी बात का नहीं, अब चढ़ाई कीजिए।

मलयकेतु—अमात्य ! क्या इस समय शत्रु किसी संकट में है ?

राक्षस—बड़े।

मलयकेतु—किस संकट में ?

राक्षस—मंत्री-संकट में।

मलयकेतु—मंत्री-संकट तो कोई संकट नहीं।

राक्षस—और किसी राजा को न हो तो न हो, पर चंद्रगुप्त को अवश्य है।

मलयकेतु—आर्य ! मेरी जान में चंद्रगुप्त को और भी नहीं है।

राक्षस—आपने कैसे जाना कि चंद्रगुप्त का मंत्री-संकट संकट नहीं है ?

मलयकेतु—क्योंकि चंद्रगुप्त के लोग तो चाणक्य के कारण उससे उदास रहते हैं, जब चाणक्य ही न रहेगा तब उसके सब कामों को लोग और भी संतोष से करेंगे।

राक्षस—कुमार ! ऐसा नहीं है, क्योंकि वहाँ दो प्रकार के लोग हैं—एक चंद्रगुप्त के साथी, दूसरे नंद-कुल के मित्र। उनमें जो चंद्रगुप्त के साथी हैं, उनको चाणक्य ही से दुःख था, नंद-कुल के मित्रों को नहीं, क्योंकि वे लोग तो यही सोचते हैं कि इसी कृतघ्न चंद्रगुप्त ने राज के लोभ से अपने पितृकुल का नाश किया है, पर क्या करें उनका कोई आश्रय नहीं है इससे चंद्रगुप्त के आसरे पड़े हैं। जिस दिन आपको शत्रु के नाश में और अपने पक्ष के उद्धार में समर्थ देखेंगे उसी दिन चंद्रगुप्त को छोड़कर आप से मिल जायँगे। इसके उदाहरण हमीं लोग हैं।

मलयकेतु—आर्य ! चंद्रगुप्त पर हारने का एक यही कारण है कि कोई और भी है ?

राक्षस—और बहुत क्या होंगे। एक यही बड़ा भारी है।

मलयकेतु—क्यों आर्य ! यही क्यों प्रधान है ? क्या चंद्रगुप्त और मंत्रियों द्वारा या आप अपना काम करने में असमर्थ है ?

राक्षस—निरा असमर्थ है ।

मलयकेतु—क्यों ?

राक्षस—क्योंकि जो स्वयं राज्य सँभालते हैं या जिनका राज राजा और मंत्री दोनों करते हैं वह राजा ऐसे हों तो हों; परंतु चंद्रगुप्त तो कदापि ऐसा नहीं है । चंद्रगुप्त एक तो दुरात्मा है, दूसरे वह तो सचिव ही के भरोसे सब काम करता है; इससे वह कुछ व्यवहार जानता ही नहीं तो फिर वह सब काम कैसे कर सकता है ?

मलयकेतु—(आप ही आप) तो हम अच्छे हैं कि सचिव के अधिकार में नहीं । (प्रकाश) अमात्य ! यद्यपि यह ठीक है तथापि जहाँ शत्रु के अनेक छिद्र हैं तहाँ एक इसी सिद्धि से सब काम न निकलेगा ।

राक्षस—कुमार के सब काम इसी से सिद्ध होंगे । देखिए—

चाणक्य को अधिकार छूटयो, चंद्र हैं राजा नए ।
पुर नंद में अनुरक्त, तुम निज बल-सहित चढ़ते भए ॥
जब आप हम [कहकर लज्जा से कुछ ठहर जाता है ।]
तुव बस सकल उद्यम-सहित रन मति करी ।
वह कौन-सी नृप, बात जो, नहिं सिद्धि ह्वैहै ता घरी ॥

मलयकेतु—अमात्य ! जो अब आप ऐसा लड़ाई का समय देखते हैं तो देर करके क्यों बैठे हैं ?

[शस्त्र उठाकर भागुरायण के साथ जाता है ।]

राक्षस—कोई है ?

[प्रियंवदक आता है ।]

प्रियंवदक—आज्ञा ?

राक्षस—देख तो द्वार पर कौन भिक्षुक खड़ा है ?

प्रियंबदक—जो आज्ञा। (बाहर जाकर फिर आता है।) अमात्य! एक क्षपणक भिक्षुक।

राक्षस—(असगुन जानकर आप ही आप) पहले ही क्षपणक का दर्शन हुआ।

प्रियंबदक—जीवसिद्धि है ।

राक्षस—अच्छा, बुलाकर ले आ ।

प्रियंवदक—जो आज्ञा । (जाता है ।)

[क्षपणक आता है ।]

क्षपणक—पहले कटु परिणाम मधु, औषध-सम उपदेस ।
मोह व्याधि के बैद्य गुरु, तिनको सुनहु निदेस ॥

[पास जाकर] उपासक ! धर्म-लाभ हो ।

राक्षस—ज्योतिषीजी ! बताओ, अब हम लोग प्रस्थान किस दिन करें ?

क्षपणक—(कुछ सोचकर) उपासक ! मुहुर्त्त तो देखा। आज भद्रा तो पहर पहले ही छूट गई है, और तिथि भी संपूर्णचंद्रा पौर्णमासी है। आप लोगों को उत्तर से दक्षिण जाना है और नक्षत्र भी दक्षिण है।

अथए सूरहि, चंद के, उदए गमन प्रशस्त ।
पाइ लगन बुध केतु तौ, उदयो हू भो अस्त॥

राक्षस—अजी पहिले तो तिथि ही नहीं शुद्ध है।

क्षपणक—उपासक

एक गुनी तिथि होत है, त्यौं चौगुन नक्षत्र ।
लगन होत चौंतिस गुनो, यह भाखत सब पत्र ॥
लगन होत है शुभ लगन, छोड़ि क्रूर ग्रह एक ।
जाहु चंद-बल देखिकै, पावहु लाभ अनेक ॥

राक्षस—अजी, तुम और ज्योतिषियों से जाकर झगड़ो।

क्षपणक—आप ही झगड़िए, मैं जाता हूँ।

राक्षस—क्या आप रूस तो नहीं गए ?

क्षपणक—नहीं, तुमसे ज्योतिषी नहीं रूसा है।

राक्षस—तो कौन रूसा है ?

क्षपणक—(आप ही आप (भगवान्, कि तुम अपना पक्ष छोड़कर शत्रु का पक्ष ले बैठे हो।

(जाता है।)

राक्षस—प्रियंबदक ! देख तो कौन समय है ?

प्रियंबदक—जो आज्ञा।(बाहर से हो आता है।) आर्य ! सूर्यास्त होता है।

राक्षस—(आसन से उठकर और देखकर) अहा ! भगवान् सूर्य अस्ताचल को चले—

जब सूरज उद्यो प्रबल, तेज धारि आकास।
तब उपवन तरुवर सबै, छायाजुत भे पास॥
दूर परे ते तरु सबै, अस्त भए रवि-ताप।
जिमि धन-बिनु स्वामिहि, तजै भृत्य स्वारथी आप॥

(दोनों जाते हैं।)

—भारतेंदु हरिश्चंद्र

---

(३७) चित्तौड़गढ़

बांबे बड़ौदा एंड सेंट्रल इंडिया रेलवे की अजमेर से खंडवा जानेवाली शाखा पर चित्तौड़गढ़ जंक्शन से दो मील पूर्व में एक विलग पहाड़ी पर राजपूताने का ही नहीं, वरन् भारत का सुप्रसिद्ध क़िला, चित्तौड़गढ़ बना हुआ है। राजपूत जाति के इतिहास में यह दुर्ग एक अत्यंत प्रसिद्ध स्थान है, जहाँ असंख्य राजपूत वीरों ने अपने धर्म और देश की रक्षा के लिए अनेक असिधारा-रूपी तीर्थ में स्नान किया और जहाँ कई राजपूत वीरांगनाओं ने सतीत्व-रक्षा के निमित्त, धधकती हुई जौहर की अग्नि में कई अवसरों पर अपने प्रिय बाल बच्चों के सहित प्रवेशकर जो उच्च-आदर्श उपस्थित किया, वह चिरस्मरणीय रहेगा। राजपूतों ही के लिये नहीं, किंतु प्रत्येक स्वदेश-प्रेमी हिंदू-संतान के लिये क्षत्रिय-रुधिर से सींची हुई यहाँ की भूमि के रजकण भी तीर्थ-रेणु के तुल्य पवित्र हैं।

यह क़िला मौर्यवंश के राजा चित्रांगद ने बनवाया था, जिससे इसको चित्रकूट (चित्तौड़) कहते हैं। विक्रम संवत् की आठवीं शताब्दी के अंत में मेवाड़ के गुहिल-वंशी राजा बापा ने राजपूताने पर राज्य करनेवाले मौर्यवंश के अंतिम राजा मान से यह क़िला हस्तगत किया। फिर मालवे के परमार राजा मुंज ने इसे गुहिल-वंशियों से छीनकर अपने राज्य में मिलाया। वि० सं० की बाहरवीं शताब्दी के अंत में गुजरात के सोलंकी राजा जयसिंह (सिद्धराज) ने परमारों से मालवा छीना, जिसके साथ ही यह दुर्ग भी सोलंकियों के अधिकार में होगया। तदनंतर जयसिंह के उत्तराधिकारी कुमारपाल के भतीजे अजयपाल को परास्तकर मेवाड़ के राजा सामंतसिंह ने वि० सं० १२३१ (ई० सन् ११७४) के आस-पास इस क़िले पर गुहिल-वंशियों का आधिपत्य जमाया। उस समय से आज तक यह इतिहास-प्रसिद्ध दुर्ग प्रायः—यद्यपि बीच में कुछ वर्षों तक मुसलमानों के अधीन भी रहा था—गुहिल-वंशियों (सीसोदियों) के ही अधिकार में चला आता है।

चित्तौड़गढ़ जंक्शन से क़िले के ऊपर तक पक्की सड़क बनी हुई है। स्टेशन से रवाना होकर अनुमान सवा मील जाने पर गंभीरी नदी आती है, जिस पर अलाउद्दीन खिलजी के शाहज़ादे ख़िज़रखाँ का बनवाया हुआ पाषाण का एक सुदृढ़ पुल है। अलाउद्दीन खिलजी ने महारावल रत्नसिंह के समय वि० सं० १३६० (ई० सन् १३०३) में यह दुर्ग विजयकर अपने पुत्र को यहाँ का हाकिम नियत किया था। उसी समय यह पुल बना था।

पुल से थोड़ी दूर जाने पर कोट से घिरा हुआ चित्तौड़ का क़स्बा आता है जिसको 'तलहटी' (तलहट्टिका) कहते हैं। क़स्बे में ज़िले की कचहरी है जिसके पास से किले की चढ़ाई आरंभ होती है। सबसे पहले 'पाडल पोल' नामक क़िले का दरवाज़ा मिलता है, जिसके बाहर की तरफ़ एक चबूतरे पर प्रतापगढ़ के रावल बाघसिंह का स्मारक बना हुआ है। महाराणा विक्रमादित्य के समय में गुजरात के सुलतान बहादुरशाह ने वि० सं० १५९१ (ई० सन् १५३४) में चित्तौड़ पर चढ़ाई की। उस समय बालक होने के कारण महाराणा क़िले के बाहर भेज दिये गये थे और बाघसिंह उनका प्रतिनिधि बनकर लड़ता हुआ इसी दरवाज़े के पास मारा गया था। थोड़ी दूर उत्तर में चलने पर 'भैरव पोल' है, जिसके पास ही दाहिने हाथ की तरफ दो छत्रियाँ बनी हुई हैं। इनमें से पहली चार स्तंभोंवाली प्रसिद्ध राठौड़ जैमल के कुटुंबी कल्ला और इसके समीप ही ६ स्तंभोंवाली छत्री स्वयं जैमल की है, जहाँ ये दोनों राठौड़ वीर वि० सं० १६२४ (ई० सन् १५६७) में मारे गये थे। इन छत्रियों से थोड़ी दूर पर 'हनुमान पोल' आती है, जहाँ से कुछ आगे जाकर सड़क दक्षिण की ओर मुड़ती है और इस मोड़ पर 'गणेश पोल' बनी हुई है। 'गणेश पोल' के आगे 'लक्ष्मण पोल' के पास से सड़क फिर उत्तर की तरफ मुड़ जाती है और इस घुमाव पर ही 'जोड़ला पोल' आती है। फिर कुछ दूर चलने से 'राम पोल' नामक पश्चिमाभिमुख प्रवेश-द्वार में होकर क़िले पर पहुँच जाते हैं, जहाँ पहाड़ी की चढ़ाई समाप्त होकर समतल भूमि आती है।

'राम पोल' में प्रवेश करते ही सामने की तरफ एक चबूतरे

पर उपर्युक्त सीसोदिया पत्ता के स्मारक का पत्थर खड़ा है, जहाँ वह लड़ता हुआ काम आया था। 'राम पोल' में प्रवेश करने के बाद सड़क उत्तर में भी मुड़ती है। उधर आगे बढ़ने पर दाहिनी ओर सड़क से कुछ दूर 'हिंगलू अहाड़ा' के महल आते हैं। ये महल महाराणा रत्नसिंह के रहने के थे, जहाँ रत्नेश्वर का कुंड और मंदिर है। यहाँ से कुछ दूर चलने पर सड़क पूर्व की तरफ घूमती है। पहाड़ी के पूर्वी किनारे के समीप एक खिड़की बनी हुई है जिसको 'लाखोटा की बारी' कहते हैं। यहाँ से राजटीले तक सड़क सीधी दक्षिण में चली गई है। मार्ग में पहले बाईं ओर सात मंजिलोंवाला जैन-कीर्ति-स्तंभ आता है, जिसको दिगंबर संप्रदाय के बघेरवाला महाजन सा (साह, सेठ) के पुत्र जीजा ने वि० सं० की चौदहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में बनवाया था। यह कीर्ति-स्तंभ आदिनाथ का स्मारक है। इसके चारों पार्श्व पर आदिनाथ की एक विशाल दिगंबर (नग्न) जैन-मूर्ति खड़ी है और बाकी के भाग पर अनेक छोटी-छोटी जैन-मूर्तियाँ खुदी हुई हैं। इस कीर्ति-स्तंभ के ऊपर की छत्री बिजली गिरने से टूट गई थी, परंतु वर्तमान महाराणा साहब ने ठीक वैसी ही छत्री पीछे बनवा दी और स्तंभ की भी मरम्मत हो गई है। जैन-कीर्ति-स्तंभ के पास ही महावीर स्वामी का टूटा-फूटा मंदिर है, जिसका जीर्णोद्धार महाराणा कुंभा के समय वि० सं० १४९५ (ई० सन् १४३८) में ओसवाल महाजन गुणराज ने कराया था। आगे बढ़ने से 'सूरज पोल' नामक क़िले का पूर्वी दरवाज़ा आता है, जहाँ से इस दुर्ग के नीचे मैदान में जाने के लिये एक रास्ता बना हुआ है। इस दरवाज़े के निकट सलूंबर के रावत

साईंदास का चबूतरा है, जहाँ वह अकबर की लड़ाई के समय वीरता से लड़ता हुआ मारा गया। यहाँ से दक्षिण की तरफ़ जाने पर दाहिने ओर अदबदजी (अद्भुतजी) का मंदिर आता है, जो महाराणा रायमल के राज्य-समय वि० सं० १५४० (ई० सन् १४८३) में बना था। यहाँ से थोड़ी ही दूर पर राजटीला नामक एक ऊँचा स्थान है, जहाँ पहले मौर्यवंशी राजा मान के महल थे, ऐसी प्रसिद्धि है। सड़क के पश्चिमी सिर के पास चित्रांगद मौर्य्य का निर्माण कराया हुआ तालाव है, जिसको 'चत्रग' कहते हैं। यहाँ से अनुमान पौन मील दक्षिण में चित्तौड़ की पहाड़ी समाप्त होती है। चत्रंग तालाव से सड़क उत्तर को जाती है।

उत्तर में थोड़ी दूर आगे बढ़ने पर दाहिनी ओर चहार-दिवारी से घिरा हुआ एक छोटा-सा स्थान है, जिसको लोग 'भाक्ती' कहते हैं। इसके विषय में ऐसी प्रसिद्धि है कि मालवे का सुलतान इसमें कैद रहा था। परंतु यह केवल कल्पना ही है; क्योंकि इस जगह रहने के योग्य कोई स्थान दृष्टि-गोचर नहीं होता। यहाँ से आगे कुछ अंतर पर पश्चिम की तरफ बूँदी, रामपुरा और सलूंबर की हवेलियों के खँडहर थोड़ी ऊँचाई पर दिखाई पड़ते हैं। यहीं एक जलाशय के किनारे पर रावल रत्नसिंह की रानी पद्मिनी के महल बने हुए हैं। एक छोटा महल तालाव के बीच में भी है। उक्त महलों से दक्षिण-पूर्व में दो गुंबजदार मकान हैं जिनको वहाँ के लोग 'गोरा और बादल के महल' कहते हैं, परंतु उनकी बनावट तथा वर्तमान दशा देखते हुए उनको इतने पुराने नहीं मान सकते। पद्मिनी के महलों से उत्तर में बाईं ओर कालिका माता का सुंदर,

विशाल और ऊँची कुरसीवाला एक मंदिर है, जिसके खंभों, छतों तथा निज-मंदिर द्वार पर खुदाई का सुंदर काम देखते हुए यही प्रतीत होता है कि यह मंदिर वि० सं० की दसवीं शताब्दी के लगभग का बना हुआ होगा। वास्तव में यह कालिका का नहीं, किंतु सूर्य का मंदिर था, ऐसा निज-मंदिर के द्वार पर की सूर्य की मूर्ति तथा गर्भ-गृह के बाहरी पार्श्व के ताकों में स्थापित सूर्य की मूर्तियों से निश्चय होता है । मुसलमानों के समय में यहाँ की मूर्ति तोड़ दी गई और बरसों तक यह मंदिर सूना पड़ा रहा, जिस से पीछे से इसमें कालिका की मूर्त्ति स्थापित की गई। महाराणा सज्जनसिंह ने इस मंदिर का जीर्णोद्धार कराया था। इस मंदिर के उत्तर-पूर्व में एक विशाल कुंड बना हुआ है, जिसको 'सूरज-कुंड' कहते हैं। यहाँ से आगे पत्ता और जैमल की हवेलियाँ हैं। जैमल की हवेली से पूर्व में एक तालाब है जो 'जैमलजी का तालाब' कहलाता है। इस जलाशय के तट पर बौद्धों के ६ स्तूप खड़े थे, जो इस समय तोपखाने के मकान के पास पड़े हुए हैं। इन स्तूपों से अनुमान होता है कि उक्त तालाब के निकट प्राचीन काल में बौद्धों का कोई मंदिर या तीर्थ-स्थान अवश्य होगा। इस तालाब से आगे पूर्व में 'हाथी-कुंड' और पश्चिम में 'गोमुख' नामक प्रसिद्ध तीर्थ है। इसके निकट महाराणा रायमल के समय का बना हुआ एक छोटा-सा जैन-मंदिर है, जिसकी मूर्त्ति दक्षिण से यहाँ ला गई थी । गोमुख के उत्तरी छोर पर समिद्धेश्वर (समाधीश्वर, शिव) का भव्य प्राचीन मंदिर है, जिसके भीतरी और बाहरी भाग में खुदाई का काम बड़ा ही सुंदर बना है। मालवे के सुप्रसिद्ध विद्यानुरागी परमार राजा भोज ने यह मंदिर निर्माण कराया था और उसके

विरुद्ध 'त्रिभुवन नारायण' पर से इसको त्रिभुवन नारायण का शिवालय और भोज-जगती (भोज का मंदिर) भी कहते थे, ऐसा उल्लेख शिला-लेखों में मिलता है। इसके गर्भ-गृह (निज-मंदिर) के नीचे के भाग में शिवलिंग और पीछे की दीवार में शिव की विशाल त्रिमूर्ति बनी हुई है, जिसकी अद्भुत आकृति के कारण लोग इसको अद्बदजी (अद्भुतजी) का मंदिर कहते हैं। चित्तौड़ पर यह दूसरा प्राचीन मंदिर है। महाराणा मोकल ने वि० सं० १४८५ (ई० सन् १४२८) में इसका जीर्णोद्धार करवाया, जिससे इसको लोग 'मोकलजी का मंदिर' भी कहते हैं। अजमेर के चौहान राजा आना (अर्णोराज) को परास्त कर गुजरात का सोलंकी राजा कुमारपाल चित्तौड़ देखने आया था। उसने यहाँ पूजन किया और एक गाँव इस मंदिर को भेंट कर वि० सं० १२०७ (ई० सन् ११५०) में यहाँ अपना शिला-लेख लगाया जो अब तक विद्यमान है। मंदिर के साथ ही एक मठ भी बना था जो टूटी-फूटी दशा में अब भी दिखाई पड़ता है। इस मंदिर और महाराणा कुंभा के कीर्तिस्तंभ के बीच चित्तौड़ के राजाओं का दाह-स्थान (महासती) है, जिसके चारों ओर रावल समरसिंह ने एक बड़े द्वार-सहित कोट बनवाया था।

पास ही महाराणा कुंभा का बनवाया हुआ विशाल कीर्ति-स्तंभ है जो भारतवर्ष में अपने ढंग का एक ही है। उपर्युक्त जैन-कीर्तिस्तंभ से यह अधिक ऊँचा और चौड़ा है, तथा प्रत्येक मंजिल में झरोखे बने हैं, जिनसे इसके भीतरी भाग में प्रकाश भी काफी रहता है। इसमें विष्णु के भिन्न-भिन्न अवतारों की तथा रामायण और महाभारत के पात्रों आदि की सैकड़ों मूर्तियाँ

खुदी हुई हैं। वास्तव में यह हिंदुओं के पौराणिक देवताओं का एक अमूल्य कोश है; और साथ ही इसमें विशेषता यह है कि प्रत्येक मूर्त्ति के ऊपर या नीचे उसका नाम खुदा हुआ है। इसलिये प्राचीन मूर्त्तियों का ज्ञान संपादन करनेवालों के लिये यह एक अपूर्व साधन है। इसकी प्रतिष्ठा वि० सं० १५०५ माघ वदी १० को हुई थी, और इसका प्रारंभ वि० सं० १४९७ में होना चाहिए। इसके विषय में ऐसी प्रसिद्धि है कि वि० सं० १४९७ (ई० सन् १४४०) में मालवे के सुलतान महमूदशाह खिलजी को प्रथम बार परास्तकर उसकी यादगार में राणा कुंभा ने अपने इष्टदेव विष्णु के निमित्त यह कीर्तिस्तंभ बनवाया था। इसके ऊपर की छत्री बिजली गिरने से टूट गई थी जिससे महाराणा रूपसिंह ने उसकी मरम्मत करवाई। कीर्तिस्तंभ के उत्तर में जटाशंकर नामक शिवालय है और थोड़े ही अंतर पर महाराणा कुंभा का निर्माण कराया हुआ विष्णु के वाराह अवतार का कुंभ-स्वामी (कुंभ-श्याम) नामक भव्य मंदिर बना हुआ है, जिसको भ्रम से 'मीराँबाई का मंदिर कहते हैं। यह मंदिर भी वि० सं० १५०५ (ई० सन् १४४९) में बना था। यहाँ से बढ़ने पर पुराने महलों का 'बड़ी पोल' नामक द्वार आता है। इस द्वार से पूर्व में कई एक जैन-मंदिर टूटी-फूटी दशा में खड़े हैं। इसी के पास आजकल वर्तमान महाराणा साहब के नये महल बन रहे हैं। बड़ी पोल में प्रवेश कर आगे बढ़ने पर त्रिपोलिया नामक एक दूसरा दरवाज़ा मिलता है, जिसके भीतर महाराणा कुंभा के बनवाए हुए पुराने राजमहल भग्नावस्था में विद्यमान हैं। महाराणा सज्जनसिंह ने इनके जीर्णोद्धार का कार्य आरंभ किया

था, परंतु उनके समय में थोड़ा ही काम बन सका। इन्हीं महलों में एक तहखाना बना हुआ है, जिसके विषय में यह प्रसिद्ध है कि यहाँ से प्रारंभ होकर एक सुरंग गोमुख तक चली गई है। और यह भी कहते हैं कि इसी के भीतर जौहर हुए थे। परंतु ये दोनों कथन सर्वथा कल्पित हैं, क्योंकि रोशनी लेकर तहखाने के भीतर जाने पर मुझे मालूम हुआ कि यह एक तहखानामात्र है जहाँ से आगे कोई मार्ग नहीं है। जौहर की अग्नि प्रज्वलित करने के लिये भी इनमें गुंजाइश नहीं है। यह अभी तक अनिश्चित है कि जौहर किस स्थान में हुए; परंतु पुराने राजमहलों और गोमुख के बीच किसी स्थान में उनका होना संभव है।

इन महलों के निकट उत्तर की तरफ सुंदर खुदाई के कामवाला एक छोटा-सा मंदिर है जिसको 'सिंगारचौरी' (शृंगारचौरी) कहते हैं। इसके मध्य में एक छोटी-सी वेदी पर चार स्तंभोंवाली छत्री बनी हुई है। लोग कहते हैं कि यहाँ पर राणा कुंभा की राजकुमारी का विवाह हुआ था, जिसकी यह चौरी है। वास्तव में इतिहास के अंधकार में इस कल्पना की सृष्टि हुई है, क्योंकि इसके एक स्तंभ पर खुदे हुए वि० सं० १५०५ (ई० सन् १४४८) के शिलालेख से ज्ञात होता है कि राजा कुंभा के भंडारी (कोषाध्यक्ष) वेलाक ने, जो साह केल्हा का पुत्र था, शांतिनाथ का यह जैन-मंदिर बनवाया और उसकी प्रतिष्ठा खरतरगच्छ के आचार्य जिनसेन सूरि ने की थी। जिस स्थान को लोग चौरी बतलाते हैं, वह वास्तव में उक्त मूर्त्ति की वेदी है। यहाँ से थोड़ी दूर पर नवलक्खा (या नवकोठा) नामक स्थान है। कहते हैं कि इसे

राणा वनवीर ने भीतरी क़िला बनाने के विचार से एक विशाल बुर्ज सहित बनवाया था। इसी के निकट तोपखाने का नया मकान बना है; जहाँ इस क़िले के बुर्जों पर की छोटी बड़ी तोपें एकत्र करके रक्खी हुई हैं। महलों के पास से सड़क मुड़कर उत्तर में रामपोल दरवाज़े तक पहुँच जाती है।

चित्तौड़ में कई बड़ी-बड़ी लड़ाइयाँ हुईं, असंख्य क्षत्रियों का रक्तपात हुआ और तीन बार जौहर भी हुए, जिनमें सैकड़ों राजपूत-रमणियों ने जीते-जी अग्नि-प्रवेश किया। इन कई घटनाओं से चित्तौड़ एक इतिहास-प्रसिद्ध स्थान है और कालांतर में इसकी बहुत प्रसिद्धि हुई। परंतु वास्तव में देखा जाय तो युद्ध के लिये रणथंभोर, कुंभलगढ़ आदि दुर्गों के जैसा उपयुक्त स्थान यह नहीं है। पहाड़ी के किनारे-किनारे सीधी खड़ी हुई ऊँची-ऊँची चट्टानों की एक पंक्ति आ गई है, जिसके ऊपर चौतरफ एक ऊँचा और सुदृढ़ प्रकार बना हुआ होने के कारण प्राचीन काल में शत्रु के लिये सीढ़ियों की सहायता से चढ़कर अथवा लड़कर इस क़िले को लेना अत्यंत कठिन कार्य था। परंतु विस्तीर्ण मैदान में एक पृथक् पहाड़ी पर बना हुआ होने के कारण शत्रु बड़ी सुगमता से पहाड़ी का घेरा डालकर क़िले में रहनेवालों के लिए रसद का पहुँचना शीघ्र रोक सकता था। इस दुर्ग का जब-जब घेरा डाला गया, तब-तब गढ़ में भोजन-सामग्री विद्यमान रहने तक ही यह गढ़-रक्षकों के अधीन रहा; और जब भोजन की सामग्री शेष न रही, तब राजपूतों को विवश हो दुर्ग के द्वार खोलकर शत्रु-सेना से युद्ध करने के लिये बाहर आना पड़ा। राजपूतों के अदम्य उत्साह तथा बड़ी वीरता से लड़ने पर भी शत्रुओं की संख्या

कहीं अधिक होने से अंत में सब रक्षकों के वीर-गति पाने पर गढ़ शत्रुओं के अधिकार में चला गया। परंतु इस समय तो बड़ी-बड़ी तोपों तथा वायुयान आदि पाश्चात्य यंत्र-साधनों का प्रचार होने से संसार के प्रायः सभी क़िले निरुपयोगी हो रहे हैं।

—गौरीशंकर हीराचंद ओझा

परिशिष्ट

(१) राय कृष्णदास का जन्म सं० १९४९ मार्गशीर्ष कृष्णा २ को काशी में हुआ। इनके पिता भारतेंदु हरिश्चंद्र के फुफेरे भाई थे। ९ वर्ष की अवस्था में ये कविता करने लगे थे। इनके पिता के मौसेरे भाई बाबू राधाकृष्णदास इन्हें देखकर बड़े प्रसन्न होते थे। जब ये केवल १२ वर्ष के थे, तभी इनके पिता स्वर्गवासी होगए थे। १६ वें वर्ष इन्होंने 'दुलारे रामचंद्र' नाम का एक उपन्यास लिखना आरंभ किया जो अधूरा रह गया। इन्होने साहित्य के कई अंगों पर काम किया है। कविता में इनके मार्गदर्शक बाबू मैथिलीशरण गुप्त थे। बँगला-साहित्य का भी इन पर बहुत प्रभाव पड़ा है। रवींद्र बाबू की गीतांजलि पढ़कर इन्होने उसी ढंग पर 'साधना' लिखी। इनकी कहानियों पर भी बँगला का प्रभाव पड़ा है, विशेपकर रवींद्र और प्रभात बाबू का। ये कला-कोविद भी हैं। इनकी सबसे बड़ी कीर्ति इनका किया हुआ कला-कृतियों का संग्रह है जो आजकल काशी नागरी-प्रचारिणी-सभा का एक अंग है। कला-भवन का पूर्व रूप भारतीय-कला-परिषद् था जिसकी स्थापना इन्होंने सं० १९७७ में की थी।

(२) रायबहादुर महामहोपाध्याय डाक्टर गौरीशंकर हीराचंद ओझा का जन्म सं० १९२० में सिरोही राज्य के रोहिड़ा गाँव में हुआ । आप हिंदी और संस्कृत के बड़े विद्वान् हैं और अंग्रेजी का भी ज्ञान रखते हैं । आप अजमेर अजायब-घर के सुपरिंटेंडेंट रह चुके हैं । प्राचीन खोज के लिये आप बहुत प्रसिद्ध हैं । आपका जन्म इसी विभाग में काम करते हुए बीता है । आपने 'प्राचीन-लिपि-माला' नामक ग्रंथ लिखकर हिंदी का मस्तक ऊँचा किया है । इस ग्रंथ पर आपको हिंदी-साहित्य-सम्मेलन से १२००) रु० का मंगलाप्रसाद पारितोषिक मिला है । आप राजस्थान के इतिहास में प्रमाण समझे जाते हैं । राजपूताने के प्राचीन इतिहास पर आप बराबर प्रकाश डालते रहे हैं । आजकल आपका राजपूताने का सर्वांगपूर्ण इतिहास खंडशः प्रकाशित हो रहा है ।

(३) पंडित चंद्रधर शर्मा गुलेरी का जन्म २५ आषाढ़ संवत् १९४० को जयपुर में हुआ था । बाल-काल में इन्होंने अपने पिता पंडित शिवराम से संस्कृत की अच्छी शिक्षा पाई थी । सन् १८९३ में इन्होंने महाराजा कॉलेज, जयपुर में अंग्रेजी पढ़ना आरंभ किया । सन् १९०३ में ये प्रयाग विश्वविद्यालय की बी० ए० परीक्षा में प्रथम हुए । तब ये खेतड़ी के स्वर्गवासी राजा साहब के संरक्षक बनाकर मेयो कॉलेज अजमेर भेजे गए । वहाँ ये बहुत समय तक अध्यापक रहे । कुछ वर्ष के

बाद ये काशी-विश्वविद्यालय के संस्कृत कॉलेज के अध्यापक होकर आए और वहीं संवत् १९७९ में इनका स्वर्गवास हुआ। कुछ मित्रों के सहयोग से इन्होंने जयपुर में नागरी-भवन की स्थापना की थी। कई वर्ष तक ये 'समालोचक' के संपादक रहे। नागरी-प्रचारिणी-सभा से प्रकाशित 'लेख-माला' का भी इन्होंने बहुत समय तक संपादन किया। गुलेरीजी भाषा-विज्ञान के बड़े अच्छे विद्वान् थे। पुरानी हिंदी पर आपने 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' में एक महत्वपूर्ण लेखमाला निकाली थी। इन्होंने समय-समय पर अन्य फुटकर निबंध भी लिखे। अपने जीवन के अंत के कुछ वर्षों में इन्होंने 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' का संपादन भी किया।

(४) **पंडित चतुर्भुज औदीच्य** का जन्म एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण-कुल में, मथुरा नगर में संवत् १९३६ की आषाढ़ कृष्णा ९ को हुआ। आपकी स्कूली शिक्षा एंट्रेंस तक हुई है, पर आप संस्कृत, हिंदी, बँगला, गुजराती और उर्दू के अच्छे जानकार हैं। जीवन के आरंभ में आप मथुरा में पुस्तकों का व्यवसाय करते थे। पीछे आपने कलकत्ते में एक यूरोपीय मर्चेंट के दफ्तर में नौकरी कर ली, और आज ३० वर्षों से वहीं काम कर रहे हैं। कुछ दिनों तक आपने 'भारत-मित्र' के संपादकीय-विभाग में भी काम किया है। जासूसी-कुत्ता, हेमलेट, हवाई-महल, रुपया या भारत का वाणिज्य, औदीच्य

ज्ञाति का इतिहास आदि आपके मुख्य ग्रंथ हैं। आपने समय-समय पर अनेक साहित्यिक निबंध भी लिखे हैं। इस समय आप 'औदीच्य-बंधु' का संपादन कर रहे हैं।

(५) बाबू जयशंकर 'प्रसाद' का जन्म स० १९४६ में काशी के प्रसिद्ध वैश्य-कुल में हुआ था। हिंदी के उच्च कोटि के प्रतिभाशाली साहित्यकारों में आपका स्थान है। अपनी सर्वतोमुखी प्रतिभा के कारण आपको कवींद्र रवींद्र की तरह नाटक, काव्य, कहानी, उपन्यास सबके लिखने में सफलता मिली है। आपने भारत के प्राचीन इतिहास का अच्छा अध्ययन किया था, और अपने नाटकों में प्राचीन भारतीय समाज के भूले हुए चित्रों को दिखाने में आप बड़े दक्ष थे। आपका भाषा-सौष्ठव प्रसिद्ध है, जिसमें संस्कृत शब्दों की बहुतायत रहती है। आपके कहानी-संग्रहों में 'आँधी' तथा 'आकाश-दीप', नाटकों में 'अजातशत्रु', 'जन्मेजय का नागयज्ञ', 'चंद्रगुप्त' तथा 'स्कंदगुप्त', उपन्यासों में 'कंकाल' 'तितली' और काव्यों में 'आँसू' तथा 'कामायनी' मुख्य हैं। कुछ ही दिन हुए कि इनका स्वर्गवास हो गया।

(६) पंडित प्रतापनारायण मिश्र का जन्म संवत् १९१३ में आश्विन शुक्ला ९ को पं० संकठाप्रसाद के घर बैजे गाँव ज़िला कानपुर में हुआ था। इनको संस्कृत, हिंदी और अंग्रेज़ी की साधारण शिक्षा मिली थी। उर्दू, फ़ारसी का भी इन्होंने कुछ अभ्यास किया था। ये अपने समय के अच्छे कवि और लेखक

थे। ये अपनी हास्यमयी रचनाओं के लिये बड़े प्रसिद्ध हैं। ये हिंदी, हिंदू, हिंदुस्तान के बड़े भक्त थे। इन्होंने कानपुर से 'ब्राह्मण' नाम का एक पत्र संवत् १९४० में निकाला था, जो दस वर्ष तक चलता रहा। इन्होंने 'हठी हम्मीर' (नाटक), 'दंगल खंड' (आल्हा), तृप्यंताम्, भारत दुर्दशा, राजसिंह, युगलांगुलीय आदि ४० के लगभग पुस्तकों की रचना और अनुवाद किया। दुर्भाग्यवश ३८ वर्ष की ही अवस्था में दैव ने इन्हें उठा लिया।

(७) बाबू प्रेमचंद का जन्म संवत् १९३७ में एक प्रतिष्ठित कायस्थ घराने में हुआ था। इनका पहला नाम धनपतराय था। इन्होंने बी० ए० तक शिक्षा पाई थी। पहले ये किसी नार्मल स्कूल में मास्टर थे और उर्दू में लेख लिखा करते थे। उर्दू-साहित्य में इनका बड़ा भारी नाम है। फिर इनका ध्यान हिंदी की ओर आकर्षित हुआ और जब हिंदी में लिखने लगे तो उसमें भी खलबली मचा दी। इनकी छोटी कहानियों में कला का पूर्ण कौशल प्रकट होता है। सेवा-सदन, प्रेमाश्रम, रंग-भूमि, काया-कल्प, निर्मला, प्रतिज्ञा आदि कई उपन्यास इन्होंने लिखे हैं जिनमें इनकी घटना-निर्माण-कला-पटुता दिखाई देती है। इनकी भाषा सरल और चलती होती है। 'रंगभूमि' पर हिंदुस्तानी एकेडेमी प्रयाग से और 'काया-कल्प' पर नागरी-प्रचारिणी से क्रमशः ५००) और २००) का पुरस्कार मिला था। नागरिक और ग्राम्य, राजनीतिक और सामाजिक,

भीतरी और बाहरी सभी प्रकार के जीवन का इन्होंने बड़ी निपुणता के साथ चित्रण किया है। इन्होंने कुछ दिनों तक 'मर्यादा' और 'माधुरी' का संपादन भी किया था। जीवन के अंतिम भाग में इन्होंने 'हंस' का संपादन और प्रकाशन किया। सन् १९३७ में इनका स्वर्गवास हो गया।

(८) **पंडित बालकृष्ण भट्ट** का जन्म संवत् १९०१ में प्रयाग में हुआ था। पहले इन्हें घर पर संस्कृत की शिक्षा मिली। फिर ये मिशन-स्कूल में अंग्रेज़ी पढ़ने लगे। पादरी हेडमास्टर से वाद-विवाद हो जाने पर आपने स्कूल छोड़ दिया और फिर संस्कृत पढ़ने लगे। इसी बीच में ये जमुना मिशन-स्कूल में अध्यापक हो गए। पर वहाँ भी अपनी धर्मनिष्ठा के कारण न निभी। नौकरी छोड़कर इन्होंने व्यापार में हाथ लगाया, पर वह भी इनकी प्रकृति के अनुकूल न निकला। अतएव ये साहित्य-सेवा में अपना सारा समय लगाने लगे और थोड़े ही समय में प्रसिद्ध लेखक हो गए। इस बीच में ये संस्कृत का गहन अध्ययन भी करते रहे। इसी समय प्रयाग में हिंदी-प्रवर्द्धिनी-सभा की स्थापना हुई, जिसने 'हिंदी-प्रदीप' मासिक पत्र निकालना प्रारंभ किया। पंडित बालकृष्ण भट्ट इस पत्र के संपादक बनाए गए। इन्हीं दिनों प्रेस ऐक्ट पास हुआ और लोगों ने 'प्रदीप' से नाता तोड़ दिया, पर वे बराबर कई वर्ष तक उसे चलाते रहे। पीछे

आप कायस्थ-पाठशाला में संस्कृत के अध्यापक हो गए। आपके लेखों का संग्रह 'साहित्य-सुमन' के नाम से प्रकाशित हुआ है। रेल का विकट खेल, बाल-विवाह नाटक, सौ अजान एक सुजान, नूतन ब्रह्मचारी आदि कई अच्छे ग्रंथ इन्होंने लिखे हैं।

(९) पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी का जन्म दौलत रायबरेली में संवत् १९२१ में हुआ था। 'सरस्वती' के भूतपूर्व संपादक होने के नाते उन्हें प्रायः सभी हिंदी-भाषा-भाषी जानते हैं। 'सरस्वती' में आने से पहले आप जी० आई० पी० रेलवे में हैड क्लर्क थे और काफी वेतन पाते थे। हिंदी-भाषा की सेवा के लिये ही आपने इस पद को छोड़ दिया। सं० १९६० से १९७९ तक आप 'सरस्वती' के संपादक रहे। इन बीस वर्षों में 'सरस्वती' की उत्तरोत्तर उन्नति हुई। यद्यपि द्विवेदीजी की रचनाओं मे अनुवाद की ही अधिकता है, फिर भी निस्संदेह वे हिंदी के बड़े उन्नायक थे। आपने अपने युग की भाषा के शुद्ध करने का प्रबल प्रयत्न किया था। आपने एक प्रकार से जाति-भर के व्याकरण-शिक्षक का काम किया है। आप एक अच्छे कवि भी थे। आपने संस्कृत-काव्यों की अच्छी समालोचनाएं की हैं। नैपधचरित-चर्चा, विक्रमांकदेव-चरित-चर्चा और कालिदास की निरंकुशता ऐसे ही ग्रंथ हैं। आपके ग्रंथों मे शिक्षा, बेकन-विचार-रत्नावली,

स्वतंत्रता, महाभारत आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। सन् १९३८ में आपका स्वर्गवास हो गया।

(१०) **पंडित माखनलाल चतुर्वेदी** का जन्म वावई ज़िला होशंगाबाद में संवत् १९४५ में हुआ। इनका निवास-स्थान खंडवा (मध्य प्रदेश) है। सन् १९२१ से ये बराबर राजनीतिक आंदोलन में ही लगे हैं. और कई वार जेल हो आए हैं। मध्य प्रदेश में इनका बहुत मान है। ये बड़े निर्भीक और स्पष्टवादी हैं। इनका उपनाम 'एक भारतीय आत्मा' है। इनकी कविता बहुत ही ओजस्विनी होती है। ये बहुत दिनों तक जबलपुर से निकलनेवाले 'कर्मवीर' के संपादक रह चुके हैं। इनका लिखा 'कृष्णार्जुन युद्ध' नाटक अधिक प्रसिद्ध है।

(११) **पंडित माधवप्रसाद मिश्र** झज्झर ज़िला रोहतक के निवासी थे। प्रायः ३५ वर्ष हुए कि ४० वर्ष की अवस्था में आप स्वर्गवासी हुए। आप 'सुदर्शन' मासिक पत्र के संपादक और गद्य-हिंदी के बड़े ही प्रबल लेखक थे। आपने कुछ छंद भी कहे हैं। आप संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे, और प्रायः दर्शन साहित्य और समाज आदि गंभीर विषयों पर ही लेख लिखते थे। आपका रहना विशेषतः काशी में होता था। आपकी अकाल मृत्यु से हिंदी की बड़ी हानि हुई।

(१२) **मिश्रबंधु** के नाम से पंडित गणेशविहारी मिश्र, पंडित श्यामविहारी मिश्र और पंडित शुकदेवविहारी मिश्र हिंदी-

संसार में विख्यात हैं। मिश्रबंधु सहोदर भाई हैं। इन लोगों ने साहित्य का जो कुछ निर्माण किया है सबने मिल कर।

मिश्रबंधु के कहने से यद्यपि तीन ही भाई का बोध होता है पर ये थे चार भाई। बड़े भाई पं० शिवविहारी-लाल का जन्म सं० १९१७ मे हुआ था। वे वकालत करते थे, कवि भी थे, पर उनका देहांत बहुत पहले हो चुका था। मिश्रबंधु के नाम से तीन ही भाई अमर हैं।

मिश्रबंधु के पिता पंडित बालदत्त मिश्र, प्रसिद्ध महाजन, ज़मींदार और कवि थे। उन्होंने बाल्यावस्था में हिंदी और संस्कृत पढ़ी और व्यापार-पटुता से बहुत धन और ज़मींदारी प्राप्त की।

पंडित गणेशविहारी मिश्र का जन्म माघ कृष्णा ४ सं० १९२२ में हुआ। बाल्यावस्था में इनको हिंदी, संस्कृत और फारसी की शिक्षा मिली। सं० १९४६ में अपने पूज्य पिताजी की अस्वस्थता के कारण इन्होंने गृहस्थी का भार अपने ऊपर ले लिया। कविता का शौक इन्हें बाल्यावस्था से ही था। अब इनका स्वर्गवास हो गया है।

रायबहादुर डाक्टर श्यामविहारी मिश्र का जन्म भाद्र कृष्णा ४ सं० १९३० में इटौंजे में हुआ। प्रारंभ में इन्हें उर्दू और हिंदी की शिक्षा मिली। सन् १८९१ में एंट्रेंस और सन् १८९५ मे इन्होंने बी० ए० की परीक्षा पास की। इस परीक्षा में इनका नंबर अवध में पहला आया और अंग्रेज़ी में आनर्स

प्राप्त हुए। इसके लिये इन्हें दो स्वर्णपदक मिले और इनका नाम कालेज के हाल में स्वर्णाक्षरों में लिखा गया। १८९६ में इन्होंने एम० ए० परीक्षा पास की। १८९७ में ये डिप्टी कलक्टर हुए और १९०६ में डिप्टी सुपरिंटेंडेंट आफ पुलीस। इसके बाद छत्रपुर में दीवान होकर चले गए। छत्रपुर में इनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। दो बार ये अस्थायी कलक्टर भी रहे। इसके बाद आबकारी के पर्सनल असिस्टेंट कमिश्नर हुए, फिर गोंडा में डिप्टी कमिश्नर। ये १५-१६ वर्ष की अवस्था से ही हिंदी-कविता लिखने लग गए थे। जब 'सरस्वती' पत्रिका निकली तो गद्य में भी लेख लिखने लगे। इनका पहला गद्य-लेख हमीर-हठ की समालोचना विषयक था, जो सरस्वती के प्रथम भाग में छपा है।

रायबहादुर पंडित शुकदेवबिहारी मिश्र का जन्म सं० १९३५ में इटौंजे में हुआ। बाल्यावस्था मे इन्होंने भी उर्दू की शिक्षा पाई। सं० १९५७ में इन्होंने बी० ए० पास किया। सं० १९५८ में वकालत पास किया। सं० १९६४ में ये मुंसिफ होकर बिलग्राम गये। फिर कुछ दिनों तक सीतापुर में मुंसिफ रहे। सं० १९७१ में छत्रपुर राज के दीवान हुए। सन् १९१९ में ये सबजज हुए। इनका कुटुंब धन, जन, रूप, विद्या, यश आदि से सुसंपन्न है। मिश्रबंधु-विनोद, लवकुश-चरित, विक्टोरिया अष्टादशी, व्यय, भूषण-ग्रंथावली,

जापान का इतिहास, हिंदी-नवरत्न, वीरमणि, नेत्रोन्मीलन नाटक, भारत-विनय, आत्म-शिक्षण, पुष्पांजलि, पूर्व-भारत नाटक, भारतवर्ष का इतिहास, बूंदी-बारीश आदि इनकी कुछ मुख्य पुस्तकें हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने कुछ पुस्तकें अंग्रेज़ी में भी लिखी हैं।

(१३) बाबू यशोदानंदन अखौरी आरा के रहनेवाले थे। सन् १९३८ में लगभग ५४ वर्ष की अवस्था में आपका स्वर्गवास हो गया। इन्होंने अपना जीवन 'भारत-मित्र' 'शिक्षा' 'विद्या-विनोद' आदि पत्र-पत्रिकाओं के संपादन में बिताया और अंत तक साहित्य-सेवा करते रहे। इन्होंने सामयिक साहित्य के निर्माण में अपना योगदान अधिक दिया। अखबारों से संबंध रखने के कारण इन्हें स्थायी साहित्य के भंडार को भरने का अवसर कम मिला। इनकी भाषा सरल, मुहावरेदार और चुभती हुई है। वर्णनात्मक विषयों पर इन्होंने अच्छे-अच्छे निबंध लिखे हैं।

(१४) महाराजकुमार डाक्टर रघुवीरसिंह का जन्म २३ फरवरी सन् १९०८ ई० को मालवा प्रांत के सीतामऊ राज्य में हुआ। आपके पिता वर्त्तमान सीतामऊ नरेश, एक विद्वान् एवं साहित्य-प्रेमी राजा हैं। राजा साहब ने आपको बचपन से ही सार्वजनिक स्कूलों तथा कालिजों में शिक्षा दिलायी, जिससे आपके विचार बहुत उन्नत और उदार हो गए हैं। सन्

१९२८ में बी० ए०, सन् १९३० में एल-एल० बी०, और सन् १९३३ में आपने एम० ए० पास किया। सन् १९३६ में बिना मौखिक परीक्षा के ही Malwa in Transition नामक पुस्तक पर आपको आगरा विश्वविद्यालय से डी० लिट्० की उपाधि मिली। इस पुस्तक का परिवर्द्धित और संशोधित हिंदी-संस्करण 'मालवा में युगांतर' नाम से प्रकाशित हुआ है। इतिहास के प्रति आपकी प्रारंभ से ही अभिरुचि रही है। इसके पहले आपका 'पूर्व मध्यकालीन भारत' नामक एक इतिहास-ग्रंथ सन् १९३२ में प्रकाशित हो चुका था, जो काशी विश्वविद्यालय के बी० ए० के पाठ्य-ग्रंथों में था। Malwa in Transition भी कई विश्वविद्यालयों द्वारा पाठ्य-ग्रंथ स्वीकृत हुआ है।

ऐतिहासिक अध्ययन के लिये आपने बहुत से मुद्रित और हस्तलिखित ग्रंथों को एकत्र किया है, जिससे आपका पुस्तकालय इतिहासकारों के लिये बहुत ही उपयोगी है।

यद्यपि आपकी रुचि इतिहास की ओर विशेष रूप से रही है, पर साहित्य से भी आप उदासीन नहीं रहे हैं। आप समय-समय पर निबंध, गद्य-काव्य, कहानी, आलोचना आदि बराबर लिखते रहे हैं। 'सप्त-द्वीप' और 'शेष स्मृतियाँ' आपकी इसी तरह की रचनाएँ हैं। आपकी भाषा भाव-प्रधान एवं शैली धारावाहिक होती है।

कुछ ही समय हुए कि आपने Indian States and

the New Regime शीर्षक एक बृहत् ग्रंथ भावी संघ-शासन तथा देशी राज्यों के प्रश्न को लेकर लिखा है। जिसकी अनेक विद्वानों ने प्रशंसा की है। आपका स्वभाव सरल तथा जीवन बहुत ही सीधा-सादा है। आपका विद्याव्यसन प्रशंसनीय है।

(१५) बाबू राधाकृष्णदास भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र के फुफेरे भाई थे। इनका जन्म सं० १९२२ के श्रावण की पूर्णिमा को काशी में हुआ था। जब ये १० महीने के थे तभी इनके पिता का देहांत हो गया। कुछ ही दिनों में इनके बड़े भाई भी चल बसे। तब बाबू हरिश्चंद्र के यहाँ ही इनका लालन-पालन और शिक्षण होने लगा। ये सदैव रोगी रहा करते थे, इससे इनकी शिक्षा नियमपूर्वक न हो सकी। इन्हें हिंदी, उर्दू, फारसी, बँगला, गुजराती का अच्छा ज्ञान था। अंग्रेज़ी भी इंट्रेंस तक पढ़ी थी। बाबू हरिश्चंद्र के प्रभाव से इन्होंने लेखन-कला का अच्छा अभ्यास कर लिया था। इनकी पहली रचना 'दुःखिनी-बाला' है। फिर इन्होंने 'निस्सहाय हिंदू', 'महारानी पद्मावती', 'प्रताप नाटक' आदि कोई २५ पुस्तकें लिखीं। एक मित्र के साझे में ठेकेदारी का का.. करके ये अपनी आजीविका चलाते थे। सं० १९६४ में इनका स्वर्गवास हुआ।

(१६) बाबू रामचंद्र वर्मा का जन्म वि० सं० १९४६ में काशी के एक उच्च खत्री कुल में हुआ। बाल्यावस्था में आपके पिताजी का स्वर्गवास होने से आपकी स्कूली शिक्षा

अधिक न हो सकी, पर बाल्यकाल से ही आप में हिंदी-अनुराग के अंकुर उत्पन्न हो गए थे, जिससे १४-१५ वर्ष की अवस्था में ही आपकी लेखन-प्रवृत्ति आरंभ हुई। आप 'हिंदी केसरी' (नागपुर), 'बिहार-बंधु' (बांकीपुर), 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' (मासिक) तथा नागरी-प्रचारिणी लेखमाला के संपादक रहे हैं। काशी की नागरी-प्रचारिणी-सभा के कोश-विभाग में नियुक्त होकर आपने बरसों तक मनोयोगपूर्वक 'हिंदी-शब्द-सागर' का संपादन-संबंधी कार्य किया है। अंग्रेज़ी, उर्दू, फारसी, गुजराती, मराठी, बँगला आदि भाषाओं के अच्छे ज्ञाता होने के कारण आपने प्रत्येक भाषा के कई ग्रंथों का उत्तम अनुवाद किया है। आपकी स्वरचित पुस्तकों में 'सफलता और उसकी साधना के उपाय', 'मानव-जीवन', 'भूकंप' और 'उपवास-चिकित्सा' आदि मुख्य हैं, और अनुवादित ग्रंथों में 'हिंदू-राजतंत्र', 'दास-बोध', 'करुणा', 'अकबरी दरबार', 'छत्रसाल' और श्री द्विजेंद्रलाल राय के अनेक नाटक हैं। आपकी लिखी हुई, अनुवादित और संकलित पुस्तकों की संख्या १०० के लगभग है।

(१७) **पंडित रामचंद्र शुक्ल** का जन्म वि० सं० १९४१ में युक्त प्रांत के बस्ती जिले के अगोना गाँव में हुआ था। आपने बाल्यकाल में संस्कृत की शिक्षा पाई और कालेज में इंटरमीडियेट तक अध्ययन किया। सन् १९०६ में आप

'हिंदी-शब्द-सागर' के सहकारी संपादक नियुक्त हुए और लगभग नौ वर्षों तक 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' का संपादन करते रहे। इधर कई वर्षों से आप काशी के हिंदू-विश्व-विद्यालय के हिंदी-विभाग के प्रधान थे। आप उत्कृष्ट कवि और गंभीर गद्य-लेखक थे। आपकी अधिकतर रचनाएँ गद्य में ही हैं। आप प्रकृति से ही गंभीर थे, अतः आपने मनोविकारों अथवा साहित्यिक विषयों पर अनेक उत्कृष्ट लेख लिखे हैं। आपकी भाषा बहुत शुद्ध प्रौढ़ गठी हुई और विषय की दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त रही है, किंतु निबंधों की शैली गंभीर एवं पांडित्यपूर्ण होने से सर्वसाधारण के लिये क्लिष्ट है। सूरदास, तुलसीदास, और जायसी पर लिखे गए आलोचनात्मक निबंध आपकी अध्ययनशीलता, बहुश्रुतता एवं प्रकांड पांडित्य के परिचायक हैं। हिंदी-साहित्य का इतिहास, बुद्ध-चरित, आदर्शजीवन, हिंदी-काव्य में रहस्यवाद, विचार-वीथि आपके माननीय ग्रंथ हैं।

(१८) बाबू रामदास गौड़ का जन्म संवत् १९३८ के मार्गशीर्ष अमावस्या को जौनपुर शहर में हुआ था। वहाँ इनके पिता मुंशी ललिताप्रसाद चर्च-मिशन हाईस्कूल के सेकेंड मास्टर थे। इनकी प्रारंभिक शिक्षा उर्दू और फारसी की हुई, पर इनकी माता और नानी नित्य नियमपूर्वक रामचरितमानस का पाठ किया करती थीं, जिससे चार ही पाँच वर्ष की अवस्था में इनको रामचरितमानस से प्रेम हो गया। दस वर्ष

की अवस्था में इन्होंने एक 'संक्षिप्त रामायण' लिखी, जिसमें ५-६ सौ छंद हैं, पर बाल-रचना होने से यह पुस्तक प्रकाशित करने योग्य नहीं है। इसके बाद इन्होंने 'स्वप्नादर्श' की रचना की, जो अप्रकाशित है। इन्होंने सं० १९५६ में इंट्रेंस, १९५८ में एफ० ए०, १९६० में बी० ए० की परीक्षाएँ पास कीं। फिर सेंट्रल हिंदू कालेज काशी में रसायन के सहकारी अध्यापक नियुक्त हुए। पर पीछे प्रयाग लॉ पढ़ने चले गए। बड़े भाई के मरने से इनकी पढ़ाई छूट गई और संवत् १९६१ में कायस्थ-पाठशाला में रसायन के प्रोफेसर हो गए। सं० १९६३ में म्योर सेंट्रलकालेज में रसायन के डिमोंस्ट्रेटर नियुक्त हुए। सं० १९६५ में आपने एम० ए० पास किया, और १९७५ में हिंदू-विश्व-विद्यालय के प्राच्य-विभाग में रसायन के प्रोफेसर तथा सेनेट और फैकल्टीज़ आफ आर्ट्स, सायंस और ओरियंटल लर्निंग के सदस्य रहे। सं० १९७७ में असहयोग आंदोलन में सम्मिलित हुए। कुछ दिनों तक विद्यापीठ में अध्यापन का कार्य किया और राजनीतिक आंदोलन में रहने से आपको जेल-यातना भी भोगनी पड़ी। आपने 'गौड़ हितकारी' (उर्दू-पत्र) और 'विज्ञान' का बहुत दिनों तक संपादन किया। आप हिंदी-भाषा के मर्मज्ञ तथा गद्य और पद्य दोनों के अच्छे लेखकों में से थे। उर्दू, अंग्रेज़ी, फारसी और संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। बँगला, गुजराती,

मराठी और प्राकृत की जानकारी रखते थे। व्याख्यान देने में बड़े पटु थे। दर्शन, इतिहास, साहित्य सभी में अच्छी जानकारी रखते थे। ये सच्चे परोपकारी, निःस्वार्थ देशभक्त और स्वतंत्रता-प्रेमी थे। वैज्ञानिक अद्वैतवाद, रामचरितमानस की भूमिका आपके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। कुछ ही वर्ष हुए कि आपका स्वर्गवास हो गया।

(१६) श्री वियोगी हरि का वास्तविक नाम हरिप्रसाद द्विवेदी है, पर साहित्यिक संसार में आप अपने उपनाम से ही विख्यात हैं। वि० सं० १६५३ में छतरपुर (बुंदेलखंड) के एक कान्यकुब्ज कुल में आपका जन्म हुआ। आपकी शिक्षा मैट्रिक्युलेशन तक हुई है और संस्कृत का भी आपने अध्ययन किया है। सात मास की आयु में ही आपके पिताजी का देहांत होने से मामा के यहाँ आपका लालन-पालन हुआ। आप बड़े भावुक भक्त और गद्य-पद्य के उत्कृष्ट लेखक हैं, और गद्य-काव्य की रचना में बहुत सफल हुए हैं। व्रज-भाषा-मर्मज्ञ होने से आपकी पद्य-रचना व्रज-भाषा में ही होती है। आपने अनेक ग्रंथों की रचना, संपादन और निर्माण किया है, जिनमें से वीर-सतसई, साहित्य-विहार, अंतर्नाद, विश्व-धर्म, प्रेम-योग, प्रबुद्ध यामुन आदि मुख्य रचनाएँ हैं। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन ने 'वीर-सतसई' पर आपको १२००) रु० का मंगलाप्रसाद पारितोषिक प्रदान किया है। आपने

बहुत दिनों तक 'हरिजन' का संपादन किया है।

(२०) रायबहादुर डाक्टर श्यामसुंदरदास बी० ए० का जन्म ई० सन् १८७५ में काशी के एक प्रतिष्ठित खत्री कुल में हुआ। सन् १८९७ में बी० ए० पास करने के पश्चात् आप काशी के सेंट्रल हिंदू-कालेज में अध्यापन, शिमला के इरिगेशन-विभाग तथा काश्मीर नरेश के प्राइवेट दफ़्तर में कार्य और लखनऊ के कालीचरण हाईस्कूल की हेडमास्टरी करते रहे। फिर आप हिंदू-विश्व-विद्यालय में हिंदी-विभाग के अध्यक्ष पद पर नियुक्त हुए। सन् १८९३ में आपने अपने कुछ साहित्य-प्रेमी मित्रों के साथ हिंदी की सब से प्रतिष्ठित साहित्यिक संस्था—'काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा'—की स्थापना की। तब से बराबर आप उसकी प्राणपण से सेवा करते रहे हैं। आप हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के भी जन्मदाता और 'सरस्वती' मासिक पत्रिका के आदि संपादक हैं। विश्व-विद्यालयों में आज हिंदी को जो प्रतिष्ठा प्राप्त है उसका श्रेय आपको ही है। आपके द्वारा पृथ्वीराजरासो, हिंदी-शब्द-सागर तथा वैज्ञानिक कोश का संपादन और प्राचीन हस्त-लिखित हिंदी पुस्तकों की खोज आदि कई महत्वपूर्ण साहित्यिक कार्य संपन्न हुये हैं। आप कई वर्षों तक 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' के अवैतानिक संपादक रहे। आपने एक दर्जन से अधिक पुस्तकें लिखकर हिंदी में गंभीर विषयों के साहित्य की सृष्टि की

है। साहित्यालोचन, भाषा-विज्ञान, भाषा-रहस्य, हिंदी भाषा और साहित्य, गद्यकुसुमावली, सतसई-सप्तक, भारतेंदु नाटकावली, रूपक-रहस्य आदि आपकी मुख्य रचनाएँ हैं। आपकी संपादित और संकलित पुस्तकों की संख्या बहुत बड़ी है। आपने राष्ट्र-भाषा की चिरस्मरणीय सेवा की है।

(२१) बाबू श्रीगोपाल नेवटिया जयपुर राज्य के शेखावाटी प्रांत के फतहपुर नगर के निवासी हैं। वि० सं० १९६३ में आपका जन्म एक अग्रवाल वैश्य कुल में हुआ। आपने हिंदी, संस्कृत, बँगला, मराठी और गुजराती भाषाओं की जानकारी ही नहीं, बल्कि उच्चकोटि के साहित्य का भी अध्ययन किया है। आप हिंदी के उदीयमान एवं प्रतिभाशाली लेखक हैं। 'त्याग-भूमि' आदि पत्रिकाओं में आपके भाव-प्रधान लेख और कविताएँ छपी हैं। नेवटियाजी ने कवि-हृदय पाया है। आपकी भाषा प्रौढ़, कवित्वपूर्ण, मधुर और भावापन्न होती है। आप साधारण बात का भी ऐसा सरल वर्णन करते हैं मानो कोई गद्य-काव्य हो। भू-स्वर्ग काश्मीर पर हिंदी में आपने सर्वप्रथम सर्वांग-सुंदर ग्रंथ लिखा। आपकी अन्य रचनाओं में यूरोप की कहानियाँ, यूथिका और मुस्लिम संतों के चरित विशेष उल्लेखनीय हैं।

(२२) रायबहादुर पंडित श्रीनारायण चतुर्वेदी का जन्म संवत् १९५० के आश्विन कृष्णा ३ को इटावे में हुआ। प्रयाग में

प्रारंभिक शिक्षा प्राप्तकर १९२१ ई० में प्रयाग-विश्वविद्यालय से एम० ए०, एल० टी० और १९३१ ई० में लंदन-विश्वविद्यालय से एम० ए०, टी० डिप० की उपाधियाँ प्राप्त कीं। सन् १९२२ ई० से कान्यकुब्ज कालेज लखनऊ के प्रिंसिपल रहे और सन् १९२८ में सरकारी नौकरी शुरू की। कुछ दिन असिस्टेंट इंसपेक्टर ऑफ स्कूल्स रहकर १९२९—३१ तक असिस्टेंट डाइरेक्टर के पद को सुशोभित किया। सन् १९३४—३८ तक फैजाबाद सर्किल के इंसपेक्टर ऑफ स्कूल्स रहे। इसी बीच सन् १९३६ की सरकारी प्रदर्शिनी के Education Court का प्रबंध आपने बड़ी योग्यता से किया। सरकार ने आपकी बड़ी प्रशंसा की और सन् १९३८ में आपको शिक्षा-प्रसार अफसर नियुक्त किया और रायसाहब की उपाधि दी। पीछे से आपको रायबहादुर की उपाधि मिली।

आप हिंदी के प्रसिद्ध साहित्य-सेवी पं० द्वारकाप्रसाद चतुर्वेदी के पुत्र हैं। आप बहुश्रुत और बहुज्ञ हैं। आपको हिंदी-साहित्य से बड़ा प्रेम है। आपने हिंदी में कई प्रसिद्ध अंग्रेजी ग्रंथों का अनुवाद किया है, जिनमें से उल्लेखनीय एच० जी० वेल्स का 'संसार का संक्षिप्त इतिहास' है और मेकियावली का 'दि प्रिंस'। पंचम जार्ज के निधन पर आपने उनकी बड़ी सुंदर जीवनी हिंदी में लिखी है।

आप लेखक के साथ-साथ बड़े ही सरस कवि हैं। आपने

अनेकों कविताएँ लिखी हैं, जिनमें से कुछ 'रत्नदीप' में संगृहीत हैं। आपकी रचनाएँ सुंदर और भावपूर्ण होती हैं। आप प्रांतीय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के मंत्री रहे हैं। इस समय आप 'हिंदी-विश्व-भारती' का संपादन कर रहे हैं, जो संग्रहणीय ग्रंथ है। आपकी भाषा सरल और गठी हुई होती है।

(२३) बाबू सत्यजीवन वर्मा 'श्री भारतीय' का जन्म सं० १९५५ के माघ मास में अपने ननिहाल बस्ती में हुआ। आपकी प्रारंभिक शिक्षा उर्दू में हुई। सन् १९१६ में आपने लखनऊ से मैट्रिक और सन् १९१८ में काशी के क्वींस कालेज से इंटरमीडियेट पास किया। असहयोग आंदोलन में भाग लेने के कारण दो साल शिक्षा स्थगित रही। सन् १९२२ मे बी० ए० और सन् १९२४ में हिंदी लेकर काशी विश्वविद्यालय से एम० ए० पास किया। १९२४-२६ तक रिसर्चस्कालर रहे और 'नागरी-प्रचारिणी-सभा' के कोष-विभाग मे भी काम करते रहे। सन् १९२६ की जुलाई में आप कायस्थ-पाठ-शाला युनिवर्सिटी कालेज में अध्यापक नियुक्त हुए। १॥ वर्ष काम करने के पश्चात् हिंदुस्तानी एकेडेमी मे काम करने लगे। आज कल वहीं पर आप सुपरिंटेंडेंट के पद पर हैं। आपके पिता बाबू जगन्मोहन वर्मा हिंदी के अच्छे विद्वान् थे। उनके संसर्ग तथा अपने पूज्य गुरु के प्रोत्साहन से हिंदी लिखने की ओर आपकी अभिरुचि उत्पन्न हुई। आपके लेख प्रायः सभी प्रतिष्ठित पत्र-पत्रिकाओं में छपते रहते हैं। सन् १९३५ में लेखकों की दशा सुधारने और पत्रकार-कला तथा लेखन-कला की शिक्षा के लिए आपने 'लेखक' नाम का मासिक पत्र निकाला, जो

ढाई वर्ष चलने के पश्चात् आर्थिक कठिनाइयों के कारण बंद हो गया। बीसलदेवरासो, स्वप्नवासवदत्ता, आख्यानत्रयी, मिस ३५ का पति निर्वाचन, भुनभुन, प्रेम की पराकाष्ठा, प्रायश्चित्त आदि आपकी संपादित तथा लिखित मुख्य पुस्तकें हैं।

(२४) भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र का जन्म वि० सं० १९०७ में काशी में सेठ अमीचंद के इतिहास-प्रसिद्ध घराने में हुआ था। आधुनिक हिंदी-गद्य के जन्मदाता और हिंदी-नाटकों के सूत्रधार के रूप में आपका हिंदी-साहित्य के इतिहास में अत्यंत आदरणीय स्थान है। बहुत छोटी आयु में ही आपकी प्रतिभा का उन्मेष हुआ था, और १६ वर्ष के होने पर आपने प्रौढ़ रचना आरंभ की थी। ३४ वर्ष की आयु में ही आपका स्वर्गवास हो जाने पर भी आपने अपने अल्प जीवन काल में नाटक, काव्य और इतिहास-संबंधी कुल मिलाकर १७५ पुस्तकें लिखीं, जिनमें आपके नाटकों की विशेष प्रसिद्धि हुई। आपमें उत्कट देशप्रेम और समाज-हितैषिता के भाव थे। आपकी भाषा ललित, ओजस्विनी और चुभती हुई है। आपने अनेक सभाओं और क्लबों की स्थापना की। हिंदी के मौलिक साहित्यकार तथा भाषा की नई धारा के प्रवर्त्तक के रूप में आपका नाम सदा अमर रहेगा। ई० सन् १८८० में समाचार-पत्रों ने आपको 'भारतेंदु' की उपाधि से विभूषित किया था। २५ जनवरी सन् १९३५ ई० को सारे भारतवर्ष में आपकी निधन-अर्द्धशताब्दि मनाई गई। आपके द्वारा स्थापित अनेक संस्थाओं में से हरिश्चंद्र-कालेज अब तक आपकी कीर्ति को बढ़ा रहा है।